श्रीः

हिन्दू विश्वविद्यालय श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड ग्रन्थमाला

वैदिक विश्वदर्शन

लेखक
पण्डित हरिशंकर जोशी, एम्० ए०

१९६६]

[मूल्य ८)

Rs 14.00

[illegible]

श्रीः

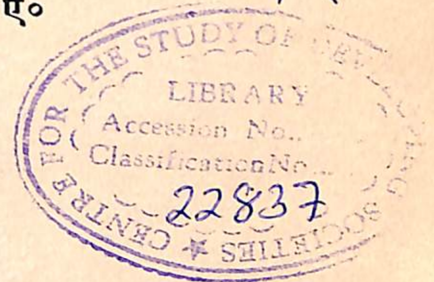
हिन्दू विश्वविद्यालय नेपाल राज्य संस्कृत ग्रन्थमाला
Hindu Vishvavidyalaya Nepal Rajya Sanskrit Series

Vol. XII

पुष्प १२

वैदिक विश्वदर्शन

लेखक
पंडित हरिशंकर जोशी, एम्० ए०



प्रधान संपादक
श्री वासुदेव शरण अग्रवाल

वैक्रमाब्द २०२२] [प्रथम संस्करण

नेपाल राज्य संस्कृत प्रकाशन मण्डल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

मूल्य ६)

मुद्रक—
लक्ष्मी दास
वनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस,
वाराणसी–५

प्राक्कथन

वैदिक विश्व-दर्शन एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके लेखक पं० हरिशंकर जोशी, एम्० ए० हैं। इन्होंने बहुत वर्षों तक वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है। उसके फलस्वरूप उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें अनेक वैदिक परिभाषाओं की स्पष्ट व्याख्या की गई है। इनके नाम पाठक विषय सूची में देख सकते हैं। वेद-विद्या सृष्टि-विद्या का ही विवेचन है। वेदार्थ के जिज्ञासु पाठकों को यहाँ अनेक वैदिक परिभाषाओं और प्रतीकों के स्पष्ट विवरण प्राप्त होंगे।

श्री जोशी जी वेद और ब्राह्मण दोनों की सामग्री को साथ लेकर चलते हैं। वेदों के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय पद्धति भी यही थी और इसी का पुनः उद्धार होना चाहिए।

हमें इस बात की प्रसन्नता है कि काशी विश्वविद्यालय से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। भाग १ में लगभग आधा ग्रन्थ समाप्त हुआ है। इसका शेषांश भाग २ के रूप में प्रकाशित होगा। हम श्री एन० एच० भगवती, कुलपति और श्री ज्योतिभूषण जी गुप्त, कोषाध्यक्ष के अनुगृहीत हैं कि उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय की विशेषनिधि 'सरदार कुवर बाइ फण्ड' के अन्तर्गत इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति और स्वीकृति प्रदान की। यह निधि विशेष संस्कृत ग्रन्थों के लिए विश्व-विद्यालय को मिली थी। उसका इस प्रकार सदुपयोग कल्याणकारी है। आशा है, इससे ग्रन्थ लेखक पं० हरिशंकर जोशी को जो इस समय काशी में ही निवास कर रहे हैं और अन्य सब वैदिक विद्वानों को भी प्रसन्नता होगी। काशी विश्वविद्यालय मुद्रण संस्थान के प्रबन्धक श्री लक्ष्मीदास जी, जिन्होंने इस ग्रन्थ का धैर्यपूर्वक मुद्रण किया है, धन्यवाद के पात्र हैं।

वासुदेवशरण

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सं० २०२२
२–४–१९६५

सूची-पत्र

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९

अध्याय १०

अध्याय ११

अध्याय १२

अध्याय २२

अध्याय २३

अध्याय २४

अध्याय २५

वैदिक विश्व-दर्शन

अध्याय १

सच्ची-वेद-व्याख्या

१—साक्षात्कृत धर्मा ऋषि

निरुक्त में ऋषियों को 'साक्षात्कृत धर्मा' कहा गया है। इसका आशय यह है कि ऋषियों ने अपने मेधा बल से सृष्टिविद्या के मौलिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया था। उन तत्त्वों को उन्होंने मन्त्रों में ग्रथित किया है। वैदिक युग में देवता, छन्द, ऋषि, स्तोत्र आदि तत्त्वों के रूप में अमृत और मर्त्य, अभौतिक और भौतिक सृष्टियों का विचित्र वर्णन पाया जाता है। अनेक रहस्यात्मक विद्याओं के रूप में ऋषियों ने सृष्टि के तत्त्वों को समझ कर उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए 'देवरथ विद्या' ऋग्वेद की एक महत्त्व पूर्ण विद्या है। जिस प्रकार कोई रथ अपने चक्रों से गतिशील होता है, उसी प्रकार यह विश्वरूपी रथ कालचक्र के द्वारा गतिमान् है। कहीं इस रथ को एकचक्र, कहीं सप्तचक्र आदि कहा गया है। कभी एक अश्व और कभी सप्त अश्वों का इसके वाहन रूप में वर्णन है। विश्वरूपी यह देवरथ, देश और काल में अनादि और अनन्त है। इसके रथी, सारथी, नाभि, चक्र, वाहन आदि का पल्लवित वर्णन कितने ही मन्त्रों का विषय है। उन परिभाषाओं को संगत रूप में समझना आवश्यक है। इसी प्रकार देवता, छन्द और ऋषियों के विषय में विस्तृत सामग्री मंत्रों में और ब्राह्मण आदि व्याख्या ग्रन्थों में पाई जाती है। वैदिक संस्कृति के मनीषी उत्तराधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे इस सामग्री की बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत करें और शृङ्ग ग्राहिकया आमने-सामने जूझ कर मन्त्रों के अर्थों का स्पष्टीकरण करें।

२—वैदिक ऋषियों का मुख्य लक्ष्य

ऋग्वेद के ऋषियों ने निरर्गल या निरुद्दिष्ट कुछ कहने के लिए मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया, उनका लक्ष्य सुनिश्चित था, ब्रह्मवाद उनका मूलसिद्धान्त था। ब्रह्म नामक मूल तत्त्व से किस प्रकार सृष्टि का विकास होता है और उस विकास क्रम में कौन-कौन से तत्त्व आवश्यक होते हैं, इन सब का सुनिश्चित और स्पष्ट विचार, चित्र और चक्र ऋषियों के मन में था। उसे ही उन्होंने मन्त्रों की भाषा में ढाला है। इन विचारों की साङ्गोपाङ्गमीमांसा ही वैदिक विश्वदर्शन का लक्ष्य है।

हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी दृष्टिकोण को मुख्यतः अपनाया है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि वैदिक परिभाषाओं के उद्घाटन के लिए जो प्राचीन सामग्री स्वयं मन्त्रों में, ब्राह्मणों और उपनिषदों में, एवं बहुत अंश तक पुराणों के आख्यानों में भी उपलब्ध है, उसका बुद्धि-परायण उपयोग किये बिना कोई भी वेदार्थ में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कोई प्राचीन या अर्वाचीन टीकाकार कितना भी बड़ा विद्वान् हो, यहाँ उसके व्यक्तिगत पाण्डित्य या अहं का प्रश्न नहीं उठता। यहाँ तो मुख्य उद्देश्य नम्र भाव से उस अर्थ की सम्प्राप्ति है, जो मन्त्रों में ऋषियों को अभीष्ट था और जो सचमुच वैदिक-विश्वदर्शन पर प्रकाश डालता है या सृष्टितत्त्व के किसी रहस्य का उद्घाटन करता है, न कि टीकाकारों के मस्तिष्क से उलझना। इस ग्रन्थ में जिस पद्धति से वैदिक परिभाषाओं पर प्रकाश डाला गया है, हमारी दृष्टि में वह प्राचीन वैदिक सामग्री के सर्वथा अनुकूल है और उसके बिना वैदिक ऋचाओं का अर्थ या भाव ठीक-ठीक लगाना सम्भव नहीं।

३—ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य

वर्तमान युग में अनेक भारतीय और पश्चिमी विद्वानों ने भी वेदों के सम्बन्ध में पर्य्याप्त परिश्रम किया है। किन्तु वेदार्थ के मार्ग में वे दूर तक हमारी सहायता नहीं करते। अतएव सत्य तक पहुँचने के लिए मन्त्रार्थों का स्वयं अनुशीलन आवश्यक है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि ब्राह्मण ग्रन्थों की मूल्यवान् साक्षी एक ऐसी निर्भ्रान्त कसौटी है जो सदा हमारे साथ रहनी चाहिए और जिस पर पदे-पदे हमें अपने अर्थों की परख करना आवश्यक है। यज्ञीय कर्मकाण्ड और मीमांसाशास्त्र दोनों की वेदार्थ में उपयोगिता है, इसका हम निराकरण नहीं करते; किन्तु केवल मात्र उन्हीं के आधार पर या उन्हीं के आश्रय से वेदार्थ की समस्या का समाधान अशक्य और असम्भव है। उदाहरण के लिए वेदों में अनेक छन्दों और पशुओं का वर्णन आता है। इसके लिए छन्दों की विद्या और वैदिक पशुविद्या, इन दोनों के रहस्यों का अच्छी प्रकार मनन करना होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो लिखा है कि 'छन्द भी पशु' हैं जिसका यज्ञ में आलभन किया जाता है, उसे समझने के लिए सृष्टि क्रम में छन्दों और पशुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को भली प्रकार जानना आवश्यक है। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों को एक ओर छोड़कर हम बच निकलना चाहें तो मन्त्रार्थ को समझने में उतनी ही बाधा होगी। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये ब्राह्मण ग्रन्थ मंत्रभाग की उस पृष्ठभूमि के पूर्ण वातावरण का स्पष्ट चित्र देते हैं जिस संस्कृति के आधार पर उस (मंत्रभाग) की रचना हुई है, भले ही इनका संकलन और सम्पादन मंत्रभाग के पश्चात् इसलिए किया जाने लगा था कि कुछ लोग उस परम्परागत संस्कृति को भुलानेसे लग गये थे, जिसके संकेत स्वयं मंत्रभाग में भी मिलते हैं (आगे देखें)। इस प्रकार इन

४—वेद-व्याख्या में ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थों का मौलिक विषय तो मंत्रभाग की रचना का मुख्य स्रोत और उद्गम या मधु का उत्स है, भाषा और सम्पादन काल परवर्ती है। इसीलिए इन्हें 'वेद' नाम से पुकारा भी जाता है 'मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः'। कोई भी साहित्य ऐसी पृष्ठभूमि के बिना सत्ता में ही नहीं आ सकता, यह स्वाभाविक नियम है। अतः वेदार्थ के ज्ञान के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों को प्रामाणिकता में प्रथम पद मिलता है।

इसी प्रकार कर्मकाण्ड न हेय है, न निरर्गल। यह सृष्टि विषयक ब्राह्म-तत्त्वों की विकास परम्परा का अद्भुत चित्रण करता है। यह बात ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों से स्पष्ट होती है। वहां कोई कण्डिका या प्रपाठक ऐसा नहीं, जिसमें वैदिक दर्शन की विद्युत् का प्रकाश न हो। स्थान-स्थान पर मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या की ओर ध्यान दिलाया गया है। किन्तु आज कर्मकाण्ड की उस सर्वाङ्गीण संगति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

५—वेद-व्याख्या में कर्म-काण्ड का महत्त्व

वस्तुतः वेद सर्वसम्मत, सर्वदर्शनमय, सर्वज्ञान-विज्ञानमय, सर्वधर्ममय, सर्व रहस्यमय और इस प्रकार के केन्द्र विन्दु हैं जिनमें विद्या की दिव्यमूर्ति है। वेद स्वयं ब्रह्म ही हैं जैसा यजुः (२।२१) और शतपथ ब्राह्मण (१।७।३।२३) में कहा है "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद येन देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यं वेदो भूयाः।" अर्थात् "हे देव (ब्रह्म)! तुम स्वयं वेद रूप हो, उसी से तुम वेद या ज्ञेय या ज्ञात भी हो और इसी वेदरूप से तुम देवरूपों में (इन्द्रादि रूपों में) वेद या ज्ञेय या ज्ञात हुए हो, अतः तुम मेरे लिए भी इस वेद रूप से ही ज्ञेय और ज्ञात हो जाओ।" इस प्रकार मन्त्रात्मक वेदों में तत्त्वात्मक ब्रह्म का ऐसा तादात्म्य है कि वेद और ब्रह्म दोनों का एक ही अर्थ हो गया है। मंत्रात्मक वेदों में ब्रह्म की व्याख्या सीधे ब्रह्मरूप में कम की गई है, अधिकांश मंत्रों में ब्रह्म की व्याख्या रहस्यरूप में पाई जाती है। इस रहस्य शैली को नीहारावृत शैली कहा गया है जैसे—"नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।" (ऋ० वे० १०।८२।७)। यह नीहार या कुहासा कई प्रकार का है, जैसे देवतावाद, पशुवाद और दोनों की समासोक्ति या मिला-जुला वर्णन जैसे अश्वाः मण्डूकाः, शकुनिः या कपिञ्जलः। इनके व्याज से क्रमशः देवरथ(अश्वाः),परा वाणी के भौतिक सृष्टि में पृथक्-पृथक् बीज (मण्डूकाः) और इन्द्र (शकुनि और कपिञ्जल) का वर्णन करना ऋषियों का लक्ष्य था। इन नीहारात्मक वादों के अन्तर्गत जिस ज्योतिर्मय रहस्य की प्रतिष्ठा है, वह केवल ब्रह्म या ब्राह्मसृष्टि का विवेचन है। ऊपर के कुहासे को हटा कर ही भीतरी ज्योति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में बहुशः इसी शैली में ब्रह्म विषयक रहस्य की व्याख्या की गई है। उनके शब्दों के पीछे ब्रह्म विषयक

६—वेद स्वयं ब्रह्म है

ज्योति अन्तर्निहित है। श्रीमद्भगवद्गीता भी संक्षिप्त शैली में उसी ब्रह्मतत्त्व व्याख्या का संकलन करती है। महाभारत, रामायण, पुराण एवं अन्य धर्मग्रन्थ भी इसी रहस्यात्मक या प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण करते हैं। इनकी परिभाषात्मक शैली ब्रह्म विषयक ज्ञान और विज्ञान से ओतप्रोत है। अतएव पुराणों के समान ही इन सबको पञ्चमवेद कहा जाता है (छान्दोग्य ७।१)।

प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। पर दोनों का सह अस्तित्व है। अज्ञान शरीर है, ज्ञान उसकी आत्मा है।

७–वेदों की प्राचीन व्याख्याएं, ब्राह्मण और उपनिषद्

अतएव जहाँ एक ओर अनूचान, शुश्रुवान्, ब्राह्मण और मनुष्य, देव, ऋषि और महर्षि आदि मेधावी और मनीषी विद्वानों ने वैदिकदर्शन का पूर्ण विकास किया था और तदनुरूप श्रुतियों या आख्यानों का विपुल भण्डार निर्मित किया था, वहाँ ऐसे भी लोग कालान्तर में हुए जो उन प्राचीन अर्थों और विधि-विधानों को विस्मृत करने लगे। तब अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक उन तत्त्वों की व्याख्या की गई। इस कार्य में भी सहस्रों वर्ष लगे होंगे। किन्तु वर्त्तमान काल में उस इतिहास के यथार्थ निर्णय के साधन उपलब्ध नहीं हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का अन्तिम भाग वेदान्त या उपनिषद् और आरण्यक कहलाता है। इस वाङ्मय के भी अनेक ग्रन्थ हैं। उपनिषद् साहित्य में दस या पन्द्रह ग्रन्थ अधिक प्राचीन और प्रामाणिक हैं। उपनिषद् (प्राचीन) काल के अनन्तर वैदिक तत्त्वों के विषय में अन्धकार का युग आया हुआ जान पड़ता है। उस समय या तो वेदों को कण्ठस्थ रख कर ही लोग सन्तुष्ट हो जाते थे या यज्ञीय कर्मकाण्ड वा विधि-विधान से सन्तोष कर लेते थे। किन्तु वैदिक तत्त्व-दर्शन की ओर उस प्रकार का आग्रह नहीं हो रहा था। कालान्तर के इस युग में वेदार्थ के लिए वैदिक तत्त्व की अपेक्षा लौकिक व्याकरण और लौकिक निरुक्त पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। 'उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे' आदि लिख कर यास्क ने अपने सम्प्रदायिक लौकिक निरुक्त में इसी परिस्थिति का संकेत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संहिता, श्रुतिमंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों को ही प्रमाण कोटि में लिया गया है। जहाँ गीता, महाभारत, रामायण, पुराण आदि में भी वैदिक धारा का ही प्रवाह मिलता है, उसका भी यदा-कदा संकेत किया गया है। इन ग्रन्थों में ब्राह्म चरित्र को ही ब्रह्म के प्रतिरूप पुरुष देवों या स्त्री देवियों के रूप में ढालकर वर्णित किया गया है। ये सब वैदिक दर्शन के तत्त्वों के लौकिक अवतार हैं।

याज्ञिक अर्थों की धारा भी अपना महत्त्व रखती है। यज्ञों में जो विधि-विधान प्राप्त होता है वह वैदिक-दर्शन को ही प्रकट करता है। उसका उद्देश्य वैदिक तत्त्व की ही व्याख्या है। तब कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मंत्रात्मक विधि

८–प्राचीन युग में कर्म-काण्ड वेदार्थ ज्ञान की ही विधि थी

सज्ञान होती थी। उसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्म-दर्शन का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब देख सकता था। सोम तत्त्व को पूरी तरह समझने के लिए सोमयाग का परिचय आवश्यक है। इस दृष्टि से कर्मकाण्ड का भी पर्याप्त महत्त्व था और उसके द्वारा वेदार्थ का ही उपबृंहण किया जाता था। कर्मकाण्ड को जीवित वेद या प्रायोगिक वेद कहना चाहिए।

ऋग्वेद के खिल भाग में (८।५८) इस ओर संकेत किया गया है कि यजमान को यज्ञ से किस ज्ञान या संविद् की प्राप्ति होती है? यज्ञ के लिए जब उनके यहां अनेक अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण एकत्र होते हैं तब इस कर्मकाण्ड से यजमान के ज्ञान में यह भासमान होता है कि अग्नि (ब्रह्म) केवल एक है, उसी की बहुविध कल्पना या व्याख्या की जाती है। इस समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड की भौतिक आत्मा और स्रोत केवल एक ही सूर्यात्मक प्रकाशित तत्त्व है जिसे अन्यत्र 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा है। एवं इस भौतिक विश्व की जननी भी केवल एक है जिसे उषा या मनोब्रह्माण्ड या २४ वें तत्त्व का उत्तरार्द्ध कहा जाता है, जिसके लिए अन्यत्र 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कहा है, वह उषा नेत्री है (उषा वर्णन देखें)। इस प्रकार यज्ञीय कर्मकाण्ड द्वारा यजमान का ध्यान समस्त विश्व के एक मूल स्रोत की ओर आकृष्ट किया जाता था, जिसे अन्यत्र 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' कहा है। यहीं यजमान की संवित् या आत्मोपलब्धि होती थी जैसे—

९–वेदों में कर्मकाण्ड के महत्त्व के प्रमाण

प्रश्न—"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित्॥"

उत्तर—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥"

(ऋ०वे० ८।५८।१-२)

इसी कल्पना के कारण यज्ञीय कर्मकाण्ड को कल्पशास्त्र भी कहा गया।

उस युग में भी इस बात के अनुभव किये जाने के प्रमाण मिलते हैं कि कुछ लोग मन्त्रार्थों के आन्तरिक तत्त्व या ब्राह्म पक्ष को न जानकर बाह्य अक्षरों का ही आग्रह करने लग गये थे। इस सम्बन्ध में ऐसे लोगों के लिए कड़ी फटकार भरी निम्नलिखित कुछ ऋचाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१०–संहिता युग में ही वेदार्थ लुप्त होने के संकेत

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥"

(ऋ० वे० १।१६४।३९)

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।"
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।।"

(ऋ० वे० १०।७१।४-५)

इनमें प्रथम ऋचा में कहा गया है कि जो अक्षर ब्रह्म के आठ अरब, चौसठ करोड़ अक्षरों (मूल-बीजों) को नहीं जानता, वह वेद की ऋचाओं से क्या करेगा ? इसमें ऋक् पद पर एकशेष समास से ऋक् और यजुः (दर्शन के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध वाची पारिभाषिक) पदों का ग्रहण है। अभौतिक या आध्यात्मिक (पूर्वार्द्ध) के लिए ऋक् और भौतिक (उत्तरार्द्ध) के लिए यजुः प्रतीक हैं। ऋक् और यजुः दोनों में तत्त्वरूप देवताओं का निवास है। जो इस प्रकार ऋक् और यजु से परिचित है, वही विद्वान् वेदों का अधिकारी है। दूसरी ऋचा का तात्पर्य स्पष्ट है, अर्थात् जो याज्ञिक कर्मकाण्ड-निरत होने के कारण वेदों की स्पष्ट वाणी को समझते हुए भी नहीं समझते और सुनते हुए भी अनसुनी करते हैं, उनके लिये वेद का मर्म प्रकट नहीं होता। वेदों की वाणी रूप स्त्री, अनूचान और शुश्रुवान् ब्राह्मणों के पास इस प्रकार अपने आप को प्रकट करती है, जैसे सुन्दर वस्त्र पहने हुए स्त्री अपने अङ्गों को पति के लिए। तीसरी ऋचा का भावार्थ यह है कि कुछ अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण वाग्-ब्रह्म का विवेचन करने वाले स्थिरपीत या आकण्ठतृप्त या सर्वज्ञ होते हैं। वे वेदों के अर्थों को यज्ञों में भी (पूर्वोक्त रीति से) नहीं भुलाते (नैनं हिन्वन्ति वाजिनेषु)। पर जो कर्मकाण्ड की विधियों में उलझ कर अर्थ को भूल जाते हैं, उनके लिए वेदों की वाग्रूपा कामधेनु अधेनु या बाँझ हो जाती है। उनके लिए वेदों की वाणी निष्फल और पुष्पहीन ही रहती है।

इसी प्रकार की ध्वनि उपनिषदों और गीता में भी मिलती है, जैसे :—

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।"

(कठ २।५)

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ।।
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।।
तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।"

(मुण्डक २।८-११)

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

(गीता २।४२-४५)

११-संहितायुग में ही याज्ञिकों के 'सोम' सम्बन्धी अज्ञान का संकेत

सोम को केवल बूटी समझ कर उसे सिल-बट्टों पर घोटकर पी लेने में ही कृतार्थता मानने वाले कर्मकाण्डी लोगों के विषय में कहा है :—

"सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥"

(ऋ० वे० १०।८५।३-४)

इनका आशय यह है कि याज्ञिक लोग जड़ी-बूटी को सिलबट्टों पर पीस कर इसके घोल को पीकर समझ लेते हैं कि उन्होंने सोम को पी लिया। पर अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण जिसको वेदों में सोम नाम से पुकारते हैं उसे कोई पी ही नहीं सकता वह तो अनुभूति की वस्तु या तत्त्व है। वह वाग्ब्रह्म के नाना विधानों से आच्छादित और सुरक्षित है उसका नाम 'दृषदुपले' (पत्थर) सुनकर ये लोग धोखा खा गये हैं।

अतः वैदिक मंत्र युग में ही वेदार्थ का मर्म जानने वाले कम रह गये थे। इसीलिए अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मणों को 'मनुष्यदेवाः' कहा गया। उनकी उपस्थिति के बिना कोई यज्ञ सफल भी नहीं समझा जाता था। जैसे—

"अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवान्सोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।......मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुषामनूचाना नामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति॥"

(श० प० ब्रा० २।२।२।६)

और—

"ये वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते विप्रास्तानेवैतदभ्याह बृहतो विपश्चित इति यज्ञो वै बृहत्।"

(श० प० ब्रा० ३।५।३।१२)

शतपथ ब्राह्मण में और भी कहा है :—

"योषा वै वेदिः। तामेततद्देवाश्च पर्यासते। ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्तेष्वेवैनामेतत्पर्यासीनेष्वनग्नां करोति ॥"

(श० प० ब्रा० १।३।६।८; तुलना कीजिए ऋ० वे० १०।७१।४)

प्रायः यह समझा जाता है कि वेदों में या ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित देवासुर संग्राम किसी रणभूमि में जमकर लड़ा गया होगा जिसमें एक ओर देवता या आर्य रहे होंगे और दूसरी ओर असुर या अनार्य। यह विचार भी नितान्त निराधार है। वस्तुतः देव और असुर तत्त्वों के या दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के सूचक हैं। इन दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व ही देवासुर संग्राम कहलाता है। इस संग्राम का आधार वैदिक युग में घटित 'दाशराज्ञ' युद्ध है जिसके दो दल आर्यों ही के थे। विश्वामित्र के दल के साथ पाँच जातियाँ अनार्यों की भी सम्मिलित थीं। वेदों का शूद्र शब्द भी आर्यों की ही जाति के एक वर्ग का या अंग का नाम है। इसका विवेचन 'दाशराज्ञ युद्ध' इन्द्र और वृत्र शीर्षकों में स्पष्ट किया गया है। वैदिक देवासुर संग्राम केवल तात्त्विक संग्राम है, यह घोषणा स्वयं वेद कर देता है, जिसका समर्थन ब्राह्मण ग्रन्थ भी लगभग वैसी ही भाषा में करते हैं, जैसे :—

१२–वेदों में वर्णित देवासुर–संग्राम का रहस्य

(१) "नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति ॥"

(ऋ० वे० १०।२७।३)

"यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥"

(ऋ० वे० १०।५४।२)

(२) "नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यतऽइति हासे त्वत्ततोह्येव तान्प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्।

"न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्सऽइति ॥"

(श. प. ब्रा. ११।१।६।९-१०)

वैदिक रहस्यों का इस प्रकार का उद्घाटन संहिता, ब्राह्मण और उपनिषदों में अनेक स्थानों पर पाया जाता है। कहीं-कहीं यह संकेत भी मिलता है कि उत्तर काल के विद्वान् जो कह रहे हैं उस प्रकार की व्याख्या पूर्वकालीन अनूचान विद्वानों ने भी की थी, जैसे—

१३–उपनिषत्कारों ने प्राचीन ऋषियों का सम्मत वेदार्थ ही दिया है

(१) "इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।" (ईश उप.)

(२) "इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।" (केन उप.)

(३) "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।" (कठ ३।१४)

(४) "सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥"
(ऋ. वे. १०।१३०।७)

१४—वाल्मीकि और उनके परवर्ती ग्रन्थों के समय वेदार्थ की श्रुतियों के नष्ट होने के संकेत

ऐतिहासिक कालक्रम से वेदार्थ के रहस्यों को जानने वाली आचार्यों की इस परम्परा का लोप होने लग गया। वाल्मीकि ने सीता की खोज करने वाले सुग्रीव के मुख से इसका संकेत कहलाया है :—

"अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेद श्रुतीमिव।"
(किष्किन्धा काण्ड ६।५)

इसी अन्धयुग की ओर गीता में भी संकेत है :—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(गीता ४।१, २, ३)

गीता में प्रयुक्त 'महता कालेन नष्टः' और रहस्यं पदों से ज्ञात होता है कि यह परम्परा दीर्घकाल तक टूटी रही। यास्क के शब्दों में भी हमें इस प्रकार की ध्वनि मिलती है।

"स्थाणुरयं भारहारः किलाऽभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा॥"
(निरुक्त)

वैदिक दर्शन के लुप्त हो जाने के ऐसे संकेत स्मृतियों और पुराणों में भी प्रायः आये हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है :—

"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः काल विप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥
(१।३।१०)

सांख्य दर्शन तो वैदिक विश्वदर्शन का अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण है जिसका विस्तार कठ, श्वेताश्वतर तथा गीता में पाया जाता है।

ज्ञात होता है कि ह्रास की इस परिस्थिति से विवश होकर कुछ विद्वानों ने वैदिक विश्वदर्शन के पुनरुद्धार का भार फिर गुप्त रूप से उठाया। उदाहरण के लिए महाभारत ने कृष्ण चरित्र और गीता ने ब्राह्म पुरुष के दैवी चित्रण और दर्शन प्रस्तुत किये हैं। कृष्ण का नाम वेदों में 'कृष्ण मृग' रूपी यज्ञ के नाम से आता है (श. प. ब्रा. १।१।४।१ और तै. ब्रा.) और छान्दोग्य उपनिषद् 'कृष्णाय देवकी पुत्राय' (१।१७) इन शब्दों में ऐतिहासिक दार्शनिक कृष्ण का उल्लेख करता है।

१५—वाल्मीकि, व्यास प्रभृति का वेद व्याख्या का गुप्त प्रयास

वैदिक विश्वदर्शन में कृष्ण विष्णु के ही भौतिकात्मिक स्वरूप के प्रतीक हैं। पाण्डव भी वैदिक दर्शन के ही प्रतीक हैं, ऐतिहासिक तो हैं ही। इसी प्रकार द्रौपदी उत्तरार्द्ध रूप कृष्ण या रात्रि की वैश्वानराग्नि है, उसे आजकल पञ्चभर्त्री या पाँच पतियों की पत्नी समझा जाता है, पतिव्रताओं में धुरीणा भी, (दोनों परस्पर विरोधी भाव)। पर वह केवल एक भर्त्री ही है, इसका विश्लेषण मार्कण्डेय पुराण ने निम्न प्रकार दे रखा है जिसके अनुसार ही उसे पतिव्रताओं में अग्रगण्या कहा भी जा सकता है, अन्यथा नहीं, जैसे—

"यदिन्द्रदेहजं तेजस्तन्मुमोच स्वयं वृषः।
कुन्त्यां जातो महातेजास्ततो राजा युधिष्ठिरः॥
बलं मुमोच पवनस्ततो भीमो व्यजायत।
शक्रवीर्य्यार्द्धतश्चैव जज्ञे पार्थो धनञ्जयः॥
उत्पन्नौ यमजौ माद्र्यां शक्ररूपौ महाद्युती।
पञ्चधा भगवानित्थमवतीर्णः शतक्रतुः॥
तस्योत्पन्ना महाभागा पत्नी कृष्णा हुताशनात् (वैश्वानराग्नेः)।
शक्रस्यैकस्य सा पत्नी कृष्णा नान्यस्य कस्यचित्॥"

(मार्कं. पु. अध्याय ५ श्लोक २१–२४)

इसी प्रकार राम गायत्री ब्रह्म हैं। 'गीते वा रमते' (गायत्री श. प. ब्रा. ६।१।१-१५) सीता वेदों की प्रसिद्ध सीता या कृषि विद्या है। इस प्रतीक में सृष्टि ही प्रजापति की कृषि है। दुर्गा वाग्ब्रह्माणी सप्तकादि रूप सप्त दुर्गमती है। मोहिनी अवतार सतीरूप या भौतिकी सृष्टिरूप प्रेयसी तत्त्व है। यह भौतिकात्मा विष्णु या सोम की प्रतिपक्षिणी है। अतः विष्णु का अवतार कही गई है। त्रिपादामृत रुद्रतो इसका महादेव (वृषभो रोरवीति) पति है, वही इसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं; मोहिनी पाने के लिए या भौतिकात्मा पाने के लिए। मोहिनी वास्तव में आसुरी या राक्षसी प्रकृति या माया या भौतिक वाणी रूप भौतिकात्मा है। "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेताश्व उप. ४. १०) और "मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥" (गीता ९।१२)। इस प्रकार पुराण वेदों के ही देवताओं की व्याख्या करते हैं। पुराणों में वैदिक विश्व दर्शन के ही रहस्यों का उद्घाटन

पाया जाता है। इन कथाओं के गूढार्थ को वही समझ सकता है जो वैदिक विश्वदर्शन को भली भांति जानता है। कहा जा सकता है कि पुराणों ने ही आख्यानों के रूप में वैदिक संस्कृति की परम्परा को पुनरुज्जीवित और सुरक्षित रखा है। पुराणों की अनेक कथायें आज भी उसी वैदिक युग की हैं। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में कई बार पुराणों को भी वेद नाम से पुकारने का उल्लेख आया है (जैसे छान्दोग्य ७।१)। वे पुराण वेदों की ही व्याख्या कथाओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि किस प्रकार मूल वैदिक दर्शन का अटूट प्रवाह उन तथा इन पुराणों में प्रवाहित होता हुआ अब तक जनता के धरातल तक पहुँचता रहा है। आवश्यकता है कि उस ताले को ठीक कुञ्जी से खोला जाय। यदि हम वैदिक विश्वदर्शन का यथार्थ उद्घाटन कर सकें तो पुराणों का उद्घाटन भी स्वतः सम्भव है।

१६—वेदार्थ के प्राचीन असफल प्रयत्न

यद्यपि पौराणिक साहित्य ने वैदिक विश्व दर्शन और वैदिक संस्कृति की सुरक्षा का भगीरथ प्रयत्न किया, पर उनकी शैली और वैदिक शैली में कोई अन्तर नहीं दीखता। दोनों रहस्यात्मक या एक दूसरे के समानान्तर बिम्ब प्रतिबिम्ब से हैं। प्राचीन युग में तो अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण इन रहस्यों का उद्घाटन कर देते रहे। पर पौराणिक युग ऐसे ब्राह्मणों से सर्वथा शून्य प्रतीत होता है। क्योंकि किसी ने इस दिशा में कोई प्रयत्न किसी युग में किया ही नहीं। ऐसे अन्धकार के वातावरण में एक युग ऐसा आया था जब अनेक आचार्यों ने वेदार्थ के विषय में नये सिरे से कई प्रकार के प्रयत्न किए। यास्क के निरुक्त में इन आचार्यों के कुछ नाम आये हैं और स्वयं निरुक्त भी इसी प्रकार का एक प्रयत्न है। औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, शाकटायन, गार्ग्य आदि शिक्षा शास्त्र या भाषा-तत्त्व शास्त्र के आचार्य थे। शाकपूणि, कात्थक्य, और्णवाभ, औपमन्यव आदि निरुक्तकार थे। इनका मत नैरुक्त समय या नैरुक्त मत कहलाता था। एक मत वैयाकरणों का था जो समझता था कि मंत्रों का अर्थ करना ठीक नहीं, उनमें कौत्स मुख्य थे; 'कौत्सो हि अनर्थका मन्त्राः'। कुछ लोगों को नैदान नाम से पुकारते थे। कुछ लोग आर्षमत का अनुसरण करते रहे। कुछ को पूर्व याज्ञिक कहते थे, कुछ नूतन याज्ञिक नाम से विदित थे। इनके अतिरिक्त उस युग में एक मत ऐतिहासिकों का भी था, जिसकी चर्चा ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी प्रशस्त रूप में मिलती है। कई मतों के अनुयायिओं को 'एके' (कोई) तथा कई दूसरों को भी 'एके' (कई दूसरे) नाम से उद्धृत किया गया है। अन्तिम मत नैघण्टुकों का है। ये लोग निघण्टुकार या निघण्टु भाष्यकार हैं, जैसे यास्क। नैघण्टुकों में अन्तिम यास्क हैं। क्योंकि ये स्वयं अपने निरुक्त को नैघण्टुक कहते हैं। 'नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येन' (१।६।२०)। उक्त सब मतों का उल्लेख यास्क ने स्वयं स्थल-स्थल पर कर रखा है जैसे १।१, १।२, १।३, १।२-१२, ३।३।१४, २।२।८, २।५।१६, १।५।१५, ७।३।१७, ११।३।१९, १२।४।४१,

११।४।४१, ७।३।१२, ६।१।४, ११।२।१६, १२।२।१६, १०।१।२, ११।१।३, १२।१।१, १२।१।१०, ३।२।१, ३।४।१६, ७।४।१४, ७।६।२३, ७।७।२७, ७।२।५, ६।१५।१७, १८, परिशिष्ट १-१०, १-११ इत्यादि। नैरुक्तों का पृथक् मार्ग है, नैघण्टुकों का पृथक्। प्रथम इन्द्रप्रधान मार्ग है, द्वितीय वायुकर्म प्रधान जैसे 'इन्द्र प्रधानेत्येके' नैघण्टुकम्, वायुकर्म प्रधानेत्यपरम्।" (१०।१।६; ११।१।२)

एक और बात का उल्लेख किए विना इस प्रकरण को समाप्त नहीं किया जा सकता। वेदों या ब्राह्मणों या उपनिषदों में प्रत्येक तत्त्व रूप देवता की व्याख्या अतिस्तुति या अत्यन्तातिशयोक्ति के रूप में की गई है। यह बात बहुतों को उचित सी नहीं लगती। वे ऐसे वर्णन को अवैज्ञानिक और विशिष्टता विहीन समझते हैं। इनके उदाहरण 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्यपादाः।' 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' आदि ऋचायें हैं। पहली बात तो यह है कि ऐसी ऋचायें रहस्य भरी हैं, कम लोग इन्हें ठीक-ठीक समझ पाये होंगे। दूसरी बात यह है कि ऐसे मंत्रों में जिन तत्त्वों की व्याख्या है, वे इतने सूक्ष्म हैं और इतना गहन मूल रहस्य रखते हैं कि उनका प्रभाव-और आत्मारूप विकास नितान्त ही अलौकिक है। ऐसे तत्त्व अलौकिक शक्तियों के प्रधान केन्द्र विन्दु हैं। उनकी ऐसी अलौकिक, आत्मीय, स्वर्गीय, अनन्त शक्तियों का प्रतिपादन भी इन्हीं जैसी अलौकिक, स्वर्गीय, आत्मीय शक्ति केन्द्र रूपी भाषा की अपेक्षा स्वतः रखता है। ऐसी ही विस्मयकारिणी, असाधारण काव्य प्रतिभा की उच्चतम कोटि भी भाषा में ही वास्तव में ऐसे शक्ति पुञ्ज स्वरूप तत्त्वों की यथार्थ प्रतिमा कुछ-कुछ प्रस्तुत की जा सकती है, पूर्ण फिर भी नहीं। साधारण भाषा तो उनके उपयुक्त है ही नहीं। अतः इन आत्मतत्त्वरूप सभी देवताओं में से किसी की भी कहीं भी अतिस्तुति का नाम नहीं है। वे अतिस्तुतियाँ भी वास्तव में उनकी उस अभूतपूर्व, अवर्णनीय वास्तविक महिमा का शतांश-सहस्रांश भी नहीं व्यक्त कर सकतीं। ये अतिस्तुतियाँ थोड़ी सी झलक मात्र हैं, पूर्ण चित्र नहीं। अतः वेद मंत्रों या ब्राह्मण ग्रन्थों या उपनिषद् वाक्यों की अतिस्तुति रूप अत्यन्तातिशयोक्तियों द्वारा ही हम ऐसे सूक्ष्मतम आत्मीय तत्त्वों को यथार्थता की सीमा तक पहुचाने में समर्थ होते हैं। ऐसे गम्भीर रहस्यों वाले तत्त्वों की व्याख्या ऐसी ही कल्पनामय अतिस्तुतियों में यथार्थतया की भी जा सकती हैं, साधारण काव्य-हीन, प्रतिभाहीन भाषा में नहीं। फलतः वेदों का प्रत्येक मन्त्र, ब्राह्मणों के सभी ग्रन्थ और उपनिषदों का प्रत्येक वाक्य अपनी स्वस्थ प्रकृति से तत्त्वों के स्वस्थ चित्रों का प्रतिपादन कर रहा है, न कोई अतिस्तुति है, न अतिशयोक्ति। सम्पूर्ण वर्णन वास्तविकता के ही धरातल पर खड़ा है। यही तत्त्व रूप देवों की एवं वेदों की सच्ची व्याख्या है।

१७—देवों की अतिस्तुति ही देवों और वेदों की सच्ची व्याख्या है

अध्याय २

वेदों का आत्मा और विद्यापरक अर्थ

उपनिषदों में विद्या और अविद्या की बड़ी चर्चा है। आजकल इन दोनों शब्दों के अर्थ उपनिषत्कालीन न रह कर मध्ययुगीय सांख्यादि दर्शनों में स्वीकृत रूप में ढल गये हैं जिससे इनसे सांकेतिक वैदिक अर्थ को समझने में कठिनाई का अनुभव होता है। वैदिकयुग में विद्या और अविद्या शब्दों का प्रयोग वैदिक-दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के तत्त्वों के लिए होता रहा। पूर्वार्द्ध की आध्यात्मिक सृष्टि का अमृतमय ज्ञान विद्या कहलाती रही और उत्तरार्द्ध की भौतिकता प्रधान विवेचना अविद्या। दोनों का जानना बराबर आवश्यक था। अतः लिखा गया था 'अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' कि उत्तरार्द्ध की मृत्यु रूप भौतिकता के ज्ञान को प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही पूर्वार्द्ध के आध्यात्मिक त्रिपादामृत की अनुभूति की जा सकती है। पर कर्मकाण्ड के अलीक अभिनय की इतिश्री समझने वालों की विधि-विधान शैली भी त्रैगुण्य विषयक बन जाने से अविद्या कही जाने लगी। जो इस विधि-विधान की मृत्यु या वध से उस अभिनय में सृष्टि विकास को देख सकता था उस दर्शन का नाम भी विद्या पड़ गया था। षडङ्ग तो वैदिक-दर्शन के रहस्य को खोलने के लिए ही निर्मित किये गये थे पर उत्तर कालीन षडङ्ग वेत्ताओं और कर्मकाण्डियों ने अपने-अपने शास्त्रों को स्वतन्त्र समझ कर उनके लौकिक व्याख्यान और कर्मकाण्ड के हिरण्मय पात्रों से सत्य रूप वैदिक-दर्शन के रहस्यों को एकदम ढक दिया, वास्तव में षडङ्ग अंग ही है बिलकुल स्वतन्त्र हो ही नहीं सकते। सब मिलकर एक शरीर रूप वेद की रचना या व्याख्या करते हैं। इनसे छिन्न-भिन्न होकर स्वतन्त्रता लेना ही वेदों की विद्या के विनाश का मूल कारण बना। अतः षडङ्गों की ऐसी उछृंखलता को ही अनूचान, शुश्रुवान् औपनिषदिक आचार्यों ने ही अविद्या कहना प्रारम्भ किया था। तब ईशावास्य ने समझाया था 'अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया' कि 'लौकिक षडङ्ग या अविद्या अलीक ज्ञान है लौकिक अभिनय है इससे वेदों का अर्थ कुछ और ही हो जाता है, वेदों का वास्तविक अर्थ तो कुछ और ही है। अतः ज्ञानी वही समझा जाता था जो वेदों के दोनों प्रकार के प्रयोग जानता है। विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृत मश्नुते। ईशावास्य ने उक्त दो प्रकार की विद्याओं और अविद्याओं के तीन-तीन जोड़े को अन्य शब्द भी दिये हैं। उपनिषद् चाहता है कि वैदिकज्ञान के लिए इन दो बातों का जानना नितरां आवश्यक है। अतः लिखा है "अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यांरताः॥" अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।......सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥" इस प्रकार विद्या के नाम सम्भूति और सम्भव भी है ये भी दार्शनिक विद्या के सूचक शब्द हैं, साथ में ब्रह्मविद्या के भी वेदों का यथार्थ, सम्भव और अनुभूतिपूर्ण अर्थ प्राप्त हो सकता है और असम्भूति तथा विनाश नाम दार्शनिक अविद्या और कर्मकाण्ड लौकिक षडङ्ग या लगाया अर्थ वेदों तथा पाठकों के लिए स्वयं ही विनाश और असम्भूति कारक सिद्ध होता है। यहां कर्मकाण्डादि की निन्दा नहीं है, वरन् यह समझाया जा रहा है कि उस कर्मकाण्ड में ब्राह्मसृष्टि का अभिनय देखने की चेष्टा करो। अभिनय ही इतिश्री नहीं है, आभिनयिक शरीरी कर्म के विनाश या वध या असम्भूतिं या असम्भव से ही वेदार्थरूप विद्या की सच्ची और पूर्णप्राप्ति हो सकती है। सांख्यादि दर्शनों की अविद्या अब विचित्र अर्थ रखती है। वे इस शब्द से पूर्व जन्म से संरक्षित ऐसे संस्कार विशेष का संकेत करते हैं जिसके कारण जीव पुनः-पुनः जन्म लेने को बाध्य होता है अथवा वह मोह या अज्ञान का एक ऐसा पतला पर्दा है, जो कभी भी ज्ञान या ब्रह्मज्ञान नहीं होने देता; फलतः आज तक कोई भी मुक्त हुआ ही नहीं हैं, एक भी मुक्त हो जाय तो सब मुक्त हो जावें। वेदों में अविद्या का यह रूप नहीं है। सभी इस अविद्या को पार कर सकते हैं; सभी को पूर्ण ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति हो सकती है। सभी को मोक्ष मिल सकता है। पुराणों ने बारंबार लिखा है कि असंख्य ऋषि मुनियों को साक्षात्मोक्ष प्राप्त हुआ।

इस प्रकार वेदों के उक्त दो प्रकार के अर्थों की धारा में वैदिक काल से ही कर्मकाण्डी व्याख्या प्रवाहित होती चली आ रही हैं। प्रस्तुत युग के विद्वानों को वेदों की सम्पत्ति इन्हीं कर्मकाण्डी वैदिकों से प्राप्त हुई है। वेदों पर मध्ययुग के आचार्यों ने जो भाष्य लिखे, वे भी प्रायः कर्मकाण्डी और श्रौतसूत्री व्याख्यायें ही प्रधानतः कही जा सकती हैं। अतः आजकल के समालोचकों ने वैदिक देवताओं का तादात्म्य कर्मकाण्डी अभिनय में प्रयुक्त प्राकृत पदार्थों को यथार्थ समझ कर देवताओं के पाँच भाग किये हैं (१) पारदर्शी या स्पष्ट (२) अल्प पारदर्शी या मध्यम स्पष्ट (३) अस्पष्ट (४) कर्ममय (५) भावमय। इसके साथ इन्द्र, वृत्र और अदिति आदि के बारे में कई नई कल्पनाएँ जोड़ कर कह दिया है कि ये तो मेघकथा, उषाकथा, सौरमंडल कथा, तारा पूजाकथा, सूर्यपूजा कथा, चन्द्रपूजा कथा, वीरपूजा कथा या ऋतुकथा हैं। ये सब निराधार हैं क्योंकि इनकी कल्पना उस भित्ति पर है जिसे अविद्या या वेदों का असम्भव अर्थ या विनाशकारी असम्भूति या अज्ञान का अर्थ कहा जा चुका है।

देवता या देव तत्त्व की व्याख्या आगे दी जावेगी। यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है कि देवता नाम तत्त्व का है। यह वह तत्त्व है जो दिव्य है, आध्यात्मिकरूप से दीप्तिमान् या प्रकाशवान् या ज्ञान समान है या ज्ञान ही है। यह तत्त्व नितरां परोक्ष है, आखों से दीखने वाला नहीं, वरन् ज्ञान चक्षु या अनु-

भूति से ही दीखने वाला तत्त्व है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों ने स्थान-स्थान पर बार-बार लिखा है कि 'परोक्षेण परोक्ष प्रिया इव हि देवाः'। यह परोक्षता दो प्रकार की है। एक तो देव तत्त्व अव्यक्त ही नहीं अव्यक्ततम है, किसी भी प्रकार चर्मचक्षुओं से दृष्ट हो ही नहीं सकता। देव अतितम सूक्ष्मतम हैं जिन्हें 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा गया है। दूसरे इनकी व्याख्या के लिए ऐसे-ऐसे शब्दों को चुन-चुन कर रखा गया है कि उनके प्रचलित अभिधा के अर्थ से उन तत्त्वों की व्याख्या हो ही नहीं सकती। प्रायः प्रत्येक तत्त्ववाची देवता के संज्ञा शब्द का एक परोक्ष सांकेतिक अर्थ विद्यमान है। इनमें से प्रायः सभी का व्याख्यान इतस्ततः बिखरा पड़ा है जिनको एकत्र कर इस ग्रन्थ में उचित स्थलों पर दे दिया गया है। इनको देव नाम से इसलिए पुकारा गया है कि ये केवल दीप्ति या कान्ति रूप में व्यापक हैं तथा नित्य गति क्रियाशील या प्रगतिशील प्राणरूप हैं। यह दीप्ति या देवन पाँच अमृतस्वरूप वर्णों की है, शुद्ध, पीत या लोहित, बभ्रु और कृष्ण, यही पञ्चामृत हैं (पञ्चामृत शीर्षक देखें)। ये केवल तत्त्वरूप हैं।

ऐसी परिस्थिति में देवताओं के पाँच प्रकार के विभाजन में भी पारदर्शी और अपारदर्शी आदि जैसे विभाजनों की कल्पना का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता, यह स्वयं स्पष्ट है। साथ में इन्द्रादि देवताओं के सम्बन्ध में जो नाना मतों का जाल गूँथा गया है, वह इन अव्यक्ततम देवताओं की महिमा अन्धयुग के पश्चात् के आचार्यों ने देवताओं का विभाजन एक दूसरे ढंग से किया है। उन्होंने इनको पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थानों में-कर्मकाण्ड के अभिनेय स्थानों में-बाँटा है। यह भी उचित नहीं है, यह तो पहिले ही बताया जा चुका है। इस ग्रन्थ में देवताओं के विभाजन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तो देवताओं का क्रमशः विकास पाया और दिखाया गया है। देवताओं के विकास की सरणियों के नाम को शाखा नाम से पुकारा जाता रहा। कोई शाखा किसी एक देवता की सरणि स्वीकार करती रही, कोई दूसरे देवता की, कोई तीसरे की। कई सबकी सरणियों को स्वीकार करते हैं तो कोई कुछ-कुछ को चुन कर अपनाते हैं। उनमें किसी का किसी से संघर्ष नहीं है। सबके मत सबको मान्य हैं। समस्त वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और आरण्यकों में प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में मतैक्य है और एक भावना है।

वेदों में तत्त्व या देवता रूप में जो-जो नाम आते हैं उनके मुख्य नाम 'द्यौ, अन्तरिक्ष, वेदि, दुरोण, नर, वर, ऋत, व्योम; या ब्राह्ममुहूर्त, उषा, सूर्य चन्द्र; अथवा देव, मनुष्य, पितर; अथवा एकपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद् या पशु; अथवा वसु, रुद्र, आदित्य; अथवा सोम, बृहस्पति, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, प्रजापनि, वषट्कार, स्वाहा, स्वधा, हन्तकारः; अथवा ब्रह्मा, कवि, विप्रा, महिष (अग्नि), श्येन (गृध्र); अथवा समुद्राः सरितः गिरयः; अथवा ऋतु-वसन्त ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, संवत्सर, अहोरात्र, नेमि इत्यादि रखे गये हैं। ये

सबके सब प्रत्यक्ष देवता से लगते हैं। पर वैदिकों ने इन सबकी व्याख्या सर्वाङ्गीण रूप से अव्यक्त रूप ही में कर रखी है, लोग इन्हें प्रत्यक्ष स्वरूपीय अर्थों में घसीटने का नितान्त विफल प्रयास करते हैं। मोटी-सी बात है गायत्री का सूर्य, प्रत्यक्ष सूर्य बिलकुल नहीं है। सविता और अर्क में महान् अन्तर है, अर्क से गायत्री के उपस्थान वाले 'सूर्य' में उत्तरीध्रुव और दक्षिणीध्रुव के समान दो अन्तिम छोरों का अन्तर है। आदित्य उक्त तीनों से नितान्त भिन्न तत्त्व है। लोगों ने इन सब को पर्यायवाची इसलिए मान रखा है कि कर्मकाण्ड में उक्त सबका अभिनायक पात्र एक ही प्रत्यक्ष सूर्य है। वैदिकों ने उक्त प्रकार के शब्दों के प्रयोग में देवों (तत्त्वों) की परोक्षप्रियता को मुख्य कारण बतलाते हुए लिखा है।*

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यं न कृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैछन्य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविदंस्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसँस्ता एकधा समभरंस्ताः संभृता एष देवोऽभवत् तत् अस्यै तद्भूतवन्नाम भवति वै स योस्यै तदेवं नाम वेद। तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्य इति स तथेत्यब्रवीत्स वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्यं। तदस्यैतत्पशुमन्नाम पशुमान्भवति योस्यै तदेवं नाम वेद। तमभ्यायत्याविध्यत्सविद्ध ऊर्ध्व उदप्रपततमेतं मृग इत्याचक्षते। य उ एव मृगव्याधः स उ एव स या रोहित् सा रोहिणी यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा। तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्तत्सरोवत्ते देवा अब्रुवन्मेदं (मा+इदं) प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत्तन् मादुषस्य मादुषत्वं; मादुषं ह वै नामैतत् यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते। "**परोक्षेण परोक्षप्रियाइवहि देवाः**" (ऐ०ब्रा० ३-३३)।

यहाँ पर पूरी की पूरी कहानी परोक्षवर्णन की प्रतिमूर्त्ति है। २५वां ब्रह्म प्रजापति है, वह सृष्टि का उषा काल या भूतात्मा का प्रथम जन्म क्षण है, अतः उषा और प्रजापति के प्रेम की चर्चा उक्त रूप में की गई है, यही भूतात्मा इस चतुर्थ सप्तक में भौतिक तत्त्व रूप में या चतुष्पाद् ब्रह्म में परिणत होता है, तब वह 'पशु' ब्रह्म कहलाता है। क्योंकि इसमें चार आत्मायें [ब्रह्म, जीव, भूतात्मा, (मन), भौतिकात्मा (शरीर)] होते हैं, अतः पशु कहलाता है। और 'मानुष' नाम पर यहाँ कथा रचते हुए लिखा है कि प्रजापति के वीर्य के सरोवर को 'मा दुषद् कहते-कहते' उसे 'मादुष' कहते रहे, पर उस रहस्य को छिपाने के लिए लोग उसे 'मादुष' न कह कर 'मानुष' कहने लगे। यह है तत्त्वों की परोक्षप्रियता या दिव्यस्वरूप या सूक्ष्मरूप। इतनी लम्बी कथा कहने का तात्पर्य केवल तत्त्वों या देवों की परोक्षप्रियता पर बल देने मात्र से है। वैसे यह वैज्ञानिक विकास क्रम देता ही है। वैदिक देवताओं या तत्त्वों की इस परोक्षप्रियता को शतपथ ब्राह्मण भी नहीं छिपा सका, उसने कई स्थलों में उक्त प्रकार के ही शब्दों

* श०ब्रा० १-६-२ भी देखें।

की व्याख्या को आगे करके स्पष्ट शब्दों में लिखा है "अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्। सोऽग्निरसृज्यत स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षं परोक्षऽकामा हि देवा अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्-

१-परोक्षप्रिय देव

सोऽश्रुरभवदश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अथ यदरसदिव स रासभोऽभवदथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्सोऽजोऽभवद्*थ यत्कपालमासीत्सा पृथिव्यभवत् (पृथिवी= आयो)। सोऽकामयत। आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमितितांऽ······ (६-१-१-११-१२)† यहाँ पर अग्नि=अग्रि या सबसे प्रथम उत्पन्न का नाम अश्व=अश्रु या निमीलित नेत्र (चन्द्रः २६वां तत्त्व) चन्द्र से चूते रस का या आंसू का नाम रासभ=जो इस रूप में द्रवित हुआ वह तत्त्व है। लोग अग्नि माने आग, अश्व माने घोड़ा और रासभ माने गदहा लगाते हैं। यह अनर्थ है। दूसरा उद्धरण भी लीजिए "परोक्षं वै देवाः परोक्षं यज्ञः (शत०ब्रा० ३-१-३-२५) कि यज्ञ और तत्त्व परोक्षप्रिय हैं, तीसरा वाक्य लीजिए "अयं वाव माधूर्वीदिति यदब्रवीदधूर्वीन्मेति तस्माद्धूर्वा धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः (श०ब्रा० ७-३-२-१२) कि धूर्वा धूर्वा कहते हुए वे इसे दूर्वा कहने लगे, अब चौथा भी लीजिए। ऐतरेय उपनिषद् इन्द्र की परिभाषा देते हुए लिखता है "स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती (३।१३) तस्मादिदन्द्रो नाम। इदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः; परोक्षप्रिया इव हि देवाः(३।१४)यहां इदिदन्द्र से इन्द्र नाम की स्वीकृति बताई गई है, पाचवाँ उद्धरण लीजिए—"सा यदुरवा नाम। एतद्वै देवा एतेन कर्मणैतयावृतेमां लोकानुदखनन्यदुदखनंस्तस्मादुत्खोत्खा ह वै तामुखे-त्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः (श० ब्रा० ६-५-१-२३)। यहां उषा नाम की व्युत्पत्ति दी गई है। ऐसे नितान्त नीहारावृत शब्दों की व्याख्या मंत्रद्रष्टा ऋषियों की शब्द प्रयोग की चातुरी या परोक्षप्रिय प्रयोग की प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष सूचना देती है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रायः प्रत्येक परोक्षप्रिय अर्थ वाले शब्द की, मंत्रों का उद्धरण देकर उनका प्रयोग कर्मकाण्डीय या दार्शनिक विस्रंसन या विकास के सन्दर्भानुसार रख कर वेदों के सब सूक्तों और मन्त्रों का दार्शनिक या विद्यापरक अर्थ जल की तरह तरल और स्पष्ट कर रखा है, जैसे 'समिधाग्नि दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्' की व्याख्या में समिधः='शीर्षन् धित्सेत् इति शीर्षन् प्राणाः', और 'समिधः प्राणाः', तथा 'घृतैरिति प्राणैः' स्पष्टतः दिया है (ऐ०ब्रा० १-३-११, २-१-४) (शतपथ ब्रा० १-४-५-१)। इसी प्रकार 'वसन्तो ब्रह्मैव' 'ऋतवः देवाः" (तत्त्वानि) (श०ब्रा० २-१-३, ५; २-१-३-१) भी लिखा

* तस्मादश्वा अजायन्त (पु०सू०) बृहदारण्यक १-१-७।

† शतपथ ब्राह्मण ६-१-२-३-"एष वै यशोऽथ यदश्रुसंक्षरितमासीत्सोऽश्मा पृश्नि-रभवत् अश्रुर्हं वै तमश्मेत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्ते रश्मयोऽभवन्।

है और 'संवत्सरः आत्मा' 'सोमः आत्मा' इत्यादि जितने भी परोक्षप्रिय अर्थ के शब्द हैं, जो गिनती में अनेक हैं, उन सबका परोक्षप्रिय अर्थ या 'विद्या' परक अर्थ या दार्शनिक अर्थ ब्राह्मणों ने प्रत्येक परिच्छेद में दे रखा है। उधर उपनिषदों ने इन परोक्षप्रिय अर्थों को क्रमिक या विकासीय स्वरूप देकर ब्राह्मणों ही की तरह लिख रखा है जैसे 'अत्तीति अन्नं वाग् ब्रह्मैव' १-२-३ (बृह०उप०) "अंगानां हि रसः प्राणो,' "बृहस्पतिर्वागवै बृहती। तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः" इत्यादि (बृ० १-३-२०)। वाग्ब्रह्म को चार स्तनों के समान माना गया है जैसे "वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति (प्रथम दो सप्तक) स्वाहाकारं (प्रथम सप्तक) च वषट्कारं (द्वितीय सप्तक) च हन्तकारं (चन्द्रमा सप्तक) मनुष्याः स्वधाकारं पितरस् तस्याः प्राण ऋषभो (२४वां ब्रह्म) मनो (सूर्यः २५वां ब्रह्म) वत्सः।" (बृह० ५।८)* यह चतुष्पाद ब्रह्म व्याख्या है। इन्हीं चार स्तनों में क्रमसे पय, घृत, मधु और मेदरूप रस माना गया है, यह आगे दिये जाने वाले उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा। अतः देवताओं या तत्त्वों के भेद, विस्रंसन या विकास के आधार वसुरुद्रादित्यों के अनुसार या संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र के अनुसार या ब्रह्म, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, अदिति, आप, शुचि, अन्तरिक्षादि के भेद से या उषा, विषुवद्रेखा, नक्षत्रों के आधार पर या एकपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद् और सरित्, समुद्र, अद्रि के अनुरूप ही हो सकता है और किसी भेद से नहीं।

कर्मकाण्ड में विद्या

कर्मकाण्ड ब्रह्मज्ञान की सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारधारा का परम वैज्ञानिक अभिनय प्रस्तुत करता है। वैदिकों ने अपने ज्ञान को छिपाने का यत्न नहीं किया है पर उनकी भाषा में ऐसा श्लेष है जिसे वे स्वयं 'नीहारावृत' कह गये हैं—"न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।" (ऋ० वे० १०-८२-७)।

२—कर्मकाण्ड विद्या

जब महायज्ञ का आरम्भ किया जाता था सर्व प्रथम 'पुरोडाश' का निर्माण होता था। उसकी रचना में शतप्रतिशत ब्रह्म विकास का अभिनय दिखलाया गया है। वह विधि अभी समझ में न आ सकेगी। अतः यूप और पशु की स्थापना, (पुरोडाश निर्मित के तुरन्त पश्चात्) का विवरण देखें। लिखा है कि यूप स्वयं यजमान (योगी) है और पशु भी यजमान (योगी) ही है। हमारे वैयक्तिक और पारिवारिक या आकाश गांगेय ब्रह्माण्डों में प्रत्येक के शरीर में चार आत्मायें हैं (१) ब्रह्म शरीर जिसे ब्रह्म कहते हैं (२) पुरुष या

* ऐ० ब्रा० १–४–२५ भी देखें।

जीवात्मा या आकाशीय ब्रह्म रुद्र है (३) तैजसात्मा इन्द्र (४) देह या पाञ्चभौतिक शरीर का अणु। अणु परमब्रह्म और पुरुष या जीवात्मा की तरह सचेतन और स्वतन्त्र है। चतुर्थ तृतीय से, तृतीय द्वितीय से सम्बद्ध रहता है, द्वितीय प्रथम से। द्वितीय का नाम इन्द्रवायु और तृतीय का इन्द्राग्नि भी है। वैदिकों ने पाञ्चभौतिक चतुर्थ देहात्मा को पशु नाम से पुकारा है, उसे वे यूप नामक जीवात्मा से नित्य सम्बन्ध दिखलाने के लिए मेधीय पशु को अभिनयिक यूप से बाँधते थे। यूप रूपी जीवात्मा तबतक ब्रह्म से एकान्ततः सम्बद्ध होने में असमर्थ रहता है, जबतक वह देहात्मारूप पशु का गला ऐसे न घोट डाले कि वह अपनी नित्य क्रियाशीलता या अशान्ति को खो दे। जीवात्मा, तैजसात्मा और देहात्मा या पशु नित्य अशान्त हैं। जीवात्मा की अधिक अशान्ति का कारण तैजसात्मा के प्राण हैं, अतः उन्हें बाँधना योगक्रिया या ब्रह्मज्ञान के लिए परम आवश्यक है। इसकी नाना विधियाँ हैं जैसे "अपाने जुह्वति प्राणंप्राणेऽपानं तथापरे' आदि। इसी विधि को दृष्टिपथ में रखकर वैदिकों ने अन्यत्र लिखा है "देवाः यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्"। यह है पशुरूप पुरुष या देहात्मरूप पशु जिसे बिना बाँधे यज्ञ या योगक्रिया सम्भव ही नहीं हो सकती। कर्मकाण्ड में इसका अभिनय जीवात्मा को यूप, यजमान शरीर को पशु बनाकर करते थे, पुनः यजमान अपने शरीर का मोल चुका कर उस देह को खरीदता था, उसकी जगह मेध्य पशु की बलि का नाटक खेला जाता था। प्रसंगवश यह भी जान लें कि यूप या जीवात्मा ही वज्र या चक्र कहलाता है: हमारी देह में अष्ट चक्र हैं उनका सामूहिक नाम 'वज्र' है। जब तक यह 'वज्र' चक्र चलता है तब तक हमारा जीवन है, वज्र चक्र चलना समाप्त हुआ नहीं कि जीवन भी समाप्त। यह जीवात्मा चक्र ब्रह्म की शान्त तथा परम शान्त परिधि में चक्कर काटता है। उद्धरण—"तिष्ठेद्यूपा ३ : अनुप्रहरे ३दित्याहुस्तिष्ठेत् पशुकामस्य। देवेभ्यो वै पशवोऽन्नाद्यायालंभाय नातिष्ठंत। तेऽपक्रम्य प्रतिवावदतो तिष्ठन्नस्मानालप्स्यध्वे नास्मानिति ततो वै देवा एतं यूपं वज्रमपश्यंस्तमेभ्य उदश्रयंस्तस्माद्बिभ्यत उपावर्तंत। तमेवाद्याप्युपावृत्तास्ततो वै देवेभ्यः पशवोऽन्नाद्यायालंभायातिष्ठंत। तिष्ठतेऽस्मै पशवोऽन्नाद्यायालंभाय (घास डालकर) य एवं वेद यस्य चैवंविदुषो यूपस्तिष्ठति। अनुप्रहरेत्स्वर्गकामस्य, तमुह स्मैतं पूर्वेऽन्वेव प्रहरंति। यजमानो वै यूपो, यजमानः प्रस्तरोऽग्निर्वै देवयोनिः, सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेष्यतीत्यथ ये तेभ्यो ऽवर आसंस्, त एतं स्वरूमपश्यन्यूपशकलं, तं तस्मिन्कालेऽनुप्रहरेत्तत्र स काम उपाप्तो योऽनुप्रहरणे, तत्र स काम उपाप्तो यः स्थाने। सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते यो दीक्षितेऽग्निः सर्वा देवताः सोमः सर्वा देवताः। स यदग्नीषोमीयं (जीवात्मा भौतिकात्मा मिश्रित) पशुमालभते सर्वाभ्य एव तद्देवताभ्यो यजमान आत्मानं निष्क्रीणीते। तदाहुर्द्विरूपोऽग्नीषोमीयः कर्तव्यो, द्विदेवत्यो हीति तत्तन्नादृत्यं पीव इव कर्तव्यः; पीवोरूपा वै पशवः (देहात्मा)

कृशित इव खलु वै यजमानो भवति। तद्यत्पीवा पशुर्भवति यजमानमेव तत्स्वेन मेधेन समर्धयति। तदाहुर्नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात्पुरुषस्य वा एषो ऽश्नाति योऽग्नीषोमीयस्य पशोरश्नाति। यजमानो ह्येतेनात्मानं निष्क्रीणीते इति तत्तन्नादृत्यं। वार्त्रघ्नं वा एतद्धविर्यदग्नीषोमीयोऽग्नीषोमाभ्यां वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तावेनमब्रूताम्, आवाभ्यां वै वृत्रप्रवधोवरं ते वृणावहा इति वृणाथामिति तावेतमेव वरमवृणातां श्वः सुत्यायां पशुम्। स एनयोरेषोऽच्युतो वरवृतो ह्येनयोस्तस्मात्तस्याशितव्यं चैव लीप्सितव्यं च॥" (पं० २-३ ऐतरेय ब्राह्मण)। इस उद्धरण में आये इन्द्र और वृत्र शब्द क्रम से जीवात्मा (यूप) और देहात्मा (पशु) के लिए स्पष्टतया प्रयुक्त हुए हैं। इन्द्र द्वारा वृत्र का वध या जीवात्मा द्वारा देहात्मा का वध नियन्त्रण है। योग में नियन्त्रण ही वध है। बलिदान के नाटक में बलि ही वध है। इन्द्र और वृत्र, आकाशगांगेय (द्विधा) सौरमंडलीय और वैयक्तिक ब्रह्माण्डों के चार प्रकार के भेद मुख्यतः हैं, उनके वैयक्तिक भेद उतने हैं जितने सत्व और तत्त्व सृष्टि में है।

३-वैदिक हवन

अब हवन द्रव्यों के रहस्य को देखिए। आजकल हवन में 'बलिदान, पय, आहुति, आज्याहुति, सोमाहुति, मेदाहुति, मध्वाहुति और वषट्काराहुति दी जाती है। इनके स्थान में तिलाज्याहुति, पलाशाहुति या अन्य द्रव्याहुतियों के नाटक का भी अभिनय किया जाता है। वैदिकों का हवन आभ्यन्तर हवन था। वह दो प्रकार का था योगाहुति और प्रयोगाहुति। योगाहुति में वही विधि थी जो 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे' इत्यादि में बतलाई गई है। प्रयोगाहुति पाँच प्रकार की थी। ये पञ्चमहायज्ञ कहलाते थे। इन्हीं को महासत्र भी कहते थे। इनके नाम भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ थे जिन्हें गीता 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः' कहती है। भूतयज्ञ प्रतिदिन प्राणियों को अन्नादिदान से पूर्ण हो जाता है, यही द्रव्ययज्ञ है। मनुष्ययज्ञ प्रतिदिन तर्पणादिक, अन्य-वस्तुओं का दान करना, लोक संग्रह और परिश्रम करना है। प्रतिदिन पितरों की तृप्ति करना या आदर्श जीवन (स्वधा) धारण करना और बिताना पितृयज्ञ है, प्रतिदिन अपने शरीर के तत्त्वों की पुष्टि के लिए कहीं से भी 'स्वाहा' (आकाष्ठान्) करना यह देवयज्ञ है। देव शरीर के अदृश्य तत्त्व चक्रादिक हैं, उनकी पुष्टि के लिए कहीं से भी अनुकूल भोजनादिक आवश्यक हैं। स्वाध्याय का नाम ब्रह्मयज्ञ है, इसकी जुहू वाणी है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है, मेधा स्रुवा है, सत्य अवभृथ है, उसकी हथेली में ही स्वर्ग है। पय की आहुतियाँ ऋचाओं का पाठ करना है, आज्याहुति और यजुर्वेद मन्त्राध्ययन है, सोमाहुति सामवेद पाठ है, मेद आहुति अथर्ववेद का पाठ है, इसी को घृतकुल्या और मधुकुल्या भी कहते हैं। मध्वाहुति, अनुशासन विद्या, वाकोवाक्यं, इतिहास, पुण्यगाथा, नाराशंस के अध्ययन का नाम है। चार वषट्काराहुति चार वेदों का ज्ञान है तथा इन सबके

अध्यापन का भी नाम है। जिसको सच्चा ज्ञान है, वह विद्युद्गर्जना के समान वाणी के षड्वषट्कार से षण्मुख ज्ञान या षडङ्गज्ञान उगलता है। वह ब्रह्म की स्वात्मता को प्राप्त होता है। उद्धरण—शतपथ ब्राह्मण—(११।५।६।१) "पञ्चैव महायज्ञास्तान्येव महासत्त्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ॥१॥ अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्। तथैतंभूतयज्ञं समाप्नोति। अहरहर्दद्यादोदपात्रात्तथैतंमनुष्ययज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वधाकुर्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वाहाः कुर्यादा काष्ठात्तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति ॥२॥ अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्यमवभृथः स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तं ह्वाऽइमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददंल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसं चाक्षय्यं य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥३॥ पय आहुतयो ह वाऽएता देवानां यदृचः स य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते पयआहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽ एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्भिर्घृतकुल्या मधुकुल्याः पितृन्त्स्वधा अभिवहन्ति ॥४॥ आज्याहुतयो ह वाऽएता देवानां। यद्यजूंषि स य एवं विद्वान्यजूँष्यहरहः स्वाध्यायमधीत आज्याहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण……(५) सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानाम् यत्सामानि स य एवं विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते सोमाहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण……॥६॥ मेद आहुतयो ह्वा एता देवानां यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेद आहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति तऽ एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण……॥७॥ मध्वाहुतयो ह वा एताऽदेवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः स य एवं विद्वानुशासनानिविद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति तऽ एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण……॥८॥ तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य। चत्वारोवषट्कारा यद्वातो वाति यद्विद्योतते यत्सतनयति यदवस्फूर्जति तस्मादेवं विद्वातेति वाति विद्योतमानेस्तनयत्यवस्फूर्जत्यधीयीतैव वषट्काराणामच्छम्बङ्कारायाति ह्वै पुनर्मृत्युं मुच्यते गच्छति ब्रह्मणैः सात्मतां स चेदपि प्रबलमिव न शक्नुयादप्येकं देवपदमधीयीतैव तथा भूतेभ्यो न हीयते ॥९॥"

४–अश्वमेध तत्त्व

अब अश्वमेध यज्ञ का ज्ञानयज्ञात्मक अर्थ देखें। इस पर आगे एक स्वतन्त्र लेख दिया है उसे भी देखें। अश्वमेध यज्ञ* वाजसनेय संहिता का प्रधान यज्ञ है। उस अश्वमेध के अश्व में पूर्ण ब्रह्मज्ञान की अनुभूति है। अश्व प्राण है, मेध मेधा है, प्राणों

---

* 'अश्व' शब्द की व्याख्या 'अश्रु' से पहिले दी जा चुकी है। यह प्रथम प्राण ब्रह्म और प्रथम प्राण भी अश्व प्राण है—'अश्वो न देव वाहनं'।

यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये। दददृचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते॥ ऋ० ५।२७।४। समवर्तताधि' सूक्त देखें। अश्वमेधस्य दानाः सोमाइव त्र्याशिरः ऋ० ५।२७।५।

से मेधा फूंकते थे, यह ऋग्वेद स्वयं लिख गया है वाजसनेय संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ के आदि में ही लिखा है कि उषा (२४ वाँ ब्रह्म) ही मेध्य अश्व का शिर है, सूर्य (२५ वाँ ब्रह्म) उसकी आँख है, वायु (१९ वें से २२ वें ब्रह्म, पंच प्राण ब्रह्म) उसके प्राण हैं, व्याप्त अग्नि वैश्वानर (प्रथम तीन सप्तक के ब्रह्म), संवत्सर आत्मा है, द्यौ आदि ब्रह्म उसकी पीठ हैं, अन्तरिक्ष व्याप्त आकाशीय प्रथम सप्तक का ब्रह्म उसका उदर है, पृथिवी के भौतिक तत्त्व उसकी दिशायें हैं, पार्श्व अवान्तर दिशायें हैं, स्थूल भाग ऋतु हैं, उनके अंग मास और अर्द्धमास (पक्ष) हैं; पर्व दिन-रात हैं, उनकी हड्डियाँ नक्षत्र हैं; नभ मांस है, ऊवध्य (रस) शुक्र (सिकता) हैं, सिन्धु गुदा है, यकृत् और ऊँचे उठे अंग पर्वत हैं, औषधि और वनस्पति उसके रोम हैं, मुख भाग पूर्वार्द्ध उत्तरायण है, जघन भाग उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन है, उसकी गति ब्रह्म विजृम्भण है, उसका विधूनन विद्युद्गर्जना है, उसका मूत्र वर्षा है, उसकी बोली ही वाणी है। "ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः, पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्ध-मासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसान्यूवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि। उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो, तद्विजृम्भते यद्विद्योतते, यद्विधूनुते तत्स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्॥" (वाजसनेय ब्राह्मणोपनिषद् १–१–१)। यहाँ पर 'उषा' से लेकर वाक् तक जिन-जिन तत्त्वों का तादात्म्य अश्व के अंग-प्रत्यंग से किया गया है वे सब ब्रह्म के विकासीय तत्त्वों के विभिन्न ५० स्वरूप हैं, जिनका स्पष्ट ज्ञान आगे दी जाने वाली इनकी व्याख्याओं से अपने आप हो जायगा। उषा, प्राण, अग्निर्वैश्वानर, द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी, दिक्, मास अर्द्धमास, अहोरात्र, नक्षत्र, नभ, सिन्धु, पर्वत, ओषधि, वनस्पति, उत्तरायण, दक्षिणायन, स्तनयित्नु, वर्षा और वाक् इन सबकी एक-एक करके पूर्ण व्याख्या आगे दी जायगी, ये सब ब्रह्म या ब्रह्माण्ड के अंग या विकास हैं, यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है। अतः स्वयं स्पष्ट है कि वाजसनेय संहिता के अश्वमेधवादी ब्रह्मज्ञान को ही प्रमुखता देकर यज्ञीय अश्वमेध का अभिनय करते रहे। अश्वमेधयज्ञ ब्रह्मयज्ञ का प्रतीक है। क्योंकि वास्तव में वैदिकों ने सृष्टि विकास का वर्णन मुख्यतः पाद् रूप में किया है। उनकी सृष्टि का विकास सप्तपदी या सात पदों में विभाजित है। ये सात पाद्, एक-एक सप्तक में एक-एक करके विकसित होते हैं। कुल सात सप्तक हैं। प्रथम सप्तक के आठ ब्रह्म एक पाद् हैं, द्वितीय सप्तक के सात ब्रह्म द्विपाद् हैं, तृतीय सप्तक के सात ब्रह्म त्रिपाद् हैं और चतुर्थ सप्तक के आठ ब्रह्म चतुष्पाद् हैं। इन्हीं चतुष्पाद् ब्रह्मों को पशु-ब्रह्म भी कहते हैं क्योंकि चतुष्पाद् पशु का नाम है। प्रथम तीन पाद् ब्राह्म सृष्टि के तीन रूप हैं परम ब्रह्म, जीवात्मा, देहात्मा। जब देहात्मा पाञ्चभौतिक स्वरूप को स्वीकार करता है तब यह पाञ्चभौतिक शरीर ही देहात्मा या अग्निरूप

प्राणों का खोल या चतुर्थपाद् कहलाता है। अतः यहाँ पर ब्राह्म सृष्टि चतुष्पाद् कहलाती है। इसी विचार को दृष्टिपथ में रखकर भौतिक सृष्टि के विकास को पशुरूप में वर्णित करते हुए लिखा है। "पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये" ऋ०१०।९०।८ "तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः। ऋग्वेद १०।९०।१०* प्रथम तीन प्रकार के पद छन्द रूपी पशु हैं और अश्व, गो आदि तत्त्वरूप चतुष्पाद् पशु। ये पशु भौतिक सृष्टि के प्रथम विकास के स्वरूपों का विवरण देते हैं। ये पाँच पशु हैं जिनमें से आदि पशु को पुरुष पशु कहते हैं और उसी का दमन मुख्य है। चतुर्थ सप्तक में भौतिक तत्त्व के अभ्युदय के माने अतीन्द्रिय सम्बन्धी भौतिक तत्त्व का अभ्युदय है, जिनका स्वरूप तैजसीय और जलीय (वैद्युतीय) है, सब अतीन्द्रिय हैं। योग और आत्मज्ञान की शैली में इन्हीं वायवीय, तैजसीय और जलीय अतीन्द्रियों का बन्धन या वध परम आवश्यक होता है। यह ऐतरेय ब्राह्मण के यूप और पशु शब्द की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः पशुमेध, अश्वमेध, गोमेध और अजामेध माने उक्त वायवीय, तैजसीय और जलीय भौतिक अतीन्द्रियों का दमन है जिनका नाटक प्रख्यात अश्वमेध, गोमेध, अजामेध और पशुमेध के यज्ञों द्वारा करते रहे। इसीलिए महाभारत ने भी लिखा है "अहंकारो (देहात्मा) महाभूतेषु अश्वरूपेण (वायव्यरूपेण) तिष्ठति" (१०–३२७,३२० अध्याय)। यहाँ तक चार अतीन्द्रिय भौतिक तत्त्वों का अभ्युदय हो चुका है, शब्द (वाक्), स्पर्श (अश्व), रूप (गावः), रस (अजा) जलीय। परन्तु इस चतुर्थ सप्तक में गन्ध या घ्राणीय तत्त्व का या पार्थिव तत्त्व के अतीन्द्रिय स्वरूप का अभ्युदय नहीं हो पाया है। उसका अभ्युदय होते ही दृश्य ब्रह्माण्ड का सूत्रपात पञ्चम सप्तक में हो पड़ेगा। अतः कर्मकाण्डीय अश्वमेधादि की कल्पना वैज्ञानिक और बहुत ऊँचे स्तर की आध्यात्मिकता है।

अब छोटे-छोटे कर्मकाण्डों की आध्यात्मिकता के नाटक का दर्शन गर्भोपनिषद् में कीजिए :—"हमारे शरीर में पञ्चमहाभूत तत्त्व हैं, पञ्च गुण (शब्द-स्पर्शादि) हैं, षड् रस (मधुरलवणाम्लकटुतिक्तकषाय) हैं,

५–अग्नि तत्त्व

इसमें सप्त धातु, सप्त स्वर, त्रिमल, द्वियोनि और चतुर्विधाहारपेक्ष हैं। इसमें तीन प्रकार की अग्नियों का ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि का निवास है। कोष्ठाग्नि खाना पचाती है, दर्शनाग्नि रूप दर्शन करती है, ज्ञानाग्नि शुभाशुभ का निर्णय करती है। इनके तीन स्थान हैं, मुख में आहवनीय अग्नि रहती है, उदर में गार्हपत्य अग्नि, हृदय में (मस्तिष्क में) दक्षिणाग्नि। आत्मा ही यजमान है, मन पुरोहित है, लोभादिक (पाञ्चभौतिक तत्त्वों की लोलुपता) ही पशु है (पाञ्चभौतिक शरीर ही पशु है)। धृति और सन्तोष धारणा करना (ब्रह्मप्राप्ति) दीक्षा है, बुद्धीन्द्रियाँ (गावः) यज्ञ

---

* आगे 'पशुः और अवधून् पुरुषं पशुम्' देखें।

पात्र हैं, कर्मेन्द्रिय (अजावयः) हवि है, शिर कपाल है, केश ही कुश हैं, मुख अन्तर्वेदि (यज्ञवेदी) है।" उद्धरण इस प्रकार दिया है :—"ॐ पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्। तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरं भवति ॥ गर्भ उ० १।१॥ शरीरमिति कस्मात्। अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते (हमारी देह का नाम शरीर इसलिए है कि इसमें तीन प्रकार की अग्नियाँ आश्रित हैं या आश्रय लेती हैं) ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीत लेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति। त्रीणिस्थानानि भवन्ति मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः आत्मा यजमानो मनो ब्रह्मा लोभादयः (महाभूतानि) पशवो, धृतिर्दीक्षा सन्तोषश्च बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि हवींषि कर्मन्द्रियाणि शिरः कपालं केशा दर्भा, मुखमन्तर्वेदिः॥" (गर्भोपनिषद् १, ५)। कर्मकाण्डी लोग उक्त पदार्थों का बाहरी अग्नि, कुश, वेदि, कपाल, पुरोहित, यजमान आदि के प्रतीकों से नाटक मात्र करते हैं। वह देखने में अच्छा पर फलतः शून्य है। नाटक करना या देखना ही इनके कर्मकाण्ड का फल है बस। असली यज्ञ तो आभ्यन्तर यज्ञ ही है जिसकी व्याख्या यह उपनिषद् साफ-साफ दे रहा है।

६—अग्नि का स्वरूप, यूप और यजमान

अब उक्त चारों अवतरणों के विधान को स्पष्टतः और पूर्णतः देने वाले दो अन्तिम उद्धरणों का और अवलोकन कर लीजिए जिनसे वैदिक आर्यों के दार्शनिक विचारों और बिछाया यौगिक प्रक्रियाओं का ज्ञान स्वयं स्पष्ट हो जावेगा। 'प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्' लिखता है :—"अब हम अपने शरीर में यज्ञ करते हैं। चार अग्नियों के क्या नाम हैं ? सर्व प्रथम सूर्याग्नि सूर्यमण्डलाकृति की है, सहस्ररश्मि वाली है जिनसे घिरा हुआ एक ऋषि (अग्नि) होकर हमारे मस्तिष्क में रहता है। दूसरी दर्शनाग्नि है, चार आकृति की हैं और आहवनीय होकर मुख में रहती हैं, शारीराग्नि जरा लाने वाली (पचाने वाली) हवि को फेंकती हैं। अर्द्धचन्द्राकार की दक्षिणाग्नि हृदय में रहती है; कोष्ठाग्नि खाये-पिये वस्तुओं को पचाने वाली गार्हपत्य बनकर नाभि में वास करती है, नीचे प्रायश्चित्त नाम की तीन अग्नियाँ तीन हिमांशुओं द्वारा प्रजनन कर्म करने वाली भी हैं॥२॥ इस यूप और डोरी से बँधे शरीरी यज्ञ का यजमान कौन है ? कौन स्त्री है ? कौन ऋत्विज् है ? कौन सदस्य है ? कौन यज्ञपात्र है ? हवि क्या है ? वेदि क्या है ? कौन अन्तर्वेदि है ? कौन द्रोणकलश है ? कौन रथ है ? कौन पशु है ? कौन अध्वर्यु है ? कौन होता है ? कौन ब्राह्मणाच्छंसी है ? कौन प्रतिप्रस्थाता है ? कौन प्रस्तोता है ? कौन मैत्रावरुण है ? कौन उद्गाता है ? कौन धारापोता है ? कौन कुश है ? कौन स्रुवा है ? आज्यस्थाली क्या है ? कौन आधार हैं ? कौन दो आज्य भाग हैं ? कौन प्रयाजक है ? कौन अंतुयाजक हैं ? कौन इडा है ? कौन सूक्तवाक् है ? पत्नीसंयाज कौन हैं ? यूप क्या है ? डोरी क्या है ? इष्टि क्या है ? दक्षिणा क्या है ? अवभृथ क्या है ?" ॥३॥ इन प्रश्नों

के उत्तर इस प्रकार दिये गये हैं। "इस शारीरिक यज्ञ की डोरी से बंधे यूप का यजमान स्वयं आत्मा है, बुद्धि पत्नी है, वेद महर्त्विज हैं, अहंकार अध्वर्यु है, चित्त 'होता' है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है, व्यान प्रस्तोता है, उदान उद्गाता है, समान मैत्रावरुण है, शरीर वेदि है, नासिका उत्तर वेदि है, मूर्द्धा (शिर) द्रोणकलश है, पाद रथ हैं, दाहिना हाथ स्रुवा है, बायाँ हाथ आज्यस्थाली है, दोनों कान आधार हैं, दोनों आखें आज्यभाग हैं, ग्रीवा धारापोता है, तन्मात्रा सदस्य हैं, पञ्चमहाभूत प्रयाज हैं, भूतानि (गुणा) अनुयाज हैं, जीभ इडा है, दन्त और ओष्ठ सूक्तवाक् हैं, तालु शंयोर्वाक् है, स्मृति, दया, क्षान्ति, अहिंसा, पत्नी-संयाज हैं, ओंकार यूप है, आशा रस्सी है, मन रथ है, काम पशु है, केश कुश हैं, बुद्धीन्द्रिय यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं, अहिंसा इष्टियाँ हैं, त्याग दक्षिणा है, अवभृथ मरण से होता है, ये सब हमारे इसी शरीर में सन्निहित हैं। बाहर के ढकोसले वाले कर्मकाण्ड का तो केवल नाटक है। असली यज्ञ इसी शरीर में होता है। इसी प्रकार की व्याख्या का एक परिच्छेद 'नारायणोपनिषद्' के अन्तिम खण्ड के अन्तिम पक्तियों में है—(१) "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद्यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं च तानि सवनानि येऽहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथ एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वादित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानम्" उद्धरण—(२) "स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्नयस्ते किं भागधेयाः। तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्ररश्मिपरिवृत एकऋषि (प्रजापति) र्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति तत्र कोष्ठाग्निरिति। कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढखादितानि सम्यग् व्यष्ट्यां श्रपयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति। प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा॥ इतिद्वितीयः खण्डः॥ अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः, का पत्नी। के ऋत्विजः, के सदस्याः, कानि यज्ञपात्राणि, कानि हवींषि, का वेदिः, कोत्तरवेदिः, को द्रोणकलशः, को रथः, कः पशुः, कोऽध्वर्युः, को होता, को ब्राह्मणाच्छंसी, कः प्रतिप्रस्थाता, कः प्रस्तोता,

को मैत्रावरुणः, क उद्गाता, का धारापोता, के दर्भाः, कः स्रुवः, काज्यस्थाली, कावाधारौ, कावाज्यभागौ, केऽत्र याजाः, के अनुयाजाः, केडा, कः सूक्तवाकः, कः शंयोर्वाकः, का हिंसा, के पत्नीसंयाजाः, को यूपः, का रशना, का इष्टयः, का दक्षिणा, किमवभृथमिति ॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

(३) अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः, बुद्धिः पत्नी, वेदा महर्त्विजः, अहङ्कारोऽध्वर्युः, चित्तं होता, प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी, अपानः प्रतिप्रस्थाता, व्यानः प्रस्तोता, उदान उद्गाता, समानो मैत्रावरुणः, शरीरं वेदिः, नासिकोत्तरवेदिः, मूर्द्धा द्रोणकलशः, पादो रथः, दक्षिणहस्तः स्रुवः, सव्यहस्त आज्यस्थाली, श्रोत्रे आधारौ, चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारापोता, तन्मात्राणि सदस्याः, महाभूतानि प्रयाजाः, भूतानि (गुणा) अनुयाजाः, जिह्वेडा, दन्तोष्ठौ सूक्तवाकौ, तालुः शंयोर्वाकः, स्मृतिर्दयाक्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः, ओंकारो यूपः, आशा रशना, मनो रथः, कामः पशुः, केशा दर्भाः, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, कर्मेन्द्रियाणि हवींषि, अहिंसा इष्टयः। त्यागो दक्षिणा, अवभृथं मरणात्, सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधि समाहिताः ॥" (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्)।

ऐतरेयब्राह्मण ने सृष्टि के विकास और प्रलय क्रमों की व्याख्या में उन्हीं देवताओं को तत्त्व रूप में वर्णित किया है जिन्हें अविद्या वाले मीमांसक और आधुनिक अनुवादादिकारक प्रत्यक्ष या प्राकृतेय स्थूल देवता मानने की भूल करते आ रहे हैं। ऐतरेयब्राह्मण विकास और प्रलय दोनों को ब्रह्म का 'परिमर' नाम देते हुए लिखता है। "यो ह वै त्रीन् पुरोहितांस्त्रीन् पुरोधातॄन् (ब्रह्म या द्यौ, अन्तरिक्ष और वेदि) वेद स ब्राह्मणः पुरोहितः स वदेत पुरोधाया। अग्नि (ब्रह्म)र्वाव पुरोहितः पृथिवी (वेदिः) पुरोधाता; वायुर्वाव पुरोहितोऽन्तरिक्षं पुरोधातादित्यो वाव पुरोहितो द्यौः पुरोधातैष ह वै पुरोहितो य एवं वेदाथ सति रोहितो य एवं न वेद (रोहितो रोहिणी प्रथम वसुः)। तस्य राजा (सोमः) मित्रं भवति द्विषंतमपबाधते······(८-५-२७) ॥

७–परिमर

अथातो ब्रह्मणः परिमरो। यो ह वै ब्रह्मणः परिमरं वेद पर्येनं द्विषंतो भ्रातृव्याः परिसपत्ना (आसुरी वृत्तयः) म्रियंते (शत्रूणां बुद्धि नाशाय मित्राणामुदयस्तव)। यं वै ब्रह्म योऽयं पवते तमेताः पञ्चदेवताः परिम्रियंते, विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निर्विद्युद्वै विद्युद्वृष्टिमनुप्रविशति सांतर्धीयते। तान्न निर्जानन्ति यदा वै म्रियते ऽ थांतर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति। स ब्रूयाद्विद्युतो मरणे द्विषन्मे म्रियतां सोन्तर्धीयतां······(एवं वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निश्च); चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति सोन्तर्धीयते······ आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति। सोऽन्तर्धीयते···अग्निर्वा उद्वान्वायुमनुप्रविशति। सोन्तर्धीयते तन्न निर्जानन्ति। यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयते······ता वा एता देवता अत एव पुनर्जायन्ते (सृष्टि)—वायोरग्निर्जायते प्राणाद्धि बलान्मथ्यमानोऽधिजायते······अग्नेर्वा आदित्यो जायते।······आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते।

······चन्द्रमसो वै वृष्टि (अश्वाः) र्जायते······वृष्टेर्वै विद्युज्जायते······स एष ब्रह्मणः परिमरः, ८–५–२८॥" यहाँ पर सबसे पहिले तीन पुरोहित ब्रह्म या द्यौ, अन्तरिक्ष और वेदि का (प्रथम दो सप्तकों का) स्पष्ट वर्णन है। तदनन्तर अग्नि तृतीय सप्तक के प्रथम ब्रह्म का वर्णन है, आदित्य २५ वाँ तत्त्व है, चन्द्रमा २६ वाँ तत्त्व है, वृष्टि २७ वाँ और विद्युत् २८ वाँ तत्त्व है। इनके विकास और ह्रास का परिमर शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से वर्णित है।

अध्याय ३

वैदिक व्याख्या की सात योग्यताएँ

ऋग्वेद सब वेदों और उनकी शाखाओं का मूलाधारभूत बृहद्ग्रन्थ है। इसी ऋग्वेद के अन्तर्गत सब वेदों और उनकी शाखाओं के सभी मूलभूत मन्त्रों का निर्माण हो चुका था। इनके आपसी मौलिक भेद ध्वनिविषयक और पारिभाषिक शब्दावली सम्बन्धी मुख्यतः रहे। जब ये पृथक् हो गये तो मन्त्रों के अंशों में भी कुछ-कुछ पाठान्तर आवश्यकतानुसार कर लिया गया। साथ में कर्मकाण्डी विधि में किसी ने किसी नाम को प्राथमिकता दी, किसी ने किसी दूसरे को। यह भेद शाब्दिक रहा, व्याख्या का रहा, तत्त्व का नहीं। अतः सब वेदों में विषय का मेरुदण्ड तो सर्वत्र एक ही मिलता है। पर पारिभाषिक शब्दावली में इतने मत भेद हो गये कि उन्हें गिनना भी असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। एक ही सृष्टि क्रम ब्रह्म दर्शन, विश्वदर्शन विभिन्न पारिभाषिक शब्दावलियों और व्याख्याओं द्वारा सहस्रधारा में परिणत हो गया। वैदिक साहित्य को समझने के लिए इन पारिभाषिक शब्दावलियों और इनकी व्याख्याओं को सुलझाना और उनका तारतम्य बिठलाना भगीरथ प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। वेदों के निर्माण के पूर्व, अनेकों ऐतिहासिक और पौराणिक गाथायें प्रचलित थीं। उनकी भाषा बड़ी समृद्ध हो चुकी थी। वेदमन्त्रों की भाषा के सम्बन्ध में वेदों में ही स्वयं लिखा है कि उन्होंने भाषा को सभ्यता की चलनी से छान-छान कर, सभा-समिति-गोष्ठी में नाना रीति से नाप-तौल कर मन्त्रों का निर्माण किया है "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥"* (१०-७१-२) इसीलिए वैदिकों की प्रतिज्ञा है कि उनकी भाषा में 'लक्ष्मी' या 'प्रतिभा' का निवास स्थान है। वैदिक भाषा प्रौढ़ और प्राञ्जल भाषा है। इसकी प्रौढ़ता की परीक्षा एक ही मन्त्र में इतिहास, दर्शन और कर्मकाण्ड तीनों के त्रिवृत् को एकत्र समाविष्ट करने की उनकी अलौकिक प्रतिभा से स्वयं हो जाती है। वेद निर्माण से पूर्व नक्षत्र, राशि, मास, ऋतु, पक्ष, अयन, आकाशगंगा की दो परतों, सौरमण्डल के ग्रहों और अतिग्रहों का पूर्ण ज्ञान हो चुका था। समस्त दर्शन की ज्ञानगंगा सहस्रधाराओं में विद्युत्तरंगिणी के रूप में बहने लग गई थी। कर्मकाण्ड रूप नाट्यशास्त्र का अद्भुत रंगमंच भी प्रस्तुत हो चुका था। ब्रह्मसूत्र-

१—पूर्व वैदिकों के ज्ञान की परिस्थिति

---

* हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ (ऋ० १०-७१-८) इसमें तो साफ लिखा है कि प्रत्येक शब्द की बारीक परीक्षा की गई थी, ऐसे ज्ञाता को ऋषि कहते थे। (ऋ० १०-७१-२)

शुद्धब्राह्म सृष्टि के २४ ब्रह्म+चक्षु रूप २५ वें ब्रह्म के चतुष्पाद् के तीन सूत= २७ सूत्री यज्ञोपवीत रूप प्रतीक ब्रह्मसूत्र प्रत्येक आर्यजन के गले का हार बन चुका था। शिक्षा या प्रतिभा दर्शन प्रादुर्भूत कर लिया गया था, नाम रूप का व्याख्याता (शब्द संधि, वाक् संधि का व्याख्याता व्याकरण या व्याख्या शास्त्र स्थापित हो चुका था, छन्द शास्त्र बने बिना तो छन्द ही कैसे बनते ? आजकल लोग कहते हैं कि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द वेदों के अंग हैं। ऐसा नहीं है, वेदों से ये नहीं निकले हैं, प्रत्युत इन सब शास्त्रों का एक सामूहिक सुवर्ण फल वेद है। पहिले ये शास्त्र पूर्णतः विकसित हो चुके थे, तब वेदों का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ। अतः वैदिक साहित्य प्रौढ़ और प्राञ्जल तथा दर्शन, पुराण, इतिहास, कर्मकाण्ड, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त, व्याख्या (व्याकरण) और प्रतिभा दर्शनों का एक ब्रह्माण्ड सम हिरण्यगर्भ है। ज्ञान का जितना भी उदय होना था वह वेदों में हो चुका था।

वेद-मन्त्रों के ज्ञान के महासागर की मेखला तक पहुँचने के लिए लम्बी पदयात्रा की आवश्यकता है। वेदों की व्याख्या समझने और करने वाले की सर्वप्रथम योग्यता शिक्षादर्शन या प्रतिभादर्शन या भाषातत्त्वशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान है। भाषा विज्ञान कोई शास्त्र नहीं है, कम से कम वेदों के अध्ययन के लिए, यह प्रतिभा दर्शन लुप्त प्राय है। जो व्यक्ति शिक्षा दर्शन या प्रतिभा दर्शन को नहीं जानता, जिस दर्शन के बिना द्विधा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान नितान्त असम्भव है, वह हमारी ऋचाओं को (व्याख्या के लिए) छूने तक का साहस कदापि न करे। वह इन ऋचाओं से क्या करेगा, क्या पा सकेगा, यह वैदिकों ने स्वयं वेद में ही लिख दिया है जिसने प्रतिभादर्शन पढ़ लिया है, उसे ही ऋचाओं और अक्षर ब्रह्म का ज्ञान सुलभ हो सकेगा।" जैसे "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥" (ऋ० वे० १।१६४।३९) वैदिकों ने प्रतिभा दर्शन के ज्ञान के बिना वेदों का अर्थ करने और समझने को इसलिए मना किया है कि उन्होंने समस्त वैदिक दर्शन का मेरुदण्ड प्रतिभादर्शन के दो स्वरूपों में खड़ा किया है। 'अक्षरे'=दो प्रकार के अक्षर, (१) अनिरुक्त आध्यात्मिक, (२) भौतिक निरुक्त इन दोनों से आठ अरब चौसठ करोड़ बीजाक्षर तथा ध्वन्यात्मक वर्णात्मक तत्त्वों या देवों की क्रमिक व्याख्या बिठाई गई है। गायत्री ब्रह्मसूत्र, सामवेद की ध्वनियों का विवेचन, ऋक् और यजु के स्वरों का निर्णय, पद वाक्यार्थ आदि का स्फोट द्वारा विवेचन, सप्तपरिधियों और 'चत्वारि वाग्परिमिता पदानि' आदि आदि का वैदिक दर्शन के मुख्य शरीर के ज्ञान बिना इस दर्शन का ज्ञान सर्वथा असम्भव है। प्रतिभादर्शन शिक्षादर्शन है जिससे ज्ञानपुरुष वेद की नाक कहा गया है 'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'*।

---

*यह शास्त्र शब्द ब्रह्म शास्त्र है। ब्रह्म स्वयं शब्द स्वरूप है। जो व्यक्ति शब्द स्वरूप ब्रह्म के निरूपण वाले प्रतिभा दर्शन को नहीं जानता उसकी विद्या अधूरी है।

वेद व्याख्याता की द्वितीय आवश्यक योग्यता है 'कल्प' का ज्ञान। कल्प माने 'कल्पना' ही है। कल्पना अभिनेय पात्रों तथा पात्रों के प्रयोग की विधि के अनुसार दो प्रकार की कीजाती है। इन दोनों के सम्मिश्रित प्रयोग को कर्मकाण्ड कहते हैं। इस कल्प या कर्मकाण्ड की नींव वैदिक ब्रह्मविकास के ५० तत्त्वों की अनेकधा व्याख्या को दृष्टिपथ में रखते हुए डाली गई थी। जितने सूक्ष्म विधान और अटल विधान कर्मकाण्ड में विहित किये गये हैं उनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध ब्राह्म सृष्टि के एक-एक तत्त्व की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या से है। सब कर्म स्वस्तिवाचन से, सब तत्त्वों के आह्वान और स्तुति से आरम्भ किये जाते हैं। तदनन्तर 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्' आदि से ब्रह्म के साथ में विष्णु और रुद्र की प्रार्थना के अनन्तर गणपति रूप अखिल ब्रह्माण्ड का आह्वान किया जाता है। षोडश मातृका उत्तर षोडशकल ब्रह्म या ब्राह्मी व्याख्या है। नान्दी श्राद्ध, तृतीय, चतुर्थ सप्तक के ब्रह्मों की पितर रूप में पूजा है। कलश स्थापना के बाद फिर सद्ब्रह्म रूप हिरण्यगर्भ का आह्वान किया जाता है उसमें समस्त ब्रह्माण्ड के बीजों के प्रतीक अन्न पलाशादि, हरिद्रादि, औषधि, रत्नादि डाल कर ॐकार की ग्रन्थि सहित चतुष्पाद (चतुर्मुख) ब्रह्म की स्थापना की जाती है और उसी में पञ्चतत्त्वीय पञ्चामृत तथा नवग्रहीय नवाहुति दी जाती है। कुशकण्डिका पुनः इसके विकास को एकपाद्, द्विपाद्, और त्रिपाद् ब्रह्मों की सृष्टि का सजीव नाटक करती है। तदन्तर ग्रहयाग, चतुष्पाद ब्रह्मों के रसों के हवन द्वारा यज्ञ के पूर्वार्द्ध को या ब्राह्म सृष्टि के ३३ देवों के विकास तक पहुँचा देता है। अन्य यज्ञों में एक-एक अंग का अभिनय होता है, जैसे उपनयन में 'गायत्री' याग में प्रथम २७ तत्त्वों के प्रतीक यज्ञोपवीत का ब्रह्मज्ञान ज्योति के प्रतीक शिखा रखने का शुद्ध ब्रह्म विज्ञान का अभिनय होता है। दूसरी बात यह है कि कर्मकाण्ड में ऐसे नपे-तुले, चुने हुए मुख्य आवश्यक और अत्यन्त प्रसिद्ध मन्त्रों को ही अपनाया गया है और उनका प्रयोग ऐसे उचित स्थानों में किया गया है कि वैदिक दर्शन स्वयं स्पष्टतया दृष्टिगत हो जाता है। अतः जो कर्मकाण्ड नहीं जानता उसे वैदिक ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव है। कुछ भी हो ब्रह्मज्ञान की द्वितीय सीढ़ी कर्मकाण्ड के अभिनय को यथार्थ ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से देखना ही है। तीसरी बात वेद के मन्त्रों के प्रयोग की है। कुछ लोग पञ्चामृत और ग्रहयाग के मन्त्रों में दूध, दही, घी, मधु, शर्करा तथा सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु के मन्त्रों में उनके लौकिक स्वरूप के अर्थों में साम्य न पाकर कहते हैं कि यहाँ उन मन्त्रों का प्रयोग अनर्थक और असंगति पूर्ण है। ये पञ्चामृत और ये ग्रह पार्थिव दही, दूध आदि और सौर मण्डलीय ग्रहों को दृष्टिपथ में रख कर सांकेतित नहीं हुए हैं। ये पञ्चामृत और ग्रह हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड तथा अखिल ब्रह्माण्ड के मूल हैं। पञ्चामृत प्रथम चार सप्तकों के तत्त्व हैं, ग्रह प्रथम चार सप्तकों के मुख्य आठ ब्रह्म हैं जिनका अभिनय सौर मण्डलीय ग्रहों का प्रतीक बनाकर उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार गायत्री ब्रह्मों का ज्वलन्त सूर्य की उपासना को प्रतीक

२—कल्पज्ञान

बनाकर। न तो गायत्री का यह सूर्य है, न वैदिक ग्रहयाग के सौरमण्डलीय ग्रह हैं, न पञ्चामृत के द्रव्य दूध, दही आदि हैं, ये तो अभिनय के प्रतीक मात्र हैं और उनके सब मन्त्र ब्रह्म सृष्टि के तत्त्वों की व्याख्या हैं जिन्हें आगे सविस्तर दे दिया जायगा।

वेद व्याख्याता की तीसरी आवश्यक योग्यता है निरुक्त का गम्भीर ज्ञान। इतना मानना पड़ता है कि प्रायः सभी भाष्यकारों और अनुवाद तथा आलोचना-कारों ने यास्क का निघण्टु और निरुक्त अवश्य पढ़ा है और पढ़ते भी हैं। पर खेद तो यह है कि यास्क के समय भी कोरे कर्मकाण्डी अर्थ की अन्ध परम्परा ही प्रचलित रही। यास्क ने देवी-देवताओं का विश्लेषण अन्धमार्गी कर्मकाण्डी परम्परा के ही अनुसार दिया है और स्थल-स्थल पर जहां पर मन्त्र का आध्यत्मिक अर्थ देने का प्रयास भी किया है, वहां पर वे उपनिषदों को एकदम छोड़ गये हैं और ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के रहस्यों को नहीं समझ पाये हैं। दृष्टान्त के लिए 'अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षादु अदितिः परि' की व्याख्या में "कथमितरेतरजन्मानाविति" "देवधर्मेण इतरेतरप्रकृती" कहकर किनारे लग गये हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति' और 'चत्वारि वाक् पदानि' की व्याख्या में उस समय के याज्ञिक, वैयाकरण, नैरुक्त आदि के मतों को देकर भी यह नहीं बता पाये हैं कि 'अक्षरे' क्या है ? 'तिस्रो' वाचो क्या है और 'चत्वारि वाक्' क्या है ? अतः वैदिक दर्शन की खोज के लिए उनके निरुक्त का सहारा लेना अपर्याप्त है। उनके समय में वैदिक दर्शन लुप्त हो चुके थे। इसीलिए उन्होंने निरुक्त के अन्त में सांख्य योग के प्रचलित स्वरूप को विश्वसनीय रूप में देने का यत्न किया है, तथा उसके पश्चात् अन्त में सोम ब्रह्म सम्बन्धी १०,१५ ऋचाओं की कुछ-कुछ आध्यात्मिक व्याख्या देने का प्रयास भी किया है जिससे यह विदित हो जाता है कि उनके समय में लोगों की ऐसी धारणा नहीं मिट पाई थी कि वेदों में पूरा या अधूरा कुछ न कुछ दर्शन अवश्य है। निरुक्त का महत्त्व, शब्दार्थ प्रस्तुत करने तथा चुने-चुने उत्तम-उत्तम मन्त्रों को एकत्रित करने में अवश्य मान्य है। सम्भवतः यास्क के पूर्ववर्ती निरुक्तकार वार्ष्यायणि और शाकपूणि ने कुछ-कुछ आध्यात्मिक या दार्शनिक व्याख्या दी हो। पर इनमें प्रथम का ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। अतः निरुक्त से वैदिक दर्शनों का कुछ भी पता नहीं लग सकता, भले ही पद व्याख्या में यह प्रामाणिक माना जावे।

३–निरुक्त की अनुपादेयता

वेद व्याख्याता की चौथी आवश्यक योग्यता है 'व्याकरण' का ज्ञान। पर भय तो यह है कि आजकल लोग 'शब्दानुशासन' को व्याकरण नाम से पुकार रहे हैं। वेदाङ्ग व्याकरण का इस शब्दानुशासन वाले व्याकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदाङ्ग व्याकरण तो प्रतिभा दर्शन का एक अंग था। शिक्षादर्शन ध्वनि तत्त्व

४—व्याकरण ज्ञान

का विकास तथा ध्वनियों के स्वराघात आदि पर विचार करता था तो उस समय का व्याकतण वाक्यों और छन्दों में सन्धियों तथा उनके स्वराघात प्रभृति पर सूक्ष्म विचार करता था। उस युग में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। अतः भवति गच्छति रामः रामौ रामाः, जैसे रूपों की सिद्धि करने वाले पाणिनि के जैसे 'शब्दानुशासन न तब थे न उनकी तब आवश्यकता ही थी'। उन दिनों उतने ही व्याकरण से सर्वसिद्धि हो जाती थी। वही उतना भाग बहुत कठिन है। उस व्याकरण को आजकल के धुरंधर वैयाकरण नहीं जानते। आज के युग में इस अंग को प्रतिभादर्शन में सम्मिलित कर दिया गया है। भर्तृहरि जी ने अपने वाक्यपदीय में उसी व्याकरण को प्राचीन दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। उनका 'वाक्यपदीय' शिक्षादशन या प्रतिभादर्शन की कोटि में आता है। भर्तृहरि जी के उक्त कथन से आजकल कुछ लोगों को यह भ्रम होने लग गया है कि पाणिनि व्याकरण एक दर्शन था, पाणिनि व्याकरण तो कोरा शब्दानुशासन है, रूप सिद्धि का ग्रन्थ है। इस युग में वेदों की व्याख्या के लिए उक्त प्राचीन व्याकरण का ज्ञान सर्वथा आवश्यक है।

वेदों के व्याख्याता की पाँचवीं योग्यता है वैदिक ज्योतिष का ज्ञान। ज्योतिष में भी गणित और फलित दोनों की सरणि का ज्ञान चाहिए। वैदिकों के ब्रह्मदर्शन की मूल भित्ति 'अहोरात्र' सिद्धान्त है। इस

५—अहोरात्र सिद्धान्त

अहोरात्र दर्शन में कौन दिन है, कौन रात है? दिन का आरम्भ किस तत्त्व से है, उषा का आरम्भ किस तत्त्व से है, सूर्योदय किस तत्त्व का नाम है, चन्द्रोदय किस तत्त्व का नाम है? ग्रह और अष्ट अतिग्रह कौन-कौन तत्त्व हैं, यह जानना अहोरात्रवाद का ज्ञान है। अहोरात्रवाद से मिला हुआ नक्षत्रवाद है। ५० तत्त्वों में से प्रत्येक को एक नक्षत्र या उसके स्वामी के नाम से पुकारा गया है। 'अश्विनी' को कहाँ पर बैठाया जाय या बैठती है, पहिले यह निर्णय करना पड़ता है। यह निर्णय ऐसा होना चाहिए जो 'अहोरात्र' सिद्धान्त के तीसरे पहलू संवत्सरवाद और संवत्सर-वाद के ऋतुवाद में गणितानुसार ठीक बैठ जाय। संवत्सरवाद में एक अयन-वाद और एक पक्षवाद भी है। इन दोनों अयनों और पक्षों को भी गणितानुसार उन्हीं ५० तत्त्वों में ठीक बैठ जाना चाहिए। जो यह नहीं कर सकता उसे वैदिकों के ब्रह्मदर्शन का ज्ञान नहीं हो सकता। 'अहोरात्र सिद्धान्त के उक्त छह पहलुओं का निर्वचन ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् गीता, स्मृति, महाभारत और पुराण आदि ग्रन्थ कुछ न कुछ, कोई अधिक कोई कम अवश्य देते आ रहे हैं। अतः ज्योतिष के इस प्रकार के ज्ञान के बिना वैदिक दर्शन का ज्ञान नहीं हो सकता। और वैदिक ज्योतिष जाने बिना न तो वैदिक ब्रह्मवाद आ सकता है, न अहोरात्रवाद, न नक्षत्रवाद, न संवत्सर, ऋतु, मास, अर्द्धमास पक्ष और अयनवाद। वैदिकों के ज्योतिष के अन्तर्गत कलावाद भी है जिसके अनुसार पूरे ५० तत्त्वों को दो पक्षों

में विभाजित कर रखा है। इन्हें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो नाम; शुक्ल तथा कृष्ण के लिए दिये गये हैं। ये पक्ष संवत्सरवाद के छह-छह महीने के पक्षों से भिन्न हैं। इनके पक्षों के ब्रह्मों को षोडशकलाब्रह्मों में विभाजित कर रखा है। प्रथम पक्ष को गुहा नाम भी दिया गया है। ये सब बातें बिना वैदिक ज्योतिष जाने समझ में नहीं आ सकतीं। जिन ग्रन्थों ने चतुष्कल ब्रह्म की व्याख्या दी है वह कलावाद, पादवाद का दूसरा नाम है। इसका पाक्षिक कलावाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

६—वैदिक छन्दः शास्त्र

वेद व्याख्याता की छठी महत्त्वपूर्ण योग्यता है कि वह वैदिकों के छन्दः शास्त्र के प्रयोग को उनकी अभीष्ट प्रणाली में समझ ले। छन्दः शास्त्र कोई कठिन शास्त्र नहीं है। पर वैदिकों ने छन्दों के अक्षरों को तत्त्वों के रूप में प्रयुक्त किया है, उनके पदों को आदि सृष्टि के पादों के रूप में। गायत्री ब्रह्मवाद तो पूरे का पूरा छन्दः शास्त्र के अक्षरों और पादों में ढला हुआ है। यहाँ पर यह छन्दः शास्त्र, शिक्षा दर्शन या प्रतिभादर्शन के 'ऋचो अक्षरे' के वर्णात्मक अक्षरों का प्रतिनिधि बनाया गया है। ब्रह्म को जो एकपाद्, द्विपाद् और त्रिपाद् कहा गया है वह गायत्री छन्द के अक्षरानुरूप तीन पादों के आठ-आठ अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर को एक-एक ब्रह्म और आठ ब्रह्मों का एक पाद, तीन पादों के २४ ब्रह्मों का गायत्री ब्रह्म होता है। २४वां ब्रह्म चतुर्थ सप्तक का प्रथम ब्रह्म है। पुरुष 'सूक्त के 'त्रिः सप्त' समिधः' २१ नहीं यही २४ समिध हैं। इसीलिए एकविंशति न कहकर त्रिःसप्त या तीन सप्तक (यहाँ अष्टक में व्याख्या है) से तात्पर्य है। २५वां ब्रह्म सूर्य या चक्षु है उसी का उपस्थान होता है। लिखा है "देवता अक्षरभाजः करोति अक्षरमक्षरमेवैतद्देवता अनु प्रपिबन्ति, देवपात्रेण (छन्दसा) एव तद्देवतास्तृप्यन्ति यं कामयेतानायतनवान्त्स्यादित्यविराजास्य यजेत् गायत्र्या वा त्रिष्टुभा वा अन्येन वा छन्दसा वषट् कुर्यादनायननवन्तमेवैनं तत्करोति।" (ऐ०ब्रा० ३-२-२२)। इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द के ३२ अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर एक ब्रह्म है, कुल ३२ अक्षरों में ३२ ब्रह्मों में ब्राह्मसृष्टि पूरी होती है। इसी सृष्टि तत्त्वों को त्रिष्णुप् छन्द के ११,११ के तीन पादों द्वारा ३३ ब्रह्मों की सृष्टि को रौद्र सृष्टि नाम दिया गया है। जगती के १२,१२ के चार चरणों से ४८ तत्त्वों या अक्षरों से पूर्ण सृष्टि का वर्णन दिया गया है, दशाक्षरी विराट् से ४० तत्त्वों के विराट् पुरुष का इत्यादि। यह है वैदिक छन्दों के अक्षरों से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान। अभी तक किसी भी भाष्यकार और टीका, टिप्पणी, अनुवाद और आलोचना के लेखकों की दृष्टि वैदिकों के इस महत्त्वपूर्ण छन्दः शास्त्र के अक्षरों से अक्षर ब्रह्म ज्ञान की ओर गयी ही नहीं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों ने इस प्रकार के छन्दःशास्त्र की व्याख्या पद-पद पर सैकड़ों बार दी है, छान्दस पशुओं के बारे में आगे छान्दस दर्शन देखें।

सातवीं मुख्य योग्यता है वेद व्याख्याता का परमवैज्ञानिक व दार्शनिक होना। यहाँ परमवैज्ञानिक दार्शनिकता के माने अनुभूति से परिपक्व विचारों से स्थिर मत का दार्शनिक है। ऐसा दार्शनिक नहीं जो दूसरों के मतों का उद्धरण देकर संतोष मान ले। ऐसे परम वैज्ञानिक दार्शनिकता के लिए, वेद व्याख्याता को प्रत्येक ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तथा गीता का अक्षरशः गम्भीर अध्ययन करना तो अनिवार्य है ही, साथ में भारतीय दर्शन सांख्य, योग से पूरा परिचय रहना भी अनिवार्य है, सांख्य-योग में भी प्राचीन सांख्य-योग का विशद अध्ययन चाहिए।

७—वैज्ञानिक दृष्टिकोण

वैदिक वाङ्मय की व्याख्या उक्त सात योग्यताओं की प्रस्तुति मात्र से ही पूर्ण न हो सकेगी। वेद व्याख्याता को वेदों की पृष्ठभूमि का एक स्पष्ट प्रतिबिम्ब सामने रखना परम आवश्यक है। ब्राह्मण भाग और उपनिषद् ग्रन्थ भले ही तब लिखे गये हों जब लोग प्राचीन गाथाओं और व्याख्याओं को भूलने लगे थे, पर इनका पूरा पक्का ढांचा मंत्रभाग से बहुत पहिले इसलिए निश्चय पूर्वक निर्मित हो चुका था कि मंत्रभाग तो ब्राह्मण और उपनिषदों का संक्षिप्त छन्दोबद्ध संस्करण मात्र है, असली वेद तो या पूरा वेद तो ब्राह्मण तथा उपनिषद् ही हैं, इनमें जो व्याख्यायें शेष रह गई हैं वे पुराणों और महाभारत में निबद्ध हैं, इसीलिए 'भारतं पञ्चमो वेदः' और 'पुराणं पञ्चमो वेदः' कहते हैं। भारत ही पुराणों का स्रोत है। दूसरी बात जो परम आवश्यक है वह यह है कि वेदों के लिखते समय वैदिकों के सामने अपने वैदिक दर्शन की एक पूर्ण रूप-रेखा टँकी है, तत्त्व को चाहे वे किसी भी नाम से पुकारें, उनमें से प्रत्येक का स्थान निर्णीत और निश्चित है। उन्होंने ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रत्येक तत्त्व की क्रमिक संख्या साफ-साफ दे रखी है। जैसे 'प्रथमोऽयमग्निः, द्वितीयं परिजातवेदाः, कुमारो नवमो रुद्रः, इन्द्रो ह षोडशी, सप्तदशोऽयं प्रजापतिः, एकोनविंशोऽयम्, विंशोऽयं, चतुर्विंशं महाव्रतं, एकत्रिंशोऽयं पुरुषः, चतुस्त्रिंशोऽयं प्रजापतिः, चत्वारिंशोऽयं विराट्, अष्टाचत्वारिंशोऽयं जागतः पुरुषः" इत्यादि। अभी तक इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। ब्रह्म सप्त पदी है। सप्तवाद कई प्रकार के हैं, ये ब्रह्म दर्शन की सात मञ्जिलें हैं। प्रत्येक मञ्जिल में सात-सात कहीं-कहीं आठ या छह, षडष्टक या अष्टषट्क हैं 'सप्तधामानि सप्त च'। इस पर भी किसी ने विचार नहीं किया है। संवत्सर ब्रह्मवाद तो वैदिक योगमार्ग का एक सर्वाङ्गीण बृहद्विशाल कल्पवृक्ष है। इन सबका ज्ञान परम आवश्यक है।

८—वैदिक पृष्ठभूमि

*

———

अध्याय ४

वैदिक विश्वदर्शन के तत्त्वों का निर्णय

वैदिकों ने अपने विश्वदर्शन की प्रतिष्ठा करने के लिए एकचक्र, द्विचक्र, त्रिचक्र, पञ्चचक्र, षड्चक्र, सप्तचक्र और अष्टचक्रों की अद्भुत अनुभूति की थी।

१—प्रतावना

समस्त वेदों में इन्हीं चक्रों की विभिन्न नामावलियों या विभिन्न विभागीय देवताओं की स्तुति रूप में व्याख्या दी गई है। जिस व्यक्ति को इनका समुचित बोध नहीं उसे वेदों का अभीष्ट अर्थ कदापि नहीं लग सकता। उक्त सब चक्र वैदिक दर्शन के मुख्य-मुख्य प्रकाशस्तम्भ हैं। इन्हीं की ज्योति में बैठ कर वेदों के अर्थ को पढ़ा भी जा सकता है। इनका वैदिक ऋषियों ने साक्षात् दर्शन किया था; अतः उन्हें मन्त्रद्रष्टा* (अर्षन्ति इच्छन्ति पश्यन्तीति वा) ऋषयः या 'साक्षात्कृतधर्माणः' कहते हैं। ये सब अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड के मौलिक धर्म या परिस्थितियाँ हैं जिनसे इसका विकास हुआ है। ये चक्र वैयक्तिक ब्रह्माण्ड (शरीर) में भी हैं, पारिवारिक ब्रह्माण्डों में भी हैं, स्तवकीय ब्रह्माण्डों में भी हैं और सर्वैक्य अखिलब्रह्माण्ड में भी। इनमें से किसी एक की अनुभूति अखिल-ब्रह्माण्ड को हस्तामलकवत् परितः दृश्यमान, अवगत और पूर्णरूपेण साक्षात् कराकर त्रिकालदर्शी बना सकती है। वेदों में उक्त चक्रों का वर्णन दो प्रकार से दिया हुआ मिलता है (१) अव्यक्त ब्रह्माण्ड का या सृष्ट्यादि तत्त्वों का क्रमशः विकास देवताओं के नाम से; (२) व्यक्त ब्रह्माण्ड या शरीर या दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड उसी क्रम और परम्परा में वर्णित। वास्तव में वेदों में मुख्यतः उसी प्रथम अव्यक्त ब्रह्माण्ड या ब्रह्म का विकास दिया हुआ मिलता है, जो ५० तत्त्वों के अन्त में विवर्त्त नामक परमाणु के रूप में प्रस्तुत होता है। द्वितीय स्वरूप के या दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड या शरीर में इसका प्रयोग केवल आक्षेप से या ध्वनि से किया गया है। इसे जानने के लिए वैदिक ज्योतिष दर्शन को जानने की परम आवश्यकता है। जो बात अखिल व्यक्त ब्रह्माण्ड में पाई जाती है वही वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में भी मिलती है। इसका ज्ञान योग क्रिया के अष्टचक्रों के ज्ञान से किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति या गोल या अखिल ब्रह्माण्ड, ब्रह्म की प्रतिमूर्त्ति या साक्षात्मूर्त्ति है। यहाँ पर केवल वेदों के धरातलीय प्रथम अर्थ या ब्रह्म विकासीय परम्परा में वर्णित देवताओं या तत्त्वों का क्रमिक विकास दिया जायगा, शेष दो का इसी के समानान्तर आक्षेप पाठकों को स्वयं कर लेना पड़ेगा या सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार पढ़कर इस आक्षेप को समझ लेना होगा।

homo-logies

---

* 'ऋषयः' शीर्षक और 'सप्तचक्रवाद' तथा पुरुष सूक्त ऋचा १५ देखें।

वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्णय मुख्यतः सप्तवाद, पञ्चवाद या त्रिवाद से किया जाता है। ये ही सप्तचक्र, पञ्चचक्र और त्रिचक्र हैं। जितने तत्त्व सप्तवाद में हैं उतने ही पञ्चवाद और त्रिवाद में भी हैं। इतने ही तत्त्व द्विचक्र में भी हैं और एकचक्र इन सबका एक समाहार है। सप्तचक्र या सप्तवाद से ब्रह्मचक्र पृथक् है। उसे मिला कर कुल अष्टचक्र या पञ्चवाद में षडचक्र हो जाते हैं। सप्तवाद की वर्णना नाना नामों और विषयों को आधार बनाकर की गई है। यही बात पञ्चवाद, द्विवाद और त्रिवाद के बारे में भी पाई जाती है। ये नाना सरणियाँ या शाखायें हैं। सप्तवाद में एक बात ध्यान देने की यह है कि कई मन्त्र केवल चतुर्थ सप्तक के सात तत्त्वों का ही विवेचन देते हैं उसकी छानबीन चतुर्थ सप्तक के ज्ञान से हो सकती है। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि प्रत्येक सप्तक में कम से कम सात तत्त्व हैं पर कहीं-कहीं छान्दस दर्शनानुसार ८,९,१२ तत्त्व भी एक सप्तक में वर्णित हैं। इन सबका वर्णन निम्न प्रकार से दिया हुआ मिलता है।

२—चक्रवाद

अष्टचक्रों का वर्णन ऋ० वे० (४-४०-५) की निम्न ऋचा आठ सदः या सभाओं के नाम से घोषित करती है जैसे—

३—अष्टचक्र

"हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥"

इसका चित्र निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्येक सद् में सात-

हंसः	वसु	होता	अतिथिः	अब्जा	गोजा	ऋतजा	अद्रिजा
शुचिषद्	अन्तरिक्ष-षद्	वेदिषत्	दुरोणसत्	नृषत्	वरसत्	ऋतषद्	व्योमसद्

सात तत्त्व हैं जैसे अखिल वैदिक दर्शन, देवताओं या तत्त्वों की अयोध्या या दुर्जेय पुरी है, वह हिरण्मय कोष के समान (हिरण्यगर्भ) स्वर्गीय ज्योतियों से आवृत है इस प्रकार का वर्णन अथर्व (१०-२-३१) इस प्रकार देता है"—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृत्तः॥"

इसी का समर्थन अथर्व (११-४-२२) ने पुनः अक्षर ब्रह्म के रूप में किया है जैसे—

"अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्रपुरोनिपश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥"

यहाँ पर क्रम या दर्शन के दो मुख्य भाग पूर्वार्द्ध और परार्द्ध अथवा 'द्वे ते चक्रे सूर्ये' का उल्लेख करते हुए यह घोषणा भी की गई है कि उत्तरार्द्ध में

भौतिक सृष्टि का सृजन आरम्भ किया गया तथा पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक सृष्टि का। जो ऐसा केतु या झंडा या सहारा है जिसे कम लोग समझ पाते हैं। इसी विषय का सांकेतिक वर्णन अथर्ववेद (८-९-२१ और २३) में इस प्रकार देता है"—

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥२१॥
अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या नोषधीस्तां उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३॥"

ऋत नाम ब्रह्म का है, उससे आठ भूत या चक्ररूप आठ धामों की उत्पत्ति हुई, उन्हीं को इन्द्र (सर्वादेवता) के आठ दैवी ऋत्विक् नामों से पुकारा जाता है, उन्हीं को अदिति की आठ योनियाँ या गर्भ या अष्टपुत्रा अदिति कहते हैं। अष्टमी सन्तति का उदय रात्रि या उत्तरार्द्ध में होता है ॥२१॥

इन्द्र (सर्वादेवता) की व्याख्या अष्टचक्रों से की जाती है, यम की षडष्टक से, ऋषियों की सप्तसप्तकों से, आपोब्रह्म, नदी, पर्वत, समुद्र, मनुष्य या विश्व-देवताओं और ओषधियों का वर्णन पञ्चदशक या दश-दश तत्त्वों के पाँच चक्रों से। इनका विवेचन आगे है।

४—इन्द्राष्टचक्री

अदिति की अष्टयोनी या अष्टभागों या अष्टपुत्रों की चर्चा ऋ० वे० (१-८९-१० और १०-७२-८-९) में इस प्रकार दी हुई मिलती है—

"अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्ष मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥"

"अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वास्परि।
दैवाँ उपप्रैत सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यत् ॥८॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिरूप प्रैत पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्तण्डमाभरत् ॥९॥"

ऋग्वेद ने उक्त अष्टचक्रों को दो विभागों (गुह्य या गुहास्थ, पूर्वार्द्ध और पर या उत्तरार्द्ध) में विभक्त करते हुए भी उन्हें सदांसि और सदन (षद्, धाम, लोक आदि) नामों से पुकारते हुए लिखा है कि इनका जानने वाला देखने वाला और इनकी व्याख्या करने वाला केवल 'कः ब्रह्म' है जैसे—

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचद् देवाँ अच्छा पथ्या का समेति।
ददृश्रएषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥" (ऋ०वे० ३-५४-५)

"कविर्नृचक्षा अभि षीमचष्ट ऋतस्य योना विघृते मदन्ती।
नानाचक्राते सदनं यथा वेः समानेन क्रतुना संविदाने ॥"
(ऋ० वे० ३-५४-६)।

और कवियों या ऋषियों ने इस रहस्य को रहस्य ही बना कर रखा है,

स्पष्टतया नहीं कहा है ? यहाँ पर उक्त चक्रों का नाम 'पदा' या पदानि या पाद। बतलाते हुए लिखा है—

"सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ।।
(ऋ० वे० १०-५३-१०)

शतपथ ब्राह्मण ने 'चितेः प्रथमः प्रस्तारः' (७-३-१) में इस अष्टचक्र विद्या का विवेचन 'पुष्करपर्ण' विधि से अभिनयात्मक रूप में वर्णित किया है जिसका धुँधला स्वरूप उपनिषदों में दिया हुआ मिलता है। ऐतरेय-ब्राह्मण इस विद्या का अभिनय यज्ञमण्डप में स्थापित 'यूप' के द्वारा करता है जिसको आठ भागों में विभक्त किया जाता रहा जैसे—

५—पुस्करपर्णों, अष्टचक्र, अष्टाश्रिर्यूप अष्टापदी

"तद्यद्यूप ऊर्ध्वो निर्मीयते यज्ञस्य प्रज्ञात्यै स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै । वज्रो वा एष यद्यूपः सोऽष्टाश्रिः (अष्टचक्री) कर्त्तव्योऽष्टाश्रिर्वै वज्रस्ततं प्रहरति द्विषतेभ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै वज्रो वै यूपः स एष द्विषतो वध उद्यतस्तिष्ठति" (२-१-१)।

श० प० ब्रा० इसी बात का समर्थन (५-१-६-५ में) इस प्रकार करता है—

"अष्टाश्रिर्यूपो भवति अष्टाक्षरा वै गायत्री ।
गायत्रमग्निश्छन्दो देवलोकमेवैतेनोज्जयति ।।"

यहाँ पर यह यूप अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। उसके अष्टाश्रिः अष्टचक्र या आठ विभाग हैं जो सृष्टि का क्रमिक विकास सूचित करते हुए इस ब्राह्माण्ड में उनकी मौलिक स्थिति का भी परिचय देते हैं। ऋग्वेद (२-७-५) (८-७६-१२) इनको अष्टापद नाम से पुकारता है जैसे—

"त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः । अष्टा पदीभिराहुतः ।।"
"वाचमष्टापदीमहं नव स्रक्तिमृतस्पृशम् । इन्द्रात् परि तन्वं ममे ।।"

इसी को ऐ० ब्रा० (४-३-१६) षडष्टक द्वारा वर्णित करता है।

पुरुष विद्या में जिसका वर्णन पुरुष सूक्त और उसके उपोद्घात में किया गया है—इन्हीं अष्टौ षद् या सदांसि या चक्रों को तीन अन्य प्रसिद्ध नामों से पुकारा जाता है। वे नाम हैं (१) अष्टौ आयतनानि, (२) अष्टौ लोकाः (३) अष्टौ पुरुषाः। 'अष्टौ आयतनानि' में पृथिवी, रुप, आकाश, काम, तेज, तम, आपः, रेतः, हैं। 'अष्टौ लोकाः' में ब्रह्म लोक तथा 'भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' हैं तथा 'अष्टौ पुरुषाः' में 'ऋषयः' शीर्षक और आगे सप्तवाद में वर्णित सप्तर्षि तथा उन सब से परे ब्रह्मर्षि (ब्रह्म) हैं। इनका

६—अष्टौ आयतनानि, अष्टौ लोकाः, अष्टौ पुरुषाः ।

विवेचन बृहदारण्यक २-९-२६ तथा श० प० ब्राः १४-६-९-पूरे प्रपाठक में दिया गया है जिसका स्पष्ट वाक्य यह है—

"इत्येतान्यष्टावायतनानि अष्टौ लोकाः अष्टौ पुरुषाः ।।"

इनमें से आयतन तो उक्त चक्रों के स्वरुप हैं और आठ लोक उनके क्रमिक स्थान हैं। 'भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' तो सात लोक सात सप्तकों के संकेतक हैं, प्रत्येक सप्तक एक लोक है। इन सबके आदि में ब्रह्मलोक है जिसका वर्णन बृहदारण्यकीय श. प. ब्रा. (१४-७-१ पूरे प्रपाठक) में क्रमशः दिया गया है। इस लोक विद्या का सम्बन्ध सृष्टिवृत्त विद्या से है। सृष्टिवृत्त रुप पुरुष, बीज रुप में ब्रह्मलोकात्मा होता है, उसे सर्वप्रथम भू-नामक लोक में बोया जाता है, वह भुवः लोक में प्रवृद्ध होता है और फूलकर फट जाता है, स्वर्लोक में वह तेजस स्वरुप से त्रिधा दोपटल और अङ्कुर हो जाता है। महर्लोक में उसकी आँख-सी निकल कर पर्ण या सुपर्ण रूप में या भौतिकात्मरूप में प्रथम उत्पत्ति होती है। तब जनः लोक में वह पञ्चधा पञ्चजन रूप में उत्पन्न होता है, तदनन्तर वह तपोलोक में तपोरूप में विकसित होकर सत्यं लोक में विवर्त नामक परमाणु रूप को प्राप्त होता है, यह सृष्टि का महापरमाणु है। इन लोकवाची भूर्भुवः स्वः में भूः शब्द प्रथम सप्तक का वाची है न कि हमारी धरती का संकेतक।

श० प० ब्रा० ने लिखा है कि ब्रह्म ने सर्व प्रथम वाणी 'भू' उच्चरित की तो पृथिवी या ब्रह्मबीज बोने की प्रथम पृथिवी भू निकली।

फिर दूसरी वाणी भुवः कही तो अन्तरिक्ष लोक बना, अन्त में 'स्वः' कहा तो स्वर्लोक बना जैसे—

"स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्तस्मै भूरिति व्याहरत्सेयं पृथिव्यभवद्भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत्स्वरिति सासौ द्यौः ।।" (श० प० ब्रा० ११-१-६-३)

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह सृष्टिपुरुष उलटा उगा है या उगता है जिसको अथर्व, कठ, मुण्डक और गीता 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' या 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो' या 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्' इत्यादि बार-बार कहते आ रहे हैं। उसके उगने की भूः, भुवः आदि हमारी धरती नहीं हैं, यह तो सत्य लोक या सातवें लोक का विस्तार है। ब्रह्म के उगने की पृथिवी या भूर्भुवस्वरित्यादि लोक प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम सप्तक हैं इसमें भी सन्देह का लवलेश नहीं। क्योंकि इनके प्रत्येक लोक को उर्वीनाम से पुकारते हुए उनकी संख्या षडष्टक द्वारा छह दी गई है जिनका वर्णन आगे षट्चक्रों में दिया जायगा। इन्हीं अष्ट लोकों में से ब्रह्मलोक को छोड़कर शेष सातों को भुवन नाम से पुकारते हुए ऋ० वे० ने (९-७०-१) लिखा है—

७—ऊर्ध्वबुध्न, सृष्टिवृक्ष, सप्तभुवन, षडुर्वी।

"त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे सत्यमाशिरं पूर्व्ये व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चक्रे यदृतैरवर्धत ॥"

अथर्व (८।९।१६) ने तो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में छह छह उर्वी मानी हैं जैसे—"षडाहुर्द्यावा पृथिवी षडुर्वी" जिसका समर्थन ऋ० वे० (१०-१४-१६) भी निम्नऋचा से करता है "त्रिकद्रुकेभिः यतति षडुर्वी रेकमिद्बृहत् ॥"

'षडुर्वी या अष्टौ लोकाः या अष्ट चक्रों के बदले इन्हें अष्ट रोदसी या अष्ट द्यावा पृथिवी और सैकड़ों द्यावापृथिवी सैकड़ों पृथिवी या भूमि कहते हुए लिखा है ।

"यद्द्याव इन्द्र शतं, शतं भूमि रुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्र सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥" (८-७०-५)

'अष्टौ पुरुषाः' में ब्रह्म तो पुरुषोत्तम कहलाता है, शेष प्रत्येक सप्तक के मुख्य पुरुष को प्रजापति, महर्षि या पुरुष कहते हैं, सप्तकों के प्रत्येक तत्त्व को प्रजा, ऋषि और यज्ञ पुरुष कहते हैं । यह सप्तवाद में स्पष्ट हो जायगा । इनको सप्त पुरुषाः या ग्रन्थयः भी कहते हैं या पर्व या पर्वाणः भी । इनका वर्णन सृष्टि वृक्ष रूप में बृहदारण्यकीय श० प० ब्रा० (१४-६-९-३० से ३४ तक) में निम्नश्लोकों के द्वारा दिया है ।

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य पर्णानि लोमानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥३०॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातुन्नात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥३१॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्य तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३२॥

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥३३॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते ।
जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः ॥
धानारुह उ वै वृक्षोऽन्यतः प्रेत्य सम्भवः ।
मत्समूलमुद्वृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवत् ॥
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् रोहति ।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम् तिष्ठमानस्य
तद्विद इति ॥३४॥

अथर्व, कठ, मुण्डक और गीता के वर्णित सृष्टि वृक्ष से तुलना करें । समस्त—वेद और वेद-विद्या का मूलाधार यही सृष्टि वृक्ष पुरुष है जिसके कारण वेद को वृक्ष तथा चार वेदों को उसकी मुख्य शाखा, उनकी प्रशाखाओं को

विभिन्न शाखाओं के नाम से पुकारा जाता है। ब्रह्म तथा उसका ज्ञान भी आरण्यक (ज्ञान) कहलाता है। यह वेदवृत्त या ब्रह्मवृत्त या सृष्टिवृक्ष इसी ब्रह्मरूप आरण्यकीय ज्ञान वन में उत्पन्न हुआ है। समस्त वैदिक ज्ञान इसी आरण्यकीय ब्रह्म—ज्ञान वन में उत्पन्न ज्ञानवृत्त या वेदवृक्ष या सृष्टिवृक्ष रूप पुरुष है। इसके विवेचन में ऋग्वेद १०-३१-७ तथा १०-८१-४ में इस प्रकार प्रश्न किया गया है जैसे—

"किं स्विद्वनं क उ स वृत्त आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
संतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त ॥१॥"

इसके उत्तर में तै ब्रा० ने लिखा है—

"ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृत्त आसत्। यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः॥" (२-८-९) इत्यादि

फलतः—अखिल ब्रह्माण्ड, अखिल वैदिकदर्शन और अखिल वेदविद्या एक ब्रह्म—महावृत्त है, जिसका वर्णन श० प० ब्रा० ने उक्त रीति से दे रहा है। इसी के ज्ञाता को 'वेदविद्' नाम से पुकारा भी जाता है 'यस्तं वेद स वेदवित्' (गीता १५–१) जो इसे नहीं जानता उसे न वेदविद् कहा जा सकता है, न वह वेदविद् हो सकता है।

"अष्टौ पुरुषाः" में सात पुरुषों का नाम सप्तर्षि या सप्तमहर्षि है। ये प्रत्येक सप्तक के मुख्य ब्रह्म हैं। अतः प्रत्येक ऋषि या महर्षि या पुरुष सात-सात तत्त्वों या सप्तक का गुच्छा है। ब्रह्म इनसे परे सर्वचूड़ामणि सा पुरुषोत्तम कहलाता है। विश्वकर्मा सूक्त १०।८२।२ में आया "सप्तऋषीन् पर एकमाहुः" वाक्य बहुत भ्रामक है क्योंकि इससे तो उस विश्वकर्मा को सप्त ऋषियों से परे या उत्तरार्द्ध का एक तत्त्व कहा है। सप्तऋषि पूर्ण दर्शन है पर वह धाता-विधाता है अतः एक है। इस ऋचा के सप्तर्षि चतुर्थ सप्तक के अङ्गिरस ऋषि हैं न कि 'पूर्वेसप्तर्षि' जिनका अच्छा वर्णन निम्न ऋचा देती है।

८—अष्टौपुरुषाः

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति॥"
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः।
(ऋ०वे० १।१६४।१५)

यहाँ पर इन चक्रों को एक नया नाम 'धाम' भी दिया है। इन सप्त पुरुषों का वर्णन आगे सप्तवाद में देखें। यहाँ इन ऋषियों को षडष्टक द्वारा षड् बतलाया है अन्यथा ये हैं सात ही। कर्मयोग में केवल चार चक्रों की अनुभूति की जा सकती है। इसका क्रम उलटा है पञ्चम चक्र, तृतीय, सप्तकीय चक्र है जिसकी अनुभूति करने वाले का ब्रह्माण्ड फूट जाता है, यह

ओंकार ब्रह्म योग है, मोक्ष योग है* इसकी अनुभूति के पश्चात् ४५ दिन में तीन पक्ष में ब्रह्म में लीन होता है प्रत्येक सप्तक या पाठ में १५, १५ दिन कपाल क्रिया के बाद लगते हैं जसात्मा, रुद्रात्मा और ब्रह्मात्मा क्रमशः बनता है।

९—सप्तचक्री सप्तवाद

सप्तचक्री सप्तवाद में मूल स्रोत ब्रह्म चक्र को स्वयमधिगत समझा गया है। उससे जो सात चक्ररूप विकास हुए हैं उनका नाना सरणियों में विवेचन दिया गया है। सप्तर्षि, सप्तचक्रवाद—

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः ॥ (ऋ० वे० २-१८-१)
"सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।"
(ऋ० वे० २-४०-३);

"इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः॥" ऋग्वेद १-१६४-३
यहां पूरा दर्शन एक रथ है सात सप्तक इसके सात चक्र या मान अंश है।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१२)

यहाँ प्रत्येक चक्र में प्रथम को छोड़ कर शेष छह तत्त्वों के उस चक्र को 'आरा' नाम से पुकारा है जिससे इनकी संख्या ७×७+१=५० हो जाती है। अथर्ववेद (१९-५३-२) ने उक्त सात चक्रों को काल के चक्रों के नाम से पुकारा है और प्रत्येक चक्र की एक-एक नाभि भी बतलाई है तथा इसके अक्ष को अमृत कहा है जैसे—

"सप्त चक्रान्वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः"

यहां काल के माने विकास काल या ब्रह्म विकास ही माना गया है। यह सप्तवाद या सप्त-चक्रवाद प्राणरूप सप्त ऋषियों का मुख्यतः (८-१-३३ अथर्व-ऋषीणां सप्त सप्तधा) है। पर इस सप्तवाद को वैदिकों ने अनेक सरणियों में ढाला है जिनका संक्षिप्त विवरण यहां दिया जा रहा है। अथर्व का उल्लेख (८-१-२३) दिया जा चुका है, साथ में ऋ० वे० १-१६४-१४ और १०-८२-२ भी उद्धृत किये जा चुके हैं। ये ऋषियों या तत्त्वरूप महर्षियों का ही उल्लेख करते हैं। इनका खुलासा श० प० ब्रा० (६-१-१-१, २, ६, ४,) में बहुत प्राञ्जलता से इस प्रकार दे रखा है—

"असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव ते ऽग्रेऽस-

---

* यह वही मोक्ष योग है जिसे गीता "सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ कहती है। अध्याय ८ श्लोक १२, १३

दासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत्पुरा स्मात्सर्वस्मात् इदमिच्छन्तः (सृष्टिमिच्छन्त) श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः ॥१॥ स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तऽइद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥२॥ तेऽब्रुवन्। न वाऽइत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुमिमान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति तऽएतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत् ॥३॥ अथ यै तेषां सप्तनां पुरुषाणां श्रीः······ ॥४॥"

इन ऋषियों का विवेचन 'ऋषयः' नामक शीर्षक में किया गया है। इन्हीं सप्त ऋषि रूप प्राणों का नाम पुरुष या पुरुषाः भी है। यह यहाँ भी स्पष्ट है, 'सप्त नाना पुरुषान्' का अर्थ ७×७+१=५० तत्त्व है इसका समर्थन श० प० ब्रा० १०-२-२-१ भी 'यान्वै तान्त्सप्त पुरुषान्' इत्यादि वाक्यों से करता है पुरुष सूक्त ऋचा १५ भी देखें। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अन्य प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं।

(१) "सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे।" (ऋ०वे० ८-२८-५) और सप्तऽऋषयोऽसृज्यन्त' (यजु १४-२८)

१०—नाना सप्त — इन सात सप्तकों में सात ऋषि और सातों सप्तकों को सात द्युम्नानि या लोक तथा सात श्री बतलाई गई है।

(२) "सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥" (यजु ३४-५५)। इसमें अखिल ब्रह्माण्ड और दर्शन को शरीर नाम से पुकारा गया (अस्मिन्नश्रयन्त तस्माद् शरीरम् श० प० ब्रा० ६-१-१) प्रत्येक सप्तक को 'सदः' संज्ञा दी गई है, चतुर्थ सप्तक के साथ आपोमय तत्त्व लोक को या भौतिक स्वरूप को पा जाते हैं तथा उसमें पूर्वार्द्धीय ब्रह्मजीव, तैजसात्मारूप में जाग्रत रहते हैं और संरक्षक की तरह व्यवहार करते हैं।

(३) सप्त तेऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥" (यजुः १७-७९)।

इसमें अग्निः सर्वादेवता का विवेचन देते हुए उसके सात सप्तकों में जो विकास होते हैं, उन्हें कभी सात समिध कहते हैं, कभी सात जिह्वायें (अग्नि की जिह्वायें अग्नि के समिध) कभी सात धाम या सात ऋषि, कभी सात होता, जो प्रत्येक सप्तक में सात-सात प्रक्रम से (सप्तधा) विकास पाते हैं (यजन्ति) रूपक लौकिक यज्ञ का है, परमार्थ में दार्शनिक विकास दिखलाने की चेष्टा है। यज्ञ या यज्ञ माने विकास होता है (यज्ञ देखें)।

(४) "सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त।" (ऋ०वे० ९-११४-३; १०-६३-७; १०-३४-१०; ९-६०-१६)।

यहाँ पर उक्त ऋषियों को सप्त होतार ऋत्विक् और सातों सप्तकों को सप्त आदित्य या अदितिभव बतलाया है। यहाँ भी वही रूपक है जो पूर्ववर्ती ऋचा में बताया जा चुका है। यही भाव 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता।' (यजु ३४-४) मंत्र में भी निहित मिलता है।

(५) सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥"
(ऋ०वे० १०-१३०-७)।

यह मन्त्र लौकिक और दार्शनिक दोनों प्रकार के ऋषियों में घट तो सकता है, पर यहाँ पर 'दैव्या ऋषयः' पद इनको एकान्ततः दार्शनिक ऋषि घोषित कर देता है। फिर भी लौकिक मन्त्र रचयिता ऋषियों की कृतियों पर भी ध्वनि से प्रकाश डालने में समर्थ हैं। ये ऋषि दार्शनिक तत्त्व हैं। इसका प्रमाण इसी सूक्त के कुछ अन्य मन्त्र इस प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं। जैसे—

यो यज्ञो (सृष्टि विकास यज्ञः) विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥१॥ पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्। इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे॥२॥" १०-१३०-१, २।

यहाँ पर विकासीय तत्त्वों को वस्त्र की तरह बुना जाना और उनके विकासों को पट या सदः तथा विकास करने वालों को पुमान (यज्ञपुरुष) पितर या ये ही महर्षि बतलाये गये हैं। इन बुनकारों में अग्नि (ब्रह्म) नाम भी आता है जो यज्ञ या विकास से सृष्टिपट को बुनता है जैसे—

अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।
(ऋ०वे० १०-५२-४)।

(६) अन्य मन्त्रों में "ऋषयः सप्त विप्राः" (ऋ० वे० ९-९२-२) और "वाणीर्ऋषीणां सप्त" (ऋ०वे० ९-१०३-३) "ऋषीणां सप्तधीतिभिः" (ऋ० वे० ९-६२-१७) इत्यादि इन्हीं दार्शनिक तत्त्व रूप ऋषियों का उल्लेख करते हैं। इनका समर्थन अथर्ववेद (१०-८-९) बृहदा० उप० (२-२-३) इस मन्त्र से करता है।

"तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥"

अन्तिमपाद में (बृह-पाठान्तर) वागष्टमी ब्रह्मणा सम्विदाना। प्रथमपाद में 'अर्वाग्बिल' प्रारम्भ में है।

(७) उक्त ऋषियों का नाम 'कविः, कारुः और विप्राः' भी है उन्हें भी सप्तसंख्या में ही पुकारा गया है जैसे—

"सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।"
(ऋ०वे० १०-५-६)

यहां पर सात सप्तकों या सदों को मर्यादा नाम से पुकारा है तथा अन्तिम भौतिकता की पूर्णता आ जाने से उससे अखिल स्थूल भौतिक ब्रह्माण्ड मर्यादाहीन सीमातीत रूप में होने की बात कही गई है। कारु नाम 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना' (ऋ० वे० ९-११२-३) और 'आ ते कारो श्रृणुवामा' (ऋ० वे० ३-३३-१०) इत्यादि ऋचाओं में मिलते हैं। और इनको भी संख्या में साथही बतलाया है जैसे—

इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः।"

(ऋ० वे० ४-१६-३)

विप्रनाम पहिले आ चुका है (ऋषयः सप्त विप्राः ९-९२-२)

विप्राः* शब्द कहीं-कहीं पर चतुर्थ सप्तक के अङ्गिरस ऋषियों के लिए भी आता है और ऐसे स्थलों में इस शब्द के साथ 'अङ्गिरस' विशेषण भी प्रायः अनिवार्य रूप से आता है, इसके बारे में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए जैसे ऋ० वे० (४-२-१५) ने लिखा है—

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥४।२।१५॥

मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः।

ऋग्वेद ४।२।१८

इस ऋचा का पूरा प्रसंग चतुर्थ सप्तकीय है जिसमें उषा, दिवस्पुत्रा, अद्रि, उर्वशी और उपस्थ शब्द इस सप्तक के तत्त्वों का ही निर्देश कर रहे हैं। वास्तव में विप्र नाम प्रत्येक सप्तक के एक-एक तत्त्व का नाम है, सप्तक के साथ विप्ररूप-तत्त्वों के समुदाय को ऋषि कहते हैं या इनके मुख्य ब्रह्म को ऋषि कहते हैं जैसे 'ऋषिर्विप्राणाम्' (ऋ० वे० ९-९६-६)

(८) श० प० ब्रा० (८-१-१; ८-१-२) आदि ग्रन्थों ने उक्त ऋषियों का तादात्म्य यज्ञपुरुष या सृष्टि विकासीय पुरुष के विभिन्न अंगों से करते हुए जमदग्नि, वर्षर्तु, जगती, शुक्र और विश्वव्यचा (सूर्य आदित्य) को उस पुरुष की 'चक्षुः' नाम से पुकारा है, शरदृतु, अनुष्टुप्, मन्थी, एकविंशस्तोम, वैराज, और विश्वामित्र को 'श्रोत्रम्' नाम से, वसन्त, गायत्री, उपांशुग्रह, त्रिवृतस्तोम और वसिष्ठ को 'प्राणों' के नाम से, ग्रीष्म त्रिष्टुप्, स्वारंसाम, अन्तर्यामग्रह (उदान) बृहत्पृष्ठस्तोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, वाग् और भरद्वाज को 'मनः' नाम से। इस प्रकार वेदों में ऋषियों का वर्णन दो प्रकार से मिलता है—एक दार्शनिक दूसरे ऐतिहासिक। जैसे सूर्य के वर्णन में अत्रि के बारे में कहा

---

* कहीं-कहीं पर सप्त ऋषि शब्द भी सात अङ्गिरस ऋषियों के लिए आया है जैसे "सप्त ऋषिन् पर एकमाहुः" में एक ऋषि विश्वकर्मा है, वह अङ्गिरसों से परे है। यह भाव है (ऋ० वे० १०-८२-२)

गया है, मन्त्र रचयिता भी अत्रि है, तत्त्व भी अत्रि ही है, उसी की आँख को सूर्य कहा गया—

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अधुक्षत् ।"

(ऋ० वे० ५-४०-८)

यहाँ 'अत्रि ने दिव में सूर्य की आँख धारण की' और स्वर्भानु की माया को दुहा' कहने का तात्पर्य—'अत्रि रूप २४ वें तत्त्व ने सूर्य को आँख (अङ्कुर) की तरह धारण किया जिसमें भौतिकात्मा का आवरण लगा तो उसी से भौतिक सृष्टि का दोहन किया गया, (सूर्य तत्त्व को देखें)। पुराणों ने इस कथा का अनुसरण करके अत्रि की आँख से चन्द्रमा के उदय या जन्म की कथा दे रखी है, सूर्य २५ वें (चक्षु) तत्त्व से २६ वें चन्द्र या इन्दु या सोम का विकास होता है, यह दाशनिक और परम वैज्ञानिक कथन है पर लोग इसे न समझकर ऐसी बातों की मखौल उड़ाते दिखाई पड़ते हैं।

इस सप्तचक्री सप्तवाद में प्रत्येक सप्तक एक-एक ऋषि या मनु हैं और ये प्रत्येक सप्तक के प्रथम तत्त्व हैं। इन सप्तकों में से प्रत्येक में सात या आठ या छह जैसी विवक्षा या छन्दः ही उतने तत्त्व होते हैं। गीता ने भी इन महर्षियों को यज्ञ पुरुष के मनः (इच्छां अर्षन्तीति ऋषयः) से उत्पन्न बतलाते हुए लिखा है "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥" (१०-६) यहाँ का प्रजा शब्द अखिल सृष्टि का वाचक है। प्रत्येक सप्तक में सात-सात तत्त्वों का निर्धारण या उल्लेख निम्न मन्त्र कर देते हैं। जैसे अग्निः सर्वा देवता का विवेचन आग्नेय विकासों द्वारा देते हुए, प्रत्येक सप्तक को दम (गृह) कहकर प्रत्येक दम या गृह में सात-सात रत्नरूप सात तत्त्वों को धारण करने वाला कहा है जैसे "दमेदमे सप्त रतना दधानो ऽग्निः" (ऋ० वे० ५-१-५; ६-७४-१) अतः "अग्निमीले पुरोहितं······रत्नधातमम्" (ऋ० वे० १-१-१) के रत्नधातम शब्द का अर्थ भी यही है कि वह ७×७+१=५० तत्त्वों को धारण करने वाली अग्नि है। इसका समर्थन आपको श० प० ब्रा० ८-१-१-२ में स्पष्ट मिलेगा जिसमें साफ लिखा है कि प्राणों की संख्या १०,१० के पाँच पञ्चकों में ५० होती है जैसे "दश वै प्राणा यदु वाऽअपि बहु कृत्वो दश-दश दशैव तत्पञ्च कृत्वो दश-दशोपदधाति।" यहाँ पञ्चपर्वाविद्या के अनुसार वर्णन है, यही भाव आपको मुण्डक उप और ना. उप. (२-१; उत्तरार्द्ध ११) के निम्न मन्त्र में मिल जायगा। "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मातसप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त।" इसमें सप्त-सप्त' में वीप्सा नहीं है वरन् ७×७ का भाव है, प्राणों का विवेचन सदा ही सप्त सप्तकों में ७×७=४९ (सप्तधा सप्तभिन्नाः) अर्थ में *ही किया जाता है। यहां

११—सप्तप्राणवाद
७×७=४९
प्राणाऋषयः

* सप्त×सप्त हि मारुतो गणः' (श. प. ब्रा. २-५-१-१३) **तस्मान्मारुतः सप्तकपालः पुरोडाशो भवति'**

प्राणों का ही विवेचन मुख्य है, यहाँ सप्त×सप्त (७×७) निहिताः कहा गया है कि सात के सात गुने रखे गये हैं और उनको ही अर्चिषः, समिधः और लोकाः बहुवचन में कहा गया है, इन्हीं में से पूर्वार्द्ध के २४ प्राण गुहाशायी कहलाते हैं। अर्चिष भी ४९ ही हैं, समिध भी ४९ ही हैं, सात लोकों में रहते हैं, उनका पूर्वार्द्ध गुहा या गुफा में शयित या सुप्त रहता है। श्री शंकराचार्य जी ने इसका गलत अर्थ किया है। ऐतरेय ब्राह्मण (६-३-९) ने उक्त मत की पुष्टि में लिखा है 'ते हैके सप्त सप्तान्वाहुः' अर्थात् उन सप्त लोकों या पुरुषों या सप्तकों को पुनः सात-सात में विभाजित किया गया है। इसका अधिक स्पष्टतया स्पष्टीकरण आगे दिये जाने वाले त्रिः सप्तवाद या त्रिचक्रवाद से हो जायगा। पूर्वोक्त मुण्डक और नारा. उप. के मन्त्र का आधार ऋ०वे० १०-५५-१ का "पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।" मन्त्र में सप्त की पुनरुक्ति से ७ को ७ बार गुणित करके ४९ मानने का आशय है। यहाँ व्यर्थ की वीप्सा नहीं है, पूर्ण तत्त्व ग्राही गुणित शब्द हैं।

सप्तचक्री सप्तवाद वैदिक आर्यों को इतना अधिक प्रिय तथा मार्मिक लगा कि इस सप्तवाद को नाना शाखाओं तथा सरणियों ने नाना रूपों में स्वीकार कर अपने समय में प्रचलित सभी विद्याओं का सार निचोड़ कर रख दिया है। अब वे शाखायें, विद्यायें तथा दार्शनिक सरणियाँ प्रायः नष्ट हो गई हैं। अतः लोग उनका अर्थ लौकिक या ऐतिहासिक या भौगोलिक वस्तुओं में घटाते आ रहे हैं।

सबसे पहिले वैदिकों ने उक्त सप्तवाद या सप्तचक्री दर्शन के प्रत्येक चक्र या सप्तक का नाम 'संसदः' या महासभा रखा है और पूरे सप्तचक्री दर्शन में सात संसदों या महासभाओं को माना है। इससे स्पष्ट है

१२—सप्त संसदः

कि प्रत्येक सप्तक, सात-सात तत्त्वों की सभा थी, क्योंकि सभा या महासभा एक, दो की नहीं होती जैसे "यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः॥" (ऋ०वे० ८-९२-२०)। इसका समर्थन यजुर्वेद (२६-१) "सप्त संसदोऽष्टमी भूतसाधनी" मंत्र से करता है। इस मन्त्र की अष्टमी भूतसाधनी वही अष्टमी वाग् (ब्रह्म) है, जिसे अथर्व 'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' कहता है (ऋषयः देखें)।

१३—सप्तमुखः, सप्तरश्मिः

"बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि॥"
(ऋ०वे० ४-५०-४)

'कालो अश्वो वहति सप्त रश्मिः' (अथर्व १९-५३-१) "सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान-वासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्" (ऋ०वे० २-१२-१२)

१४—सप्तशीर्ष्णीः (वाग्)

"इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्यो ऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्॥"
(ऋ०वे० १०-६७-१)

यह वाग्ब्रह्म (बृहती) रूप स्त्री का वर्णन है जिसके चतुर्थ सप्तक से भौतिकात्मा द्वारा भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि के सूत्रपात की बात तथा उसके पहले इन्द्र के सौ यज्ञ (शतक्रतुता) पूर्ण करने की बात कही गई है। तथा "अर्कं सप्तशीर्षाणम्" (ऋ०वे० ८-५१-४) में अर्क या प्रथम तत्त्व को सप्त शिर वाला कहा गया है। अर्क माने आदित्य या सूर्य नहीं है; यह प्रथम तत्त्व है, बृह० उप० १-१-१ देखें।

१५—सप्तहस्त — "सप्तह स्तासो अस्य" (ऋ० वे० ४-५८-३)

सप्त छन्द या सप्तवाणीः — "एकं गर्भं दधिरे सप्तवाणीः" (ऋ० वे० ३-१-६) "वाणीर्ऋषीणां सप्त" (ऋ० वे० ९-१०३-३) "चतुष्पदा ऽक्षरेण मिमते सप्तवाणी" (ऋ० वे० १-१६४-२४) "वाचा प्र णयन्ति मप्त" (ऋ० वे० १०-११४-७)

१६—सप्त मातरः — "जज्ञानं सप्त मातरो वेवामशासत श्रिये" (ऋ० वे० ९-१०२-४; ९-६६-६; ९-६६-२५, ३६, १०-१३-३)

"अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः"

(ऋ० वे० ८-९६-१)

"द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु" (ऋ० वे० १-१४१-२) "सिन्धुमातरः" (१०-७८-६)

१७—सप्त स्वसारः — "सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र" (ऋ० वे० १-१६४-३) 'सप्त स्वसारो' (ऋ० वे० १-१९१-१४; ९-९६-३६)

सप्त स्वसृररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम्।"

(ऋ० वे० १०-५-५)

१८—सप्त सिन्धवः — "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥"

(ऋ० वे० ८-६९-१२)

"अवर्धयन् त्सुभगं सप्त यह्वीः" (ऋ० वे० ३-१-४)
"वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः। (ऋ० वे० ६-७-६)
मृजन्ति त्वा नद्यः सप्त यह्वीः॥" (ऋ० वे० ९-९२-४)

'तवेमे सप्त सिन्धवः' (ऋ० वे० ९-६६-६)

"सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित॥"

(ऋ० वे० १०-१०४-८)

"स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्॥"

(ऋ० वे० १-७२-८)

"(सप्त) वव्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः ।"
(ऋ० वे० ३-१-६)

"अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि ।"
(ऋ० वे० १०-४९-९)

"अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून्" (ऋ० वे० १०-६७-१२)
अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो (सप्त) दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥"
(ऋ० वे० १-३२-१०)

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया ऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥"
(ऋ० वे० १०-७५-५)

"सिन्धुमातरः (ऋ० वे० १०-७८-६) "अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्" (ऋ० वे० २-१२-१२)

१९—सप्तार्णवाः "या सप्तबुध्नमर्णवं जिह्मबारमपोर्णुत इन्द्र"
(ऋ० वे० ८-४०-५ ।)

"सप्त क्षरन्ति शिशवे" (ऋ० वे० १०-१३-५; अथर्व ७-५७-२)

२०—सप्तमर्यादाः "सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्"
(ऋ० वे० १०-५-६)

२१—सप्तपरिधयः 'सप्तास्यासन् परिधयः' (ऋ० वे० १०-९०-१५) (पुरुष सूक्त ऋचा. १५ का अर्थ देखें)

२२—सप्ततन्तुः इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् ।
असो हव्यवालुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः ॥"
(ऋ० वे० १०-१२४-१)

"मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम् ।
अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् ॥"
(ऋ० वे० १०-५२-४)

"वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ ।"
(ऋ० वे० १-१६४-५)

"चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥"
(ऋ० वे० १०-११४-३)

२३—सप्तवाजिनः "यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितं हविष्मन्त ईलते सप्त वाजिनम् ।"
(ऋ० वे० १०-१२२-४)

२४—*सप्तधामानि "सप्त धामानि परियन्नमर्त्यो (ऋ० वे० १०-१२२-३) "पृथिव्याः सप्त धामभिः" (ऋ० वे० १-२२-१६) "दमेदमे सप्त रत्ना दधाना ।" (ऋ० वे० ६-७४-१; ५-१-५)

२५—सप्तपुरः "एषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः ।" (७-१८-१३)
"सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन् ।" (ऋ० वे० ६-२०-१०)
"आ दर्षते शवसा सप्त दानून् ।" (ऋ० वे० १०-१२०-६)

२६—सप्तपदानि "ऋताय सप्त दधिषे पदानि ।" (ऋ० वे० १०-८-४)

२७—सप्तजिह्वम् "होतारं सप्त जुह्वो यजिष्ठम् ।" (ऋ० वे० १-५८-७) "वह्नयः सप्तजिह्वाः" (ऋ० वे० ३-६-२)

२८—सप्तपुत्रम् "विश्पतिं सप्तपुत्रम् ।" (ऋ० वे० १-१६४-१) "सप्तभिः पुत्रै-रदितिः" (ऋ० वे० १०-७२-९)

२९—सप्तदिशः, सप्त होतारः, सप्त ऋत्विजः, सप्त देवाः, सप्तादित्याः "सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त" (ऋ० वे० ९-११४-३; १०-६३-७; ८-६०-१६)
"सप्त होतारऽऋतुशो यजन्ति" (यजु० २३-५८)

३०—सप्तशाकिनः "सप्त मे सप्त शाकिन ।" (ऋ० वे० ५-५२-१७; ८-२८-५३)

३१—सप्तऋतु "पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त ।" (ऋ० वे० १०-५५-३)
सप्त × सप्त = ४९ अर्थ है। "सप्ततंवो हि सप्त"
(अथर्व० ८-५-२०)

३२—सप्तसप्ती, सप्त सप्ति (सप्ताश्च) "यूयं सखायः सप्तयः ।" (ऋ० वे० ८-२०-२३)
"प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः ।" (ऋ० वे० १-८५-१)

"तमा वहन्तु सप्तयः पुरूवसुं मदाय हरयः सुतम् ॥"
(ऋ० वे० ८-४६-७)

"आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः ।"
(ऋ० वे० १-८५-६)

"उपाजिरा पुरुहूताय सप्ती हरी रथस्य धूर्ष्वा युनज्मि ।"
(ऋ० वे० ३-३५-२)

---

*इन सात धामों में से 'महिषो मृगाणाम्' (ऋ० वे० ९-९६-६) के महिष, सोम का धाम तृतीय धाम बताया है जैसे "तृतीयं धाम महिषः सिषासन्" (ऋ० वे० ९-९६-१८) तथा अब्जा, नृषद् (भुवन या सदः) (ऋ० वे० ४-४०-५) का स्थान चतुर्थ धाम बताया है जैसे "अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥" (ऋ० वे० ९-९६-१९) यही चमू भी है ।

"उत्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्" (ऋ० वे० ८-४६-२६) "तिसॄणां सप्ततीनाम्" (ऋ० वे० ८-१९-३७) 'सप्तिरसि' (यजु० २२-१९)

३३—सप्तसुपर्णाः "सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः" (अथर्व० ८।९।१७)।

३४—सप्तगृध्राः "ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्" (अथर्व० ८।९।१८)।

३५—सप्तदीक्षाः सप्तछन्दांसि "सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः" (अथर्व ८।९।१७)। "सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि" (अथर्व० ८।९।१९)।

३६—सप्ताज्यानि (सप्तप्राणाः) "सप्ताज्यानि परि भूतमायन्" (अथर्व० ८।९।१८)।

३७—सप्तहोमाः सप्तसमिधः "सप्त होमाः समिधो ह सप्त" (अथर्व० ८।९।१८)

३८—सप्तहरयः (सप्ताश्व) "सप्त त्वा हरितो रथे" (ऋ०वे० १-५०-८, अथर्व १३-२-२३, २०-४७-२०, तै० सं० २-४-१४-४) "तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्" (नारा० उप० उत्तरार्द्ध ४०) 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्। (ऋ० वे० १-१६४-२)

३९—सप्तहोतारः "सप्त होतारस्तमिदीलते।" (ऋ० वे० ८-६०-१६) 'सप्त होत्राणि मनसा' (ऋ० वे० ३-४-५)

४०—सप्तवीराः "सप्त वीरासो अधरात्" ऋ० वे० १०-२७-१५)

४१—पूर्वोक्त कुछेक का एकसाथ समाहार तथा सप्तप्राणाः, सप्तयोनीः, सप्तार्चिषः नवीन हैं।

१—सप्त ते ऽग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥"
(यजु० १७-७९)

२—"सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥
(मुण्ड० २-१-८, नारा० उप० ११)

३—"ब्रह्मा देवानां पदवीः कविनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥"
(ऋग्वेद ९-९६-६)

४—"ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः।
अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। घृतस्य धारा अभिचाकशीमि।

हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी
भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः। स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्॥"
(यजु० १३-३९, नारा० उप० ४०)

५—"सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्॥"
(अथर्व ८-९-१८)

सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे।"
(ऋ० वे० ८-२८-५)

६—"सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।"
(अथर्व० ८-९-१९)

७—"प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥१॥
सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषः स होता।
अन्यस्या गर्भमन्य ऊ जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा॥"
(ऋ० वे० २-१८-१,२)

आजकल के योगशास्त्र में षट्चक्रों की ही चर्चा अधिक मिलती है। वे पुराने अष्टचक्र और सप्तचक्र प्रायः विस्मृत से हो गये हैं। पर षड्चक्र भी उसी वैदिक दर्शन के तत्त्वों को छह भागों में विभक्त करता है।

४२—षट्चक्र या षड्वाद जिससे यह अष्टचक्रों या सप्तचक्रों का कार्य भी पूर्णरूपेण प्रतिपादित कर लेता है। यह षड्चक्रवाद गायत्री के पादों के आधार पर तीन पाद पूर्वार्द्ध में और तीन पाद उत्तरार्द्ध में बनाकर कुल षड्पदी या षड्पाद या षड्चक्र बनाता है। इसके प्रत्येक पाद में आठ-आठ तत्त्व होते हैं, चक्रों में ये ही अष्टदल कहलाते हैं। अष्टचक्र षड्दल होता है, सप्तचक्र सप्तदल, षड्चक्रों को इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण 'अष्टषट्क' या 'षडष्टक' नाम से पुकारता है (५-२-१२,४-३-२६)। ऋग्वेद तथा अथर्व वेद ने इन षड्ष्टकों या षट्चक्रों को षड्उर्वी या षड्-भूमि, मही, रजांसि, भारा, व्रता (नि), ऋतु आदि नामों से पुकारा है। इन चक्रों के नाम षड्ऋतुओं के आधार पर भी निश्चित किये गये हैं। संवत्सर ब्रह्म में छह ऋतुयें होती हैं, प्रत्येक ऋतु एक अष्टक या चक्र है। यह बात ऐ.ब्रा. के दिये प्रकरणों में स्पष्ट है। आगे त्रिवाद देखें। ऋग्वेद में इन षड्चक्रों को इस प्रकार वर्णित किया गया है। प्रत्येक चक्र एक-एक उर्वी या (उर्णोतीति वा वयतीति उर्वी वा) भूमि है, अतः लिखा है॥"

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥"
(ऋ० वे० १०-१४-१६)

यहाँ त्रिकद्रुक के लिए त्रिष्टुप् छन्दाक्षर तत्त्व हैं तो षडुर्वी के लिए गायत्री छन्दाक्षर, यह भी नितरां स्पष्ट किया गया है। षड्चक्रों को षड्भाराः या छह बोझ कहा गया है जिन्हें गायत्री छन्द एक-एक चरण से (या में) ढोता है। छन्द देवताओं या तत्त्वों को ढोने वाले पशु हैं (पशुवाद देखें)। अतः लिखा है—

षड् भाराँ एको अचरन् विभर्त्यृ तं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका॥"
(ऋ० वे० ३-५६-२)।

इन छह भारों में से तीन चक्रों या भारों को 'गुहा' (पूर्वार्द्ध) में निहित बतलाया है, जिनमें से एक दृश्य (दृश्या) है, दो गुप्त हैं, तथा उत्तरार्द्ध की तीन महीधर भूमियों को उसके समीप प्रस्तुत बतलाया है। इसी बात के समर्थन में (ऋ० वे० ७-८७-५) में "तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः" लिखकर भूमि को षड्विध बतलाया है। इन्हीं षड्चक्रों को ऋग्वेद (४-२-१२) दुर्ग या दुर्या (दुःखेन यातीति दुर्या दुर्गवत् दुःखेन गच्छतीति) नाम से पुकारते हुए लिखता है कि ऋषि या कवि या योगी अप्रतिहत शक्ति से तुम षट्चक्रों में प्राणों को धारण करते हुए तुम्हें दृश्य करके अद्भुत ब्रह्माण्ड रूप अर्थ को साक्षात् देखते रहते हैं, (ये चक्र तो अद्भुत और बड़े भारी काम के या सर्वव्यापी तत्त्व हैं) जैसे—

"कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्यां अग्न एतान् षड्भिः पश्येरद्भुतां अर्य एवैः॥"

इन षड्चक्रों को ही पुनः 'सप्तहस्तासो अस्य' की शैली में षड्हस्तरूप चक्र बतलाया गया है, जैसे—

अधा ह यद्वयमग्ने त्वाया षड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः॥"
(ऋ० वे० ४-२-१४)

यहाँ पर छह हस्तरूप तनुओं से या चक्रों से हम सब हे अग्ने! रथ की तरह शरीर से चलते हैं, ये बहुतों से मिलकर बनने पर भी अपने आदिस्वरूपी ऋत को स्मरण करते हुए उसके पास पहुँच ही जाते हैं। अन्यत्र दर्शन के पूर्वार्द्ध को त्रिद्यून् या तीन दिव और उत्तरार्द्ध को तिस्रोभूमि बतलाते हुए कुल छह या षड्चक्रों का वर्णन दिया गया है। जिनमें एक दूसरे को जोड़ने के तीन व्रत या नियम भी बतलाये हैं जैसे—

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रिरुत द्यून त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु॥"
(ऋ० वे० २-२७-८)

शेष आगे त्रिपाद में देखें। अन्त में इन षड्चक्रों को ऋग्वेद षड्रजांसि के नाम से पुकारते हुए लिखता है—

"वि यस्तस्तम्भ षलिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।
(ऋ० वे० १-१६४-६)

अथर्ववेद ने इन षड्चक्रों का वर्णन इस प्रकार दिया है। इस वेद ने इनके कई नये-नये नाम दिये हैं जैसे—

"षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥"
(अथर्व० ८-९-१६)

"षडाहुः शीतान्षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।"
(अथर्व० ८-९-१७)

"षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश।" (अथर्व० ४-११-१)
"अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद्दुरितादवद्यात्।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम॥"
(अथर्व० १२-२-४८)

"षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः॥" (अथर्व० १३-१-४)
श्वेताश्वतर ने इसे 'अष्टकैः षड्भिः विश्वरूपैकपाशं' (श्वे० उ० ४) कहा है।

यह सरणि गायत्री की सरणि है और सबसे अधिक सरल है। अतः सबसे अधिक प्रचलित है। अब लोग इन्हें केवल वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में ही समझते हैं। वास्तव में ये तो दर्शन के मौलिक चक्र हैं; शरीरादि में उन्हीं के स्थूल रूप हैं 'षडर आहुरर्पितम्' (ऋ० वे० १-१६४-१२)।

पञ्चचक्रवाद पञ्चपर्वा विद्या है। पञ्चपर्वा विद्या वैदिकों की एक गम्भीर विद्या है। इस विद्या का आज के युग में सर्वथा लोप हो गया है। यह लोप या नाश यास्क और गीता के युग से भी पहिले ही हो चुका था, क्योंकि इन्हों ने इसकी कहीं चर्चा ही नहीं की है। हमारी संस्कृति का अधिकांश इसी पञ्चपर्वा विद्या में ढला है। इस पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा गया है; उसे पढ़कर इसका रहस्य जान लेने का कष्ट किया जाय। पञ्चपर्वा विद्या में पूरा दर्शन क्षेत्र पांच भागों में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक पञ्चक में दस-दस तत्त्व होते हैं, कुल मिलाकर ५० तत्त्व हो जाते हैं। श्वेताश्वतर का यह वाक्य 'पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः' श्वे० उ० ५.) इसी विद्या की ५० तत्त्वों की घोषणा करता है।

४३—पञ्चचक्र या पञ्च वाद

इसको ऋग्वेद (१-१६४-१२) 'पञ्चपादं पितरं' नाम से पुकारते हुए लिखता है—

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥"

कि जिसको अन्य आचार्य सप्तचक्री षडर कहते हैं उसी को अधिक आचार्य या महर्षि पञ्चपाद पितर नाम से पुकारते हैं जिसके दोनों भागों में

संवत्सर ब्रह्म के द्वादश आकृति या मास (दो-दो तत्त्वों का एक मास, एक तत्त्व, एक पक्ष, कुल १५×२४=३६० दिन+३६० रात) होते हैं और इसके उत्तरार्द्धीय रात्रिभागीय चक्रों या पादों में ब्रह्म को पुरीषिन् या पुरीशेते इति पुरीषी, भौतिकात्मा की पुरी में सोने वाला कहा जाता है; पूर्वार्द्ध के दिनरूप पादों में वह निष्केवल आध्यात्मिक पुरुष होता है। यह विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य बात है कि पञ्चपर्वा विद्या या पञ्चचक्री दर्शन से आपः नृषद् के मनुष्य तत्त्वों और ओषधि नामक तत्त्वों का समस्त व्याख्यान किया जाता है, जैसे पहले बतलाया भी जा चुका है जैसे—

"अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे॥" (अथर्ववेद ८-९-२३)

यदि पूरे दर्शन को एक ही चक्र माना जाय तो इन पाँच पर्वों को उस एक चक्र की पाँच आरा कहते हैं, इसका वर्णन यह ऋचा देती है।

"पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१३)

पाँच आरे वाले इस चक्र में अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त भुवन मौलिक स्वरूप में समाये रहते हैं, उसका अक्ष इतने भारी बोझ होने पर भी न तो घिसता ही है, न उष्ण होता है, वह अनादिकाल से (सनादेव) न सड़ता है, नाभियुक्त सदा नया ही रहता है। इस पञ्चपर्वा विद्या के पञ्चचक्री दर्शन रथ के प्रत्येक चक्र में दस-दस तत्त्वों का उल्लेख भी ऋग्वेद स्वयं निम्न ऋचा से दे देता है—

"सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१४)

इस पञ्चपर्वीय पञ्चचक्री सनेमि अजर चक्र को विवर्त रूप से उत्तानित करके दस-दस तत्त्व नियुक्त होते हैं। इसके मध्यस्थल में विराजमान सूर्यतत्त्व की चक्षुष्मत्ता या दिव्य दृष्टिरूप भौतिकता रजोरूप में उसे व्यावृत्त कर तो लेती है, पर उसी आवरणीय रजोरूप चक्षुष्मत्ता में ही अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के समस्त भुवनों के मौलिक बीज समर्पित या सुरक्षित से रहते हैं।

पञ्चचक्री पञ्चपर्वा विद्या के तत्त्वों की गिनती अङ्गुलिसरणि से की जाती है। इसका वर्णन वहाँ निम्न ऋचा में स्पष्टतया दिया हुआ मिलता है, जैसे—

"दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
४४—अङ्गुलिसरणि　दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥"
(ऋ० वे० १०-९४-७)।

यहाँ 'अवनि' शब्द का अर्थ 'अङ्गुली' है उसी सरणि की कक्ष, योक्त्र, योजन,

अभीशु, धुरः स्वरूपों में यह विस्तार पूर्वक वर्णन देती है। प्रत्येक सरणि में दस-दस की संख्यायें अवश्यमेव स्वीकार की गई हैं। इस पञ्चचक्री पञ्चपर्वा विद्या को प्राचीन महर्षियों ने पञ्चऋतुओं के आधार पर प्रतिष्ठापित किया था, पञ्चचक्रों को 'पञ्चदेवाः' भी कहते थे और 'पञ्चजनाः' भी जैसे—"पञ्चदेवाँ ऋतुशः ॥" (ऋ० वे० १०-५५-३) यहाँ पर लिखा है कि जिन्हें सप्तऋतुवादी सप्त-सप्त चक्र कहते हैं उन्हीं को ऋतुवादी पञ्चर्तवः या पञ्चपर्वा या पञ्चचक्री विद्या या दर्शन कहते हैं। कोई-कोई इन्हें 'पञ्चपदानि' कहते हैं जो 'पञ्चपादं पितरं' कहने के स्थान में पाद के स्थान में पदानि मानते हैं जैसे—

"पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि ॥"
(ऋ० वे० १०-१३-३, अथर्व १८-३-४०)

जैसे सप्तपदी, अष्टपदी या षट्पदी हैं वैसे ही पञ्चपदी या चतुष्पदी भी हैं। पञ्चपदी विराट् को पाँचपाद देती है तो चतुष्पदी जगती को चार पाद। इनका विवेचन अक्षरब्रह्म के अक्षरों से किया जाता है। वे अक्षर इन चक्रों की नाभियों में निहित हैं। श०प०ब्रा० ८-१-१-१ में प्राणभृत की व्याख्या में ५० प्राणों को १०-१० के पाँच भागों में या ५० भागों में वर्णित कर उक्त कथन की पुष्टि की गई है।

४५—पञ्चचक्रों के अनेक नाम और रीति

अथर्ववेद ने इन पञ्चचक्रों के अनेक नये नाम सुरक्षित रख दिये हैं वे हैं व्युष्टि (व्यष्टि) गा, दोहा, ऋतु, दिश इत्यादि। इनकी गणना पाँच दशों से (पञ्चदशेन) की जाती है यह भी इस वेद ने उल्लेख करके उक्त तथ्य को प्रामाणिकता दे दी है। इनके शिर में ब्रह्मरूपिणी व्युष्टि, गा, दोहा, ऋतु और दिक् हैं जैसे—

"पञ्चव्युऽष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन (१० × ५ = ५०) क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥"
(अथर्ववेद ८-९-१५)

इन पचासों का एक ही बोझ है या एक ही शिर है या एक ही दर्शन है, यह भी इसी से स्पष्ट है। यजुर्वेद (१६-६४) ने पञ्चदिशाओं का वर्णन चक्राकार आसन्दी के रूप में इस प्रकार दिया है जैसे—

"नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः।
तेभ्यो नमोऽअस्तु···॥"

यहाँ प्रत्येक दिशा में दस-दस तत्त्वों का निर्देश कुल ५० का उल्लेख रुद्र विकास शैली की पूर्ण व्याख्या देता है। इसका विशद् वर्णन 'पञ्चपर्वा विद्या' नामक शीर्षक में दे दिया गया है। इसके अनेक भेद हैं वे सब वहीं वर्णित किये गये हैं। इन्हीं का नाम पञ्चजनाः तथा पञ्चदेवाः भी है, (ऋ० वे० १०-५५-३)

"आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन॥"

यहाँ पर इनका विकास शब्दब्रह्म के ज्योतींषि से या प्रकाशरश्मियों के विवर्त रूप में बतलाया गया है।

४६—चतुश्चक्र

चतुश्चक्र का वर्णन नहीं के बराबर है। पर जगती के चार पादों से चार पाद या भाग या चक्र हो सकते हैं उसे ऋ० वे० (२-१८-१ पूर्वोद्धृत) चतुर्युग और ऋ० वे० (१०-१३-३) तथा अथर्व (१८-३-४०) पूर्वोद्धृत चतुष्पदी नाम से पुकारते हैं। परन्तु वेदों में अन्यत्र चतुष्पदी या चतुष्पाद् नाम प्रथम चार सप्तकों या ३ देवताओं (+प्रथम ब्रह्म+अन्तिम इन्द्र या इन्द्र और प्रजापति या वषट्कार के लिए ही प्रयुक्त मिलता है। इनका वर्णन गायत्री ब्रह्म, गुहा और चतुष्पाद्ब्रह्म नामक शीर्षकों में विस्तार पूर्वक किया जायगा। संक्षेप में चतुश्चक्र प्रथम चार चक्र हैं जिनमें से केवल अन्तिम चक्र की ही अनुभूति की जा सकती है। त्रिपादामृत की अनुभूति अमृत शरीर मात्र से की जा सकती है, मर्त्यधर्मा शरीर से नहीं। यह अष्टचक्रवाद के पूर्वार्द्ध का संकेत करता है। अष्टचक्रों के प्रथम चार चक्रों को चतुष्पाद्, चत्वारि पदानि, चतुर्सागराः, चतुर्पर्वताः, चतुर्नद्यः आदि नामों से पुकारा जाता है इसी को पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र नाम से भी कहते हैं, इन्हीं को 'चत्वारि शृङ्गा' 'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' (ऋ० वे० १०-११४-३) 'चत्वारि ते असुर्याणि' ऋ० वे० १०-५४-४) 'चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः' (ऋ० वे० ७-१८-२३) 'चत्वारो मा मशर्शारस्य' (ऋ० वे० १-१२२-१५) भी कहते हैं। 'तुरीयं धाम तुरीयं ब्रह्म' है।

४७—त्रिचक्र

त्रिचक्रवाद वैदिक ऋषियों का अमृत और प्राण स्वरूपी है। इसकी व्याख्या अनेकों और अनन्त शैलियों या सरणियों से करते हुये वे थकते ही नहीं, न कहीं ऊबते से दृष्टिगोचर होते हैं। यह त्रिचक्रवाद, षड्चक्रों के प्रथम तीन चक्रों की व्याख्या है। जितना प्रसिद्ध षड्चक्र-वाद है उससे कहीं अधिक यह त्रिचक्रवाद है। यह त्रिचक्रवाद ही वैदिकों का रहस्यमय अमृत है। इसकी व्याख्या मुख्तः दो प्रकार से की गई है (१) तीन पद, शिर, त्रिवंश, त्रिपिता, त्रिमाता, त्रिसोम, त्रिवृत्, त्रिकद्रु, त्रिकूप, त्रिधाम, त्रिरन्तरिक्ष, त्रिदिव, त्रियज्ञ, त्रिरयि, त्रिवर्ति, त्रिबन्धुर, त्रिकेशी, त्रिधाबद्ध, त्रिबधु, त्रिवरुथः, त्रिनाभिः, त्रिधन्व, त्रिविष्टप, त्रिषधस्थ, त्रिजना, त्रीणिज्योतींषि, त्रिबन्धन, त्रित, त्रिराजानः, त्रिकोष, त्रेता, त्रितः, त्रिसरांसि, त्रिसमुद्र, त्र्यायूंषि, त्रिमहिष, त्रीरोचना, त्र्यम्बक, त्र्यर्थमा। ये सब नाम पूर्वार्द्ध के हैं। उत्तरार्द्ध के तीन चक्रों के नाम तिस्रो भूमीः, त्रिपृथिवी, त्रियातुधान इत्यादि हैं (२) त्रिःसप्तवाद। इससे वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्धारण करना सबसे अधिक सरल हो जाता है क्योंकि यह त्रिःसप्तवाद का त्रिचक्रवाद वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध के पूरे तत्त्वों की पूरी संख्या दे देता है।

जितनी संख्या पूर्वार्द्ध में है उतनी ही संख्या उत्तरार्द्ध में भी हैं। इससे अधिक स्पष्ट विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। इस त्रिःसप्तवाद में निम्न शीर्षक आते हैं। त्रिःसप्तनद्यः, त्रिःसप्तधेनवः, त्रिःसप्तगिरयः, त्रिःसप्तविस्पुलिङ्गाः, त्रिःसप्तपदाः, त्रिःसप्तसूराः, त्रिःसप्तसमिधः, त्रिःसप्तरत्नानि, त्रिःसप्तमयूयः, त्रिकद्रुक इत्यादि। ये सब त्रिचक्र पञ्चपर्वा विद्या के मुख्य-मुख्य तत्त्वों का निर्देश करते हैं। त्रिचक्र का वर्णन वेदों में कई स्थानों में आता है जैसे "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण" (ऋ० वे० १-११८-२) और

"अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः।
त्रिवन्धुरो (ऋ० वे० १-१५७-३)

"क त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क त्रयो वन्धुरो ये सनीलाः।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः॥"
(ऋ० वे० १-३४-९)

इस त्रिचक्र को त्रिनाभि चक्र के नाम से पुकारा जाता रहा। प्रत्येक सप्तक एक-एक नाभि है, एक-एक चक्र है। ऋ० वे० (१-१६४-२) ने इसका वर्णन इस प्रकार दिया है।

"त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।"

इन्हीं को तीन पिता और तीन माता के नाम से पुकार कर इनसे अखिल विश्व की रचना की कल्पना निम्न मंत्र देता है।

"त्रिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१०)

इन्हीं को गायत्री के तीन पाद कहने के स्थान में गायत्री (अग्नि) के तीन समिध भी कहा गया है, जैसे

गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा।"
(ऋ० वे० १-१६४-२५)

"तिस्रो यज्ञस्य समिधः" (ऋ० वे० ३-२-९) इन्हीं तीन समिध रूप तीन पादों को या 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' के प्रथम तीन पादों को 'गुहा' में निहित या स्वयं गुहा नाम से भी पुकारा है जैसे

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥"
(ऋग्वेद १।१६४।४५)

इन्हीं को 'तिस्रो वाचः' भी कहते हैं जैसे "तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निः" (ऋ० वे० ९-९७-३४) "तिस्रो वाच उदीरते" (ऋ० वे० ९-३३-४) "तिस्रो वाचः प्र वद"

(ऋ० वे० ७-१०१-१)। इन्हीं को सविता का 'तिस्रोद्यावः', भी कहा है जैसे "तिस्रो द्यावः सवितुः" (ऋ० वे० १-३५-६), और "तिस्रो द्यावो निहिता" (ऋ० वे० ७-८७-५), इन्हीं को तिस्रो भूमि कहते हैं जैसे "तिस्रो भूमीर्धारयन्" (ऋ० वे० २-२७-८), इन्हीं को तिस्रो देवी, तिस्रो देष्ट्राय, तिस्र (दिव) अहः भी कहते हैं जैसे "तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं वरीय" (ऋ० वे० १०-७०-८), "तिस्रो देष्ट्राय" (ऋ० वे० १०-११४-२), "तिस्रः क्षपस्त्रिरह" (ऋ० वे० १-११६-४), इन्हीं को तिस्र शरद और त्रयः केशिनः' भी कहते हैं 'तिस्रो यदग्ने शरदः" (ऋ० वे० १-७२-३), "त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते" (ऋ० वे० १-१६४-४४), इन्हीं का नाम (गायत्री के) त्रिपाद हैं 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा' (ऋ० वे० ४-५८-३, यजु० १७-९१), "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः" (ऋ०वे० १०-९०-४), "त्रिपादस्यामृतं दिवि" ऋ०वे० १०-९०-३), इन्हीं तीन पादों का नाम 'त्रिकद्रुक' 'त्रिकूप' और 'त्रेधा त्रयं' भी है जैसे "त्रिकद्रुकेभिः पतति" (ऋ०वे० १०-१४-१६, अथर्व० १८-२-६), "त्रिकद्रुकेषु चेतनं" (अथर्व २०-११०-३, ऋ०वे० ८-९२-२१), "त्रिकद्रुकेषु" (ऋग्वेद ८-१३-१८), "त्रिकद्रुकेषु महिषो" (ऋ०वे० २-२२-१, अथर्व २०-९५-१), 'त्रितः कूपे' (ऋ० वे० १-१०५-१७), "त्रिधा हितं पणिभिः" (ऋ०वे० ४-५८-४), "विद्मा ते ऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि" (यजु० १२-१९)। इन्हीं तीन पादों (गायत्री के तीन पादरूप २४ अक्षरीय २४ तत्त्वों) को विष्णु के तीन पगों से भू र्भुवः स्वः (प्रथम, द्वितीय, तृतीय, सप्तकों) को नापना कहते हैं, यहाँ भूः माने हमारी पृथ्वी नहीं है वरन् प्रथम सप्तक है (अष्टौ लोकाः' देखें) जैसे 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।" (ऋ०वे० १-२२-१७, अथर्व ७-२६-४; तै सं० १-२-१३-१; साम २२२, १६६९) "त्रीणि पदा वि चक्रमे" (ऋ०वे० १-२२-१८; यजु ३४-४३; तै०सं० २-७-१२-२; साम १६७०)। इन्हीं को त्रिराये, त्रिपदा, त्रित आदि नामोंसे भी पुकारते हैं जैसे 'त्रीणि त्रितस्य धारया' (ऋ०वे० ९-१०२-३; साम १०१५। "त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना" (१-३४-५), 'त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि' (ऋ०वे० १-३४-६) "त्रिर्नो अश्विना यजता" (ऋ०वे० १-३४-७) और "त्रीणि पदान्यश्विनोराविः" (ऋ०वे० ८-८-२३) इन्हीं को त्रिधामीय सिंधु भी कहते हैं जैसे "त्रिषधस्था सप्तधातुः", 'त्रिरश्विना सिन्धुभिः' (ऋ०वे० १-३४-८), इन्हीं तीनों को 'त्र्यम्बक' और 'त्र्यायुष' भी कहते हैं जैसे—"त्र्यम्बकं यजामहे" (ऋ०वे० ७-५९-१२; अथर्व १४-१-१७; यजु ३-६०; तै०सं० १-८-६-२), "त्रीण्यायूंषि तव" (ऋ०वे० ३-१७-३; तै०सं० ३-२-११-२), "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्" (यजु ३-६२), इन्हीं को 'त्र्यविः' कहते हैं, जैसे "त्र्यवयो गायत्र्यै" (यजु २४-१२), गायत्री के तीन अवि या पाद। "त्र्यविं गां वयो दधत्" (यजु २८-२४), त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः" (यजु २१-१?), "त्रिवत्सो वयः" (यजु १४-१०), "त्र्यविर्गौर्वयो दधुः" (यजु २१-१२) 'त्र्यविर्वयः' (वय का नाम तीन अवि या त्र्यवि है), 'त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे' (यजु १८-२६), "त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे' (यजु १८-२६)। इन्हीं तीनों को पृश्निः के तीन सरोवर भी कहते हैं "त्रीणि सरांसि पृश्नयो" (ऋ०वे० ८-७-१०)। यही उरुगाय विष्णु के तीनों पदों का ऐक्य कहलाता है "त्रीण्येक उरुगायो" (ऋ०वे० ८-२९-७) इन्हीं को 'त्रीरोचना'

भी कहते हैं "त्री रोचना दिव्या धारयन्त" (ऋ०वे० २-२७-९), "त्री रोचना वरुण" (ऋ० वे० ५-६९-१), "त्रिष्वा रोचने दिवः" (यजु १२-५५), येही महिषनामाग्नि के तीन स्थान हैं "त्री यच्छता महिषाणाम्" (ऋ०वे० ५-२९-८), इन्हीं का नाम त्रयोधर्मा, त्रीणि ज्योतींषि या तिस्रो ज्योति भी है जैसे "त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" (यजु० ८-३६; ३२-५)।

"त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।
त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वां इत् तां अनु विदुर्वसिष्ठाः॥"
(ऋ०वे० ७-३३-७)।

इन्हीं का नाम त्रिपवित्र और त्रिरन्तरिक्ष भी है जैसे "त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्धच" (ऋ०वे० ३-२६-८), "त्रिभिष्ट्वं देव सवितः" (ऋ०वे० ९-६७-२६), "त्रिरन्तरिक्षं सविता" (ऋ०वे० ४-५३-५), इन्हीं को तीन परम स्थान या त्रिदिव भी कहते हैं जैसे "त्रिरस्य ता परमा (ऋ०वे० ४—१-७), "त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रता" (ऋ०वे० २-२७-८), 'त्रिरा दिवः सवितर्वार्याणि' "त्रिरा दिवः सविता सोषवीति" (ऋ०वे० ३-५६-६,७)। इन्हीं तीनों को त्रिविष्ट या त्रिविष्टप भी कहते हैं 'त्रिविष्टधातु प्रतिमानम्" (ऋ०वे० १-१०२-८)।

"इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥"
(ऋ०वे० ८-९१-५)

इसी का नाम त्रिलोक या त्रिष्पूष (त्रिपुरी) है जैसे

"खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूल्यकृणोः सूर्यत्वचम्॥"
(ऋ०वे० ८-९१-७)।

इन्हीं का नाम 'त्रिवर्ति' भी है, जैसे "त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते" (ऋ०वे० १-३४-४), इन्हीं को त्रिवन्धुर औद त्रिवरुथ नाम से भी पुकारते हैं जैसे "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेना यातं" (ऋ०वे० ८-८५-८), "त्रिवरुथस्त्रिवन्धुरो" (यजुर्वेद २८-१९,२१-५५), "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा" (ऋ०वे० १-४७-२), इसी को त्रिचक्र या त्रिवृत भी कहते हैं "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण" (ऋ०वे० १-११८-२), "त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा" (यजुः १५-९; १५-१०; १२-४), इन्हीं को त्रीणि जनाः कहते हैं "त्रीणि जाना परि" (ऋ०वे० १-९५-३), इन्हीं को दिव के तीन बन्धन भी कहते हैं "त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि" (ऋ०वे० १-१६३-४; यजु २९-१५) तै०सं० ४-६-७-२), इन्हीं को 'त्रीधन्व' या त्रिसमुद्र नाम से भी पुकारते हैं, जैसे "त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्" (यजु ३४-२४), "त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गान्" (यजुः १३-३१), इन्हीं को 'त्रेता' नाम से भी पुकारते हैं "त्रेतायै कल्पिनम्" (यजुः ३०-१८), इन्हीं का नाम 'त्रित' भी है, त्रिधाबद्ध भी है जैसे "त्रिताय त्वा" (यजु १-२३), "त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति" (ऋ०वे० ४-५८-३; यजु १७-९०)। इन्हीं का नाम गुहा और 'त्रीणिपदा' भी है जैसे "त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य" (यजु० ३२,९), अश्विनी और विष्णु के पद और 'गुहा त्रीणि (पदा)

निहिता' नामक चत्वारि वाक् परिमिता पदानि के तीन पद भी ये ही तीन हैं। इन तीन सप्तकों को 'त्रयः कोशास' और त्रयः चमू भी कहते हैं जैसे

"त्रयः कोशासः श्रोतन्ति तिस्रश्चम्वः सुपूर्णाः।"
(ऋ०वे० ८-२-८)।

इस प्रकार इस त्रिचक्रीय त्रिपाद के अनन्त नाम हैं कुछ और नाम (ऋ० वे० १-३४ के पूरे सूक्त में दिये मिलेंगे उन्हें अवश्य देख लें। इन सबका संकलन 'देवरथ' और 'अश्विनी रथ' के वर्णनों में पूरा-पूरा दिया गया है।

त्रिःसप्तवाद नाम त्रिचक्रवाद या त्रिवाद का विस्तृत या व्याख्या रूप नाम है। इससे वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्णय करना बड़ा सरल हो जाता है।

४८—त्रिःसप्तवाद

सचमुच में वैदिक दर्शन के जटिल कपाटों को खोलने के लिए यह त्रिःसप्तवाद कुञ्जी का सा काम करता है। बिना इसको पढ़े किसी को वैदिक दर्शन के इतने तत्त्व होंगे, इस विषय में विश्वास जमना भी कठिन है क्योंकि उस दर्शन को लोग तीन हजार वर्ष से एकदम भूल चुके हैं। दुर्भाग्य की समता ने इस वाद की भी अधोगति कर रखी है। लोग इस 'त्रिःसप्त' के माने तीन गुना सात बराबर इक्कीस (३×७=२१) लगाकर इन इक्कीसों को सांख्य के ज्ञानकर्मेन्द्रिय गुण और महाभूत कुल २१ तत्त्व समझते भी चले आ रहे हैं। यह एक महा भयानक भ्रम है। ये वैदिक दर्शन के भिन्न तत्त्व हैं, सांख्य के नहीं हैं और इनकी संख्या २१ नहीं, २४ है। यह सब पुरुष सूक्त १५ ऋचा के "त्रिःसप्तसमिधः कृताः" की व्याख्या में मिलेगा। संक्षेप में सांख्य-योग दर्शन औपनिषदिक दर्शन हैं। यह वैदिक दर्शन का अत्यन्त सूक्ष्मतम स्वरूप है। संहिता और ब्राह्मण युग में सांख्ययोग दर्शन इस स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हुआ था। जब लोग वैदिक दर्शन को भुलाते जा रहे थे, तब सिद्धराट् महर्षि कपिल ने इस दर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया था। 'त्रिः-सप्तवाद' के २४ तत्त्वों में केवल दैवी प्रकृति (पुरुष) का वर्णन है। इसके तीन गुण ही त्रिचक्र या त्रिवाद हैं। इन तीन गुणों के विकास की २४ सीढ़ियाँ हैं। जिन्हें सब भुला चुके हैं। जिसे सांख्ययोग वाले 'बुद्धिः' कहते हैं। उसे वेदों में 'धी' 'कविः' सूर्यः, सविता, चक्षुः, सोमः, चन्द्रः, वृत्र आदि नाम से पुकारा गया है। इसमें दैवी और आसुरी दोनों वृत्तियाँ साथ-साथ रहती हैं। योग दर्शन इसी आसुरी वृत्ति के दमन का एक अप्रतिहत शस्त्र है। जिन्हें सांख्य-योग में महत्, अहंकार, ज्ञानकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चगुण, पञ्चमहाभूत नाम से पुकारा जाता है उनमें से महत् का उदय विराट् के ४८ वें तत्त्व से प्रारम्भ होता है और अहंकारादि का परमाणु बनने पर ४० वें तत्त्व के पश्चात् निर्माण होता है। अतः सांख्य के प्रचलित २१ तत्त्वोंका वेदों के इस त्रिःसप्तवादीय २४ तत्त्वों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह बात ध्यान से न उतरने पावे।

जिस प्रकार त्रिचक्रवाद की व्याख्या अनन्तमुखी बनाई गई है उसी प्रकार इस 'त्रिःसप्तवाद' की व्याख्या भी अनेक रूपों में की गई है। हमारी सँस्कृति में

४९—त्रिःसप्तवाद का आधार

और प्राचीन ग्रन्थों में जो-जो भावनायें अब तक बड़े भारी महत्त्व को रखती हैं, चाहे आजकल की नई रोशनी वाले उन्हें हमारे ही विद्वानों की तीन हजार वर्षों से की गई भूलों के कारण—वैदिकदर्शन को खो बैठने के कारण-भार सा समझते हुए भी न जाने क्यों किस दैवी प्रेरणा से लादते से आ रहे हैं ? इनमें पञ्चपर्वा विद्या का गहरा पुट है, अमृत है, अत्यन्त मिठास और रसातल तक पहुँची जड़े हैं। अनुच्छेद्य, अभेद्य और अमिट हैं, यह वेदों की भारी विजय है। इसका विवेचन 'पञ्चपर्वा विद्या' शीर्षक में मिलेगा। यह त्रिःसप्तवाद वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों की व्याख्या करता है। इनकी व्याख्या पुरुष, अग्नि, इन्द्र, सोम, विष्णु, रुद्र, ब्रह्म, (ब्रह्मणस्पति बृहस्पति) अदिति, आदि सर्व देवताओं के रूप में क्रमिक विकास परम्परा द्वारा तथा अन्य देवताओं के यथा स्थान व्याख्यान से जैसे उषा, सूर्य, चक्षु, चन्द्र, वृत्र, देव, असुर, पुरुषपशु, पशु और ऋषियों में अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, अङ्गिरस आदि किया गया है पर इससे भी वैदिकों को तृप्ति न हुई, तब उन्होंने पञ्चपर्वा विद्या की नींव डालकर उनका विवेचन एक नवीन सरणि से या प्राकृतिक सरणि से किया था, वे उनके आधार तत्त्व थे। इन आधारभूत तत्त्वों की पारिभाषिक पदावलियाँ निम्न नामों से 'त्रिःसप्त' या त्रिचक्रवाद की पूरी व्याख्या करते हैं। जितने तत्त्व इस त्रिःसप्त या पूर्वार्द्ध में दिये गये हैं उतने ही इसके उत्तरार्द्ध में भी समझे जाने चाहिए क्योंकि दोनों अर्द्ध बराबर हैं।

ब्रह्म को समुद्र माना गया है 'त्वं समुद्रो असि विश्ववित्' (ऋ० वे० ९-८६-२९) उससे पहिले गंगा नदी रूप प्रथम तत्त्व का उदय होता है। तदनन्तर उसकी

१—'त्रिसप्तनद्यः'

सहायक नदियाँ एक-एक तत्त्व के रूप में उसी गंगा नदी से निकलती हैं "त्वं सिन्धूँरवासृजो" (ऋ० वे० १०-१३३-२; अथर्व २०-९५-३; साम १८०२ वैदिक गंगा से अन्य नदियां निकलती हैं, लौकिक नदियों की तरह ये इसमें मिलती नहीं। जैसे "त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो" (ऋ० वे० १०-६४-८) प्रत्येक सप्तक एक मुख्य नदी है। वे क्रमसे गंगा नदी से ही निकलती हैं (सप्तचक्रवाद देखें)

ब्रह्म एक महाकामधेनु गौ पृश्नि है। उससे वत्स रूप में त्रिवत्स प्रथम तीन सप्तकों में प्रत्येक वत्स से आठ-आठ धेनुएं क्रमसे उत्पन्न होकर पूर्वार्द्ध में २४

२—'त्रिसप्तधेनवः'

धेनुओं की उत्पत्ति करती हैं। (गौ, गौरी, धेनु आदि शीर्षक देखें और सप्त चक्रीवाद भी देखें) जैसे "त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे" (ऋ० वे० ९-७०-१; साम ४६०, १४२३) आदित्य-रूपगावः दूसरी वस्तु है (आदित्याः देखें)

जिस प्रकार ब्रह्म समुद्र से तत्त्व रूप नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म-रूप हेमकूट (हिमवान्) पर्वत से अन्य पर्वत पर्व-पर्व में या एक-एक तत्त्व रूप में उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म या पुरुष का जो नाम 'कूटस्थ' मिलता है वह इसी पर्वतविद्या का शब्द है। 'कूटस्थ' माने ब्रह्म, पर्वत के कूट या चोटी का वासी प्रथम तत्त्व है जो अविकारी और कालरूप है और काल रूप में व्यापक है। प्रत्येक सप्तक या दशक एक महा पर्वत है। प्रत्येक सप्तक या दशक के सात, आठ या दस तत्त्व उसके छोटे-छोटे क्षुर पर्वत हैं। पूर्वार्द्ध की गुहा के पर्वतों का वर्णन इस प्रकार दिया मिलता है।

३—त्रिःसप्तपर्वताः

"त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्" (ऋ० वे० ८-९६-२)

"त्रिः सप्त सप्ता नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये"

(ऋ० वे० १०-६४-८)

ये पर्वत वास्तव में प्राणरूप ब्रह्म की व्याख्या करते हैं, ये प्राणों के पर्वत हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक या अखिल ब्रह्माण्ड में भी ये पर्वत प्राणों के पर्वतों के रूप में विद्यमान रहते हैं। जिन्हें लोक में पहाड़ कहते हैं वे इन पर्वतों से नितान्त भिन्न हैं, पर हैं इन्हीं के समान क्रमशः एक दूसरी श्रेणी से हिलेमिले जुड़े-जुड़ाये। कई लोगों ने शरीर की रीढ़ की हड्डियों को इन पर्वतों में घटाया है जिसको उनके वैदिक दर्शन के ज्ञान न होने का प्रमाण समझ लेना चाहिए।

जब ब्रह्म की व्याख्या अग्निरूप में की जाती है तो प्रत्येक तत्त्व अग्नि की चिनगारियों की तरह प्रस्फुटित होता है, ५० चिनगारियों के बनजाने पर एक परमाणु प्रस्तुत होता है। इन चिनगारियों के उद्भव का क्रम रुद्र, इन्द्र, वरुण और चन्द्र की व्याख्या में दिया मिलेगा। पूर्वार्द्ध की गुहा के २४ तत्त्वों की व्याख्या (ऋ० वे० १-१९१-१२) लिखता है "त्रिःसप्त विस्पुलिङ्गकाः"। यह 'अग्निः सर्वा देवता' का विकास क्रम है 'अग्निवाद' देखें।

४—"त्रिःसप्त विस्पुलिङ्गाः"

जब ब्रह्म का वर्णन प्रकाश रूप या शुद्ध-बुद्ध ज्ञान रूप में किया जाता है तब प्रत्येक तत्त्व एक-एक रश्मि के रूप में विकसित होता हुआ बतलाया जाता है। इस प्रकार दर्शन के पूर्वार्द्ध की गुहा के २४ तत्त्वों से २५ वें में २४ तत्त्व रूप रश्मियों के समुदायरूप चक्षु या मनः या सूर्य नामक तत्त्व का उदय होता है, उससे चन्द्रमा का तदनन्तर प्रकाश भौतिकता में एक-एक रश्मि द्वारा चन्द्रमा की तरह क्षीण होता जाता है। अन्त में परमाणु अमावस्या के समान भौतिक पिण्ड अन्धकारमय स्वरूप को धारण कर इस अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करता है। योगी को उसी ब्रह्म प्रकाश की ज्योति की खोज, अनुभूति आदि करनी पड़ती है। प्रत्येक सप्तक एक-एक

५—'त्रिःसप्तरश्मयः'

शिर हैं, उसके तत्त्व रश्मियाँ जैसे "त्रिमूर्द्धानं सप्तरश्मिं" (ऋ० वे० १-१४६-१)। यह वही त्रिवाद है जिसको त्रिचक्रवाद में 'त्रीणि ज्योतींषि', 'तिस्रो ज्योति' और 'त्रिवर्ति' नाम से पुकारा है वे भी 'त्रिःसप्त ज्योतींषि, त्रिसप्त ज्योति' त्रिसप्त वर्तिकायें हैं। ये त्रिज्योतींषि आदि त्रिःसप्तरश्मिः शब्द क्रम की विकास परम्परा को बतलाते हैं ऐ० ब्रा० (५-५-३२) ने लिखा है कि प्रजापति ने बहु रूपों में प्रगट होने के लिए जो तप किया उससे भूर्भुवः स्वर्लोक बने। उन्हीं से तीन ज्योतियाँ (अग्नि, वायु, आदित्य) उत्पन्न हुए उन्हीं के ऋग् (स्वराः) यजु (दीर्घ स्वराः) साम (ऊष्माण) प्रतीकी शब्द से ब्रह्म का विकास हुआ। ये त्रिदिव (त्रिलोक) हैं, अतः त्रिस्वः (महि) कहलाते हैं। इसीलिए इन स्वः लोकों (तीनों) से उत्पन्न शब्दब्रह्म विकास को 'स्वराः' या 'स्वर्लोकादागच्छन्तीति स्वराः' कहते हैं। ये तीनपादों या लोकों में अष्टौ स्वराः, अष्टौ दीर्घाः, अष्टौ ऊष्माणः प्रतीकी शब्द ब्रह्मरूप स्वर हैं। इनके सूक्ष्म प्रतीक अ उ म् हैं जिनका समाहार ॐ है। उत्तरार्द्ध में व्यञ्जन प्रतीकी शब्दब्रह्म विकास (व्यष्टिरूपेण समञ्जयन्तीति विशिष्टरूपेण व्यक्तिरूपेण अञ्जयन्तीति व्यञ्जनानि श्रौतिकानि तत्त्वानि) क्रमशः २४ ध्वनियों में होता है (शब्दब्रह्म व्याख्या देखें) प्रथम सप्तक अग्नि (वसु) का है उससे ऋग् (ह्रस्व स्वर) निकले, द्वितीय वायु सप्तक है उससे यजुः (दीर्घ स्वर) और तृतीय आदित्य सप्तक है उससे सामवेद निकला। अतः 'भूतस्य निश्वसितं' (बृह० उप० उप० ४-५-११, छान्दोग्य) माने जिसके प्राणरूप स्वरूप से स्वर या ॐ निकला होता है।

जब ब्रह्म का विवेचन हिरण्यादि धातुओं के रूप में किया जाता है तब प्रत्येक सप्तक 'षद्' कहलाता है और पूर्वार्द्धीय गुहा के २४ तत्त्वों को 'त्रिषधस्था सप्तधातुः' (ऋ० वे० ६-६१-१२) कहते हैं। हिरण्य रूप वर्णन

६—त्रिःसप्त धातवः

पूर्वार्द्धीय सब तत्त्व 'हिरण्यगर्भ' को प्रस्तुत करते हैं। हिरण्यगर्भ देखें। इन्हीं को 'त्रिविष्ट धातुः' (ऋ० वे० १-१०२-८) या त्रिविष्टप धातु भी कहते हैं। ब्रह्म का हिरण्य या रुक्म नाम ऋग्वेदाध्यायी ऋषियों का है जिसका विवेचन 'ब्रह्मविषयक संकेतावली' शीर्षक में मिलेगा।

'गुहा' शीर्षक के विवेचन में "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" नामक प्रसिद्ध ऋचा की व्याख्या में बतलाया जा चुका है कि 'त्रीणि पदा' गुहा में या पूर्वार्द्ध में रहते हैं जैसे उसी में लिखा है 'गुहा त्रीणि (पदा) निहिता'।

७—त्रिःसप्तपदाः

उन्हीं त्रीणि गुहावासी पदों के कुल भेद २४ या त्रिः सप्त होते हैं जिनका उल्लेख निम्न ऋचायें कर रही हैं "त्रिःसप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदाविर्दान्निहिता" (ऋ०वे० १-७२-६) और "त्रिः सप्त सख्युः पदे" (ऋ०वे० ८-६९-७) इनमें से प्रथम उल्लेख इनको गुह्यानि या गुहास्थ बतलाता ही है, साथ में निम्न दूसरा उल्लेख इसकी परिपुष्टि में लिखता है—

"विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः"
(ऋ०वे० १०-५३-१०)।

ये वाग्ब्रह्म के विकासीय पद हैं। ये सब पद या पर्व अनिरुक्त हैं। अतः अमृत या नित्य विभु व्यापक हैं। ये तीन पद उन तीन अन्यों के मौलिक बीज हैं जिन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी कहते हैं। 'परा' पद का प्रारम्भ उक्त २४ (त्रिःसप्त) के गुहास्थ पदों के पश्चात् २५ वें तत्त्व से होता है। अतः "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" के चार पदों में से चतुर्थ पद ही परा है, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तो बहुत स्थूल वाणियों के स्वरूपों को बतलाते हैं ('गुहा' शीर्षक देखें) उनका इन पदों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। तुरीय मनुष्य या चतुर्थ सप्तकीय पद ही परा पद है।

८—"त्रिः सप्तसत्त्वाः" प्रजापति या देवरूपों में प्रत्येक तत्त्व एक सत्व या प्राणी या ऊर्जस्वान् के रूप में वर्णित किया जाता है, वे भी 'त्रिः सप्त' या २४ ही हैं जैसे "त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः" (ऋ०वे० १-१३३-६)।

जिस प्रकार सप्तधातु रूप विवेचन दिया मिलता है; उसी प्रकार त्रिःसप्त रत्न रूप विवेचन भी दिया गया है। ऋ०वे० के प्रथम सूक्त के प्रथम मंत्र में जो

९ "त्रिः सप्त रत्नानि" 'रत्नधातमम्' शब्द अग्नि के विशेषण रूप में दिया मिलता है, वह इन्हीं त्रिःसप्त रत्नानि का संकेत करते आ रहा है जैसे—"ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते" (ऋ०वे० १-२०-७)।

यजुर्वेद पूरा अश्वरूप या प्राणरूप की व्याख्या देता है। बृहदारण्यक का आरम्भ ही अश्वरूप ब्रह्मविवेचन से किया गया है। ऋ०वे० में इसका विशिष्ट

१० "त्रिः सप्त अश्वाः" वर्णन दधिक्रा के सूक्तों में मिलता है (दधिक्रा, शीर्षक देखें) प्रत्येक तत्त्व एक अश्व या श्वः या श्वा या शुन है पूर्वार्द्धीय गुहा के त्रिः सप्त या २४ तत्त्वों को "उस्नास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्" (ऋ०वे० ८-४६-२६) या सप्तकों के अनुसार 'तिसृणां सप्ततीनाम्" (ऋ०वे० ८-१९-३७) या "यूयं सखायः सप्तयः" (ऋ०वे० ८-२०-२३) कहते हैं। अश्व को प्राण समझ कर ऋ०वे० ने 'अश्वस्य धारा' वाक्य लिखा है; धारा तो प्राणों की ही होगी।

तत्त्वों का वर्णन पक्षियों के रूप में करते हुए प्रत्येक तत्त्व एक-एक पक्षी हैं जैसे "श्येनो गृध्राणां" पशुओं की वर्णना में 'महिषो मृगाणाम्" इनकी निरुक्ति कुछ

११ त्रिः सप्त मयूर्यः और ही है। मयूरियों के रूप में ब्रह्म की विचित्रता या विश्वतोमुखता दिखलाने के लिये लिखा है कि "त्रिः सप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः" (ऋ०वे० १-१९१-१४) "मयं सुखं उरीकुर्वन्तीति मयूर्यः मयूरी वा) यह नानारूपी विश्वतोमुख आनन्दमय ब्रह्म का विवेचन है।

अखिल ब्रह्माण्ड एक वस्त्र का ज्ञान सा है। इसमें पूर्वार्द्ध की गुहा के तत्त्व तो ताने हैं और उत्तरार्द्ध के भौतिक तत्त्व बाने हैं। इन दोनों को पुरुषाः, पितरः या समुद्रिया, अप्सरसः या आपो मातरः बुनती हैं 'देवा
१२ त्रिः सप्ततन्तु यद्यज्ञं तन्वाना' 'देवा यज्ञमतन्वत' और 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' पुरुष सूक्त की ऋचायें तथा "ऋचो अक्षरे" के अक्षर ब्रह्म के अक्षरों को देखें। यहाँ पर इन तन्तुओं (तागों) के बारे में पूर्वार्द्धीय २४ तत्त्वों के विषय में लिखा है

"इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।
असौ हव्यवालुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः॥
(ऋ०वे १०-१२४-१)

"मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम्।
अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्॥
(ऋ०वे० १०-५२-४) और

"वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥"
(ऋ०वे० १-१६४-५)

"ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
नव्यं नव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः॥"
(ऋ०वे० १-१५९-४)।

"त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये।
१३—त्रिः सप्तमही कृशानुमस्तॄन् तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥"
१४—त्रिः सप्त आपः (ऋ०वे० १०-६४-८)
१५—त्रिःसप्त वनस्पति इसमें नदी, मही, आप, वनस्पति, पर्वत और अग्नि सब
१६—त्रिः सप्त अग्नयः पूर्वार्द्ध में एक-एक करके २४ रहे हैं
१७—त्रिः सप्त आशिरः "अयं त्रिःसप्त दुदुहान आशिरं
सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः।"
(ऋ०वे० ९-८६-२१)।

पूर्वोक्त सभी की पूरी व्याख्या इस पद की व्याख्या में पुरुषसूक्त (ऋ०वे० १०-९०-१५) के भाष्य में अन्यत्र दे दी गई हैं, वहीं देखा जाय। संक्षेप में प्रत्येक तत्त्व या प्रत्येक देवता एक-एक समिध हैं। पूर्वार्द्धीय गुहा में
१८ त्रिः सप्तसमिधः (कृताः) २४ समिध हैं, उत्तरार्द्ध में भी २४ समिध हैं। ये सब आध्यात्मिक समिध हैं, अध्यात्मयज्ञ या योग यज्ञ के समिध हैं। लौकिक यज्ञ उस आध्यात्मिक यज्ञ का अभिनय मात्र है। संहिताओं में आध्यात्मिक यज्ञ मात्र है पर ब्राह्मण ग्रन्थों में उनका

अभिनय लौकिक यज्ञ के रूप में किया गया है जिनमें आध्यात्मिक धारा अप्रतिहत तथा अविच्छिन्न रूप में सर्वत्र बहती हुई सुरक्षित रखी गई है।

यह द्विचक्री विचारधारा वेदों में, ब्राह्मणों में, आरण्यकों और उपनिषदों में सर्वत्र परम मुख्य धारा के रूप में प्रवाहित हुई है। अभी तक विद्वानों को इस द्विचक्री वैदिक दर्शन के चक्रों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाया है। ये इतने मुख्य और इतने स्थूल विभाजन हैं कि इनको समझे बिना वेदों का अर्थ लगना शशक शृङ्गोपलब्धि सम नितान्त असम्भव है; इन दो चक्रों के एक-एक नहीं सैकड़ों नाम हैं। जिन्हें इन नामों से परिचय नहीं, वह वेदों का क्या अर्थ करेगा? वैदिक दर्शन के ये स्थूल विभाजन रूप दो चक्र दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहलाते हैं। गायत्री के २४ तत्त्वों को यज्ञ का या सृष्टि विकास का पूर्वार्द्ध कहा गया है। (गायत्री ब्रह्म देखें—"चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री वै यज्ञस्य पूर्वार्द्धः") इसके पादों के अनुसार गायत्री के तीन पादरूप तीन समिध कहे गये हैं जैसे—"गायत्रस्य समिधस्तिस्र" (ऋ०वे० १-१६४-२५)। जितने तत्त्व पूर्वार्द्ध में हैं उतने ही उत्तरार्द्ध में भी हैं। पूरा दर्शन जगती या ४८ अक्षरों या तत्त्वों का होता है। इन दोनों अर्द्धों का मध्यवर्ती तत्त्व सूर्य २५ वां तत्त्व है। सूर्य तत्त्व इन दोनों विभाजनों के दो मुख्य नाम अह और रात्रि देता है, पूरा दर्शन अहोरात्र कहलाता है (सूर्य की व्याख्या देखें) इन दोनों भागों में क्रम से ३६० दिन और ३६० रातें कुल ७२० अहोरात्र माने जाते हैं। पूर्वार्द्ध ३६० दिन का एक दिन, उत्तरार्द्ध ३६० रातों की एक रात्रि। दिन का नाम शुक्लपक्ष है, रात्रि का कृष्णपक्ष "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ०वे० ६-९-१)। यह वैदिक दर्शन की मूल भित्ति है। इसे संवत्सर ब्रह्म भी कहते हैं, इसका विवेचन आगे दिया जायगा।

५०—द्विचक्रवाद

सूर्य तत्त्व की मध्यस्थता के अनुसार उसे दर्शन के दो चक्रों का मध्यवर्ती बतलाया गया है जैसे

"द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥"
(ऋ०वे० १०-८५-१६)

५१—द्विचक्र का स्वरूप

"अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्येतशम्" (ऋ०वे० ८-६-३८)।

इसमें 'गुहा' या पूर्वार्द्धीय गायत्री के त्रिपादों के २४ तत्त्वों को एक चक्र बतलाया है। दूसरा अपने आप उत्तरार्द्ध का चक्र हुआ, इसे सभी दार्शनिक तथा वेद जानते हैं। इन दोनों चक्रों को क्रम से देवताओं, पितरों और तत्त्वरूप मनुष्यों की स्रुतियाँ या मार्ग नाम से भी पुकारते हैं जैसे

"द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥"
(ऋ०वे० १०-८८-१५)

इसमें पूर्वार्द्ध को पिता तथा उत्तरार्द्ध के चक्र को माता नाम से भी पुकारा है। इन दोनों चक्रों को बराबर सन्तुलित बतलाते हुये आगे लिखा है कि

"द्वे समीची (बराबर) बिभृतश्चरन्तं शीर्षतो जातं मनसा विमृष्टम्।
स प्रत्यङ् विश्वा भुवनानि तस्थावप्रयुच्छन् तरणिर्भ्राजमानः॥"
(ऋ०वे० १०-८८-१६)।

यहां पर दोनों चक्रों की उत्पत्ति शिर से और मनः से बतलाई गई है जिसका यह तात्पर्य है कि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का प्रथम तत्त्व शिरः और मनः नाम से पुकारा जाता रहा। अतः अन्यत्र

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य"

(ऋ०वे० ४-५८-३) में उल्लिखित 'द्वे शीर्षे' या दो शिर यही पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के प्रथम तत्त्व हैं अर्थात् प्रथम और पच्चीसवां तत्त्व दो सिर हैं। प्रथम तत्त्व आदि ब्रह्म है तथा २५ वां मध्यस्थ तत्त्व सूर्य है, यही दो शिर हैं जैसे

"मध्या कर्तोर्विततं सं जभार" (ऋ०वे० १-११५-४)

"वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिस्वना॥"
(ऋ०वे० १०-१३८-३)।

इस परिच्छेद में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को जो क्रम से पिता और माता नाम से (ऋ०वे० १०-८८-१५) पुकारा गया है उसकी बड़ी लम्बी कथा है, वह अगले परिच्छेद में देखें।

वेदों में एक देवता का नाम 'द्यावा पृथिवी' है। उसे आजकल के विद्वान् महाशय लोग आकाश और हमारी खगोलीय पृथिवी समझते आ रहे हैं। यह बहुत बड़े खेद की बात है। वास्तव में 'द्यावा पृथिवी' देवता दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के पारिभाषिक नाम हैं। यह अखिल ब्रह्माण्ड मौलिक स्वरूप में द्यावा पृथिवी कहलाता है। पूर्वार्द्ध का आध्यात्मिक भाग द्यावा कहलाता है, उत्तरार्द्ध का भौतिक भाग पृथिवी। अथर्व वेद का पृथिवी सूक्त इसी उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मामय पृथिवी का सूक्त है, हमारी मिट्टी की पृथिवी का नहीं। इन दोनों भागों में से पूर्वार्द्धीय द्यावा को पिता तथा उत्तरार्द्धीय पृथिवी को माता कहते हैं। इन दोनों के संयोग से यह अखिल ब्रह्माण्डप्रजा या सन्तति के रूप में नाना रूपता को प्राप्त होता है। इस विषय के निम्न प्रमाण हैं।

५२—द्विचक्रवाद के नाना नाम
१—द्यावापृथिवी

(१) "द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृलता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"
(ऋ० वे० ६-५१-५)

(२) "द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥"
(ऋ० वे० १-१९१-६)

(३) "द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
(ऋ० वे० १-१६४-३३)

(४) "तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः" (ऋ० वे० १-८९-४)

(५) "मधु द्यौरस्तु नः पिता" (ऋ० वे० १-९०-७)

इनमें प्रथम और अन्तिम दो विश्वेदेवता सूक्त की प्रार्थना हैं जो द्वितीय सूर्या, और तृतीय अस्य वामीय सूक्त की हैं, शेष 'द्यावापृथिवी' देवता के वर्णन में देखें। कश्यप कूर्म भी द्यावा पृथिवी कहलाते हैं। पूर्वार्द्ध कश्यप हैं उतरार्द्ध कूर्म। अतः लिखा है "कश्यप कूर्मौ वै द्यावा पृथिव्यौ" (शप० ७-५-१-१०)

वैदिक दर्शन के उक्त द्विचक्री दो भागों के अनेकों प्रसिद्ध नाम मिलते हैं जिनमें से कई अब तक प्रचलित हैं।

(क) उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्"
(ऋ० वे० १-१६४-३३)

पूर्वार्द्ध द्यौ प्रथम उत्तानपद या एक चमू है, उत्तरार्द्ध पृथिवी दूसरा उत्तानपद या दूसरी चमू है। इन दोनों का मध्यवर्ती भाग योनि है, पूर्वार्द्ध पिता है या भू है और उत्तरार्द्ध भुवः या माता रूपिणी है जिसमें उक्त योनि द्वारा पुत्री रूप वाक् का गर्भदान दिया गया है। यह वैज्ञानिक सत्य है।

२—दो चमू, दो उत्तानपद या भू और भुवः

(ख) इसीलिए सोम के चतुर्थ सप्तक को अब्जा, नृषद् कहने के स्थान में 'चमूषद्' और सोम को 'चमूसुतम्' कहते हैं जैसे

"चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा······समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति।"
(ऋ० वे० ९-९६-१९) और

"इन्द्र सोममिमं पिब मधुमन्तं चमू सुतम्" (ऋ० वे० १०-२४-१)

(ग) इन्हीं दो भागों को दो उत्तानपद अथवा भू और भुवः नाम से पुकारा गया है जैसे

"भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त" (१०-७२-४)

वैसे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों भाग अदिति कहलाते हैं, जैसा कि प्रसिद्ध ऋचा के आधार पर—

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥"
(ऋ० वे० १-८९-१०)

३—अदिति, दिति

इस सर्व व्यापी उभयभागी अदिति के अहोरात्र भागीय दो भागों को मुख्य बतलाते हुए लिखा है।

"अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः। अदितिः पात्वंहसः सदावृधा॥"

(ऋ० वे० ८-१८-६)

इस मन्त्र के अनुसार पूर्वार्द्धीय अदिति 'दिवा अदितिः' है, उत्तरार्द्धीय अदिति "नक्तमदिति" है परन्तु इनमें से उत्तरार्द्धीय नक्तमदिति का एक नाम 'दिति' भी है वह निम्न ऋचा से स्पष्ट है

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"

(ऋ० वे० ५-६२-८)

हे मित्रावरुण, दर्शन के मध्य विन्दु में सूर्य रूप २५ वां तत्त्व उषा के पश्चात् स्थूण रूप में (स्तम्भ रूप में) उदित होने वाला है, तुम उस स्थूण रूप गर्त (विषुवत् रेखा नाभि) तत्त्व में आरोहण करो या विकसित हो जाओ, वहां से तुम अदिति पूर्वार्द्ध के पहलू और दिति उत्तरार्द्ध के ढालू दोनों को एक साथ देख सकोगे। शेष अदितिदिति शीर्षक में देखें। इस गर्त शब्द का प्रयोग दूसरे स्थलों में भी मिलता है, जैसे

"अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।"

(ऋ० वे० १-१२४-७)

"तिष्ठद्धरी अध्यस्तेव गर्ते वचो युजा बहुत इन्द्र मृघम्।"

(ऋ० वे० ६-२१-९)

जिस प्रकार का वर्णन पिछले परिच्छेद में मित्रावरूण के बारे में दिया गया है ठीक उसी प्रकार का वर्णन यजुर्वेद (८-९) का मंत्र निम्न रूप में प्रस्तुत करता है

४—अवस्तात् परस्तात् "अहं परस्तादहमवस्तात् यदन्तरिक्षं तन्मे पिताऽभूत्।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्श अहं देवानां परमं गुहा यत्॥"

कि मैं ही उत्तरार्द्ध हूं, मैं ही पूर्वार्द्ध हूं; पूर्वार्द्ध रूप अन्तरिक्ष मेरा पिता है, मैंने उक्त दोनों भागों में स्थित होने के कारण मध्यवर्ती सूर्य तत्त्व को दोनों भागों को दोनों ओर से देखा और मैं ही देवताओं की गुहा रूप पूर्वार्द्ध (त्रिपाद्) भी हूं। वस्तु स्पष्ट है कि उभयतः दर्शन, दोनों भागों से उनके मध्य विन्दु सूर्य तत्त्व हो रहा है।

ऋ० वे० १०-८८ सूक्त के दो मंत्र पहिले दिये जा चुके हैं जिनमें पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध को 'द्वे सृती' और 'द्वे समीची' नाम से घोषित किया गया है। उसी के विस्तृत वर्णन में उन भागों के ये नाम स्पष्ट दिये हैं जैसे

५—अवरः, परः "यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।"

(ऋ० वे० १०-८८-१७)

इन भागों की चर्चा ऋग्वेद के अस्यवामीय दैर्घतमसीय सूक्त (ऋ० वे० १-१६४-१७, १८) में इस प्रकार की गई है।

"अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।" और
"अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण।"

जो भाव तीसरे-चौथे भागों में अदिति, दिति और 'अवस्तात्, परस्तात्' के वर्णन में दोनों भागों को देखने की बात कही गई है वही भाव मित्रावरुण का दोनों भागों को 'सत्यानृत' नाम से देखना वर्णित करके

६—सत्यानृतम् व्यक्त किया गया है जैसे—

"यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यवञ्जनानाम्॥"
(ऋ० वे० ७-४९-३)

इसका विशद विवेचन 'प्राचेतसौ मित्रावरुणौ' शीर्षक के 'सत्यानृत' भाग में दिया गया है, वहीं देखें।

जिसको द्यावापृथिवी नाम से पुकारते हैं उन्हीं को रोदस्यौ नाम से भी पुकारते हैं ऋ० वे० १-१०५ सूक्त ने 'वित्तं मे अस्य रोदसी' ध्रुपद के सूक्त में दो रोदसियों को या रोदस्यौ के दो भागों को क्रम से ऋतं

७—ऋतं, अनृतं, रोदस्यौ और अनृतं नाम से पुकारते हुए लिखा है—

"क ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी"
"कद् वऋतं कदनृतं क प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी"
(ऋ० वे० १-१०५-४,५)।

ऋत नाम पूर्वार्द्ध का है और अनृत नाम उत्तरार्द्ध का है। जो ऋत है, वही सत्य भी है। अतः जो सत्यानृत है वही ऋतानृत भी है। मित्रावरुण देखें।

"अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्येतशम्"
(ऋ० वे० ८-६-३८)

८—असद् और सद् पूर्वोक्त दोनों के समान

इसका विवेचन "नासन्नोसद" शीर्षक में विस्तार पूर्वक

९—"असद् सद्" अथवा "नासद् नोसद्" किया जा चुका है। सप्तचक्री सप्तवाद में भी सबसे पहिले ऋसद् रूप ऋषि या प्राण थे, बतलाया गया है।

"यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः। युवानस्तथेदसत्"
(ऋ० वे० ८-२०-१८)

(ऋ० वे० ५-५१-१५, १४ और १० ६३-१५, १६, १०-७-१)

१०—स्वस्ति पन्था, पथ्यां या स्वस्तिः तै० सं० ४-३-१३-२; ऋ० वे० १०-१३०-७, १०-५९-७ 'स्वस्ति पन्थामनु चरेम', 'स्वस्ति पथ्ये रेवति', पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य' "पथ्यां या स्वस्तिः"। (ऋ० वे० ३-५४-५ पथ्या का समेति")

११—क्षेम्या धूः, उत्तरा धूः — "यमर्द्धं ते मघवन् क्षेम्या धूः" (ऋ० वे० १०-२८-५) "बृहत उत्तरा धूः" (ऋ० वे० १०-२८-६) "युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया" (ऋ० वे० १-१६४-९) 'अथर्व० (९-९-९) 'युक्तस्ते अस्तु दक्षिण (१-८५-२)

१२—पूर्व्यें व्योमनि, परमे व्योमन् — 'पूर्व्ये व्योमनि' (ऋ० वे० ९-७०-१) 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (ऋग्वेद १६४-३९) 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (ऋ० वे० १-१६४-४१) "स पूर्व्यो महानां वेनः" (ऋ० वे० ८-६३-१) 'असच्च सच्च परमे व्योमन्' (१०-४-७)।

१३—अर्वावत, परावत "यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे" (ऋ० वे० ३-४०-९)
"यच्छक्रासि परावति यदर्वावति" (ऋ० वे० ८-१३-१५, ८-५३-३)

'अर्वाक्पथ' (७-३९-३) "यन्नासत्या परावतियद् वास्थो अध्यम्बरे" (ऋ० वे० ८-८-१४)

'अर्वाङ्' (१०-८३-६) "ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुः" (ऋ० वे० १-१६४-१९)

'पराचैः' (१०-१०८-१) "अर्वाचीनैः पथिभिर्ये रजिष्ठा" (ऋ० वे० ९-९७-२८)

परावत् (१०-१०८-४) "पारावतस्य रातिषु द्रवच्चक्रेष्वाशुषु" (ऋ० वे० ८-३४-१८)

१४—पूर्वासः उपरासः
१५—वामा दक्षिणाः
१६—पूर्वाः पश्चात् वामा दक्षिणाः
उत्तरावर्त, दक्षिणावर्त
उत्तरापथ दक्षिणापथ
पूर्वेऽर्द्धे-परेऽर्द्धे

'पूर्वास उपरास इन्दवो महे' (ऋ० वे० ९-७७-३) 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः'(ऋ०वे० १-१६४-१) "यज्ञेन (२४ वंतल से) दक्षिणया समक्ता" (ऋ० वे० १०-६२-१) "सावर्ण्यस्य दक्षिणा" (१०-६२-९ ऋ० वे०) "आ दक्षिणा सृज्यते" (ऋ० वे० ९-७१-१) "सविता पश्चातात्" (१०-३६-१४) 'दक्षिणतः' (ऋ० वे० १०-८३-७) "असश्च त्वं दक्षिणतः सखा (ऋ० वे० ८-१००-२) "पूर्वे अर्द्धे रजसो अप्त्यस्य गवां" (ऋ० वे० १-१२४-५) 'नरे च दक्षिणावते' (ऋ० वे० ९-९८-१०) "पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्" (ऋ० वे० १-१६४-१२) युक्ता 'मातासीद् धुरि दक्षिणाया (१-१६४-९)

१७—द्वे विरूपे "द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे" (ऋ० वे० १-९५-१)

१८–से २१ श्री, लक्ष्मी; पत्न्यौ; अहोरात्रे; अश्विनो — "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्" (यजु ३१-२२)

२२—द्विता नक्षत्रं — "द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम" (ऋ० वे० ७-८६-१) "द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः" (ऋ० वे० ३-१७-५) "इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि" (ऋ० वे० ८-७०-२; ९-४७-४)। आगे नक्षत्रवाद देखें।

२३—शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः" (ऋ० वे० ६-९-१)

२४—देव, असुर, सुरासुर,	"अहैव देवा रात्रिरेव असुरा" "स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय। दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्माऽअसुरान्त्ससृजानाय तम इवास तां रात्रिमकुरुत तेऽअहोरात्रे" (श० प० ब्रा० ११-१-६-११) देवाश्चासुराश्च उभये प्राजापत्याः (सर्वत्र)
२५—संवत्सरस्यावारं च पारं च—	"यो वै संवत्सरस्यावारं च पारं च वेद स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पारमश्नुते" (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)
२६—होता-रेतः	"यद्वै चतुर्विंशं तन्महाव्रतं बृहद्दिवे नात्र होता रेतः सिञ्चति। तददो महाव्रतीयेनाह्ना प्रजनयति। संवत्सरे संवत्सरे वै रेतः सिक्तं जायते" (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)
२७—अनारम्भणीय, आरम्भणीय	ब्राह्म संवत्सर ब्रह्म आगे देखें (ऋ०वे० १-११६-५; १०-८२-२)
२८—कः-कम्, शम्	,, ,, ,, ,, ,, (ऋ०वे० ७-३२-४)
२९—अमूर्तं, मूर्तं ३९—अमृतं-मृतं (मर्त्यं) ३१—यत्-स्थितं ३२—त्यद्-सद्	"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यंचामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।" (बृहदा० उप० ५-३-१; श०प०ब्रा० १४-५-३-१)
३३—गुहा०	(बाह्यम्, अधरं) "दासं वर्णमधरं गुहाकः" (ऋ०वे० २-१२-४) 'गुहावाद', शीर्षक इसका पूरा विवेचन देता है।
३४—त्रिपाद्ब्रह्म-चन्द्रमा (सोम) ब्रह्म	'त्रिपादस्यामृतंदिवि' 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः' ऋचा देखें।
३५—क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रविद्-क्षेत्र	"क्षेत्रवित्तरो मनुषो वि वो मदे" (ऋ०वे० १०-२५-८) "अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः" (ऋ०वे० १०-३२-७)
३६—अक्षर ब्रह्म, क्षरब्रह्म	"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" "गौरीर्मिमाय···सहस्राक्षरा परमे व्योमन्" (ऋ०वे० १-१६४-३९, ४१) "द्वे अक्षरे, ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या" (श्वेताश्वतर उ० ५-१)।
३७—प्राणाः नामरूपे कर्म च	"त्रयं वाऽइदं नामरूपं कर्म।···प्राणो वाऽअमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः; (एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन छन्नम्) (बृहदा० उप० १, ६, १-३; श० प० ब्रा० १४-४-४, १, २, ३) शरीरं ज्योती रूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः" (बृह० उप० ४-३-२०; श०प०ब्रा० १४-४-३-२०)
३८—विद्या-अविद्या	द्वे अक्षरे ब्रह्मपुरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या। (श्वे० उप० ५-१)

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" ईशावास्योपनिषद्

सम्भूति-विनाश, धर्म-अधर्म, अपरा-परा कहाँ तक लिखें; इन दोनों भागों के सैकड़ों नाम हैं, इनका कुछ विवेचन सूर्य, अहोरात्र, द्यावापृथिवी, उषा, उषासानक्ता और अश्विनी तथा 'देवरथ' शीर्षकों में मिलेगा। गीता ने संख्या ३२ के अक्षर और क्षर भागों का दूसरा नाम अव्यक्त और व्यक्त दिया है—

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥ (८-२१)

और आदि ब्रह्म इन दोनों से परे हैं जैसे—

"परस्तस्मात् तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥" (८-२०)

इसका तात्पर्य यह है कि अक्षर और क्षर भी नश्वर हैं केवल ब्रह्म नामक अव्यक्त अनश्वर है।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (१५-१८)।

"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
३९—विरजः रजः यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।" (मुण्डक उप० १-२-११)
"आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो" इत्यादि। (ऋ०वे० १-३५-२)

इसका पूर्ण विवेचन 'देवरथ' शीर्षक में बहुत विस्तार के साथ प्रायः सभी उपलब्ध उद्धरणों और विषयों के साथ दिया जायगा। इस रथ से सम्बन्ध रखने वाले कई मन्त्रों को अष्टचक्र, सप्तचक्र, षड्चक्र, पञ्च-
४०—एक चक्र, एक रथ चक्र और त्रिचक्र के वर्णनों में पहिले उद्धृत किया जा चुका है जैसे—

"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको······त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं···
(ऋ० वे० १-१६४-२) इत्यादि।

"भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः ॥"
(ऋ०वे० १०-११४-१०)

इस एक चक्र को श्वेताश्व. उपनिषद् एकनेमि चक्र नाम से पुकारता है और इस चक्र में षोडशकल ब्रह्म १६-१६ कला का और १६-१६ के त्रिवृत्त या तीन भागों या पादों से ४८ तत्त्व और दो सिर प्रथम तथा २५ वें को मिलाकर कुल शतार्द्धार या ५० आरे, तथा २० प्रत्यार (३१ देवता २० शेष तत्त्व) हैं। इसमें षड्, अष्टक या गायत्री के ८, ८ अक्षरों के तीन पाद पूर्वार्द्ध में तीन उत्तरार्द्ध में रहते हैं। येही विश्वरूप को बाँधने या निर्मित करने वाले पाश या ग्रन्थियाँ हैं। इसके तीन मार्ग ऋग्, यजु, साम रूप स्वर (दीर्घ स्वर सहित) ऊष्माण और व्यञ्जन प्रतीकी तत्त्व हैं। इसमें सोम और वृत्र रूप दो का मोह है। इनकी

कई प्रकार की शाखायें हैं। ये शाखायें पञ्चपर्वा विद्या की हैं। इसमें ५० तत्त्व रूप भेद हैं। इनमें से १०, १० के पाँच भाग हैं। कोई इन पाँच भागों को पञ्चपदी (पञ्चस्रोतोऽम्बु) कहता है, कोई पञ्चपशु (पञ्चयोनि), कोई पञ्चप्राणों की लहरें, कोई पञ्चबुद्धियाँ (अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्, विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्), कोई इन्हें पञ्चसागर (पञ्चावर्ता) कहता है, कोई पञ्चप्रकार के दुःखों का वेग या सृष्टिविकास का पारस्परिक संघर्ष। इस प्रकार इस पञ्चपर्वा विद्या की नाना सरणियों में प्रत्येक में ५० तत्त्व होते हैं, उन्हीं का अध्ययन करते हैं जैसे—

"तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति प्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विर्निमित्तैक मोहं।
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥"
(१-४, ५, श्वेता० उप०)

इसे कठ ने दूसरे प्रकार से वर्णित किया है, वह है रथरूप का वर्णन। अतः एक चक्रवाद भी पूरे-पूरे ५० तत्त्वों का षडष्टक (गायत्री के तीन-तीन पादों के आठ-आठ अक्षरों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध भेद) से ४८ तत्त्वों तथा दो सिरों को मिला कर कुल ५० तत्त्वों (शतार्धारं, पञ्चाशद्भेदां) का पूर्ण विवेचन देता है। पूर्व के सब चक्रों का अन्तर्भाव इसी एक चक्र में होता है। सब इसी के विभाग करते हैं। अतः सब मिलकर वैदिक दर्शन के तत्त्वों का पूरा निर्णय देते हैं, उक्त चक्र स्वतन्त्र नहीं सब इसी के अन्दर हैं।

———

अध्याय ९

छान्दस दर्शन

षडङ्गों से वैदिक-दर्शन के तत्त्वों का निर्णय

षडङ्ग वेदों के अङ्ग ही हैं। ये वेदों के विषयरूप ब्रह्मात्मा की विवेचना के विभिन्न अंग या शरीर हैं। शरीर के बिना आत्मा अबोध्य है, आत्मा के बिना शरीर या शरीर के अङ्ग निष्प्राण या निर्जीव शव।

१—षडङ्गों का महत्त्व

इन षडङ्गों का वेदपुरुष के निम्न अङ्गों से तादात्म्य किया गया था।

"शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
"छन्दः पादौ च विज्ञेयं मुखं व्याकरणं स्मृतम्।"

फलतः सब षडङ्ग वैदिक दर्शन के विभिन्न अंग थे।

२—शिक्षा दर्शन से तत्त्व निर्णय

यहां पर तत्त्व निर्णय का क्रम चल रहा है। शिक्षा दर्शन ने वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों का निर्णय अपने ढंग से पृथक् रूप में किया था। इसने आठ ह्रस्व स्वर, आठ दीर्घ स्वर तथा आठ ऊष्माणों से दर्शन के पूर्वार्द्ध की रचना की थी, २५ वाँ ॐ कार था। उत्तरार्द्ध में पञ्च-वर्गीय व्यञ्जनों के विकास से इन २५ व्यञ्जनों को उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्वों का प्रतीक बनाया गया था। अन्तःस्थों का स्वरों में (य रलव=इ ऋ लृ उ) और क्ष, त्र, ज्ञ का व्यञ्जनों में अन्तर्भाव किया गया था। हमारी वर्णमाला 'समाम्नाय' या वेद नाम से पुकारी जाती है। यह शिक्षादर्शन शब्दब्रह्म दर्शन है। अक्षर ब्रह्मदर्शन है। प्रत्येक अक्षर एक-एक तत्त्व का प्रतीक है। इन्हीं प्रतीकाक्षरों में अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि 'सूत्रे मणिगण इव' ओतप्रोत है। ओंकार भी उसी दर्शन की देन है। यह पूर्वार्द्ध के स्वरोष्माणों का ऐक्य रूप त्रिपादामृतीय समाहार है जिसके खण्ड रूप अ+उ+म को अग्नि, वायु, सूर्य से उद्भूत ऋग्यजुः साम का भी प्रतिनिधि माना गया है।

३—कल्प और व्याकरण

कल्प शास्त्रमें 'यज्ञ पुरुष' का विवेचन होता है, जितने तत्त्वों के पुरुष का यज्ञ हो, उतने पात्रों का प्रयोग किया जाता है (पुरुष व्याख्या देखें)। व्याकरण और निरुक्त अर्थस्फोट ज्ञान और वैदिक व्युत्पत्ति के मार्ग हैं। ज्योतिष और छन्दों के दर्शन का विवेचन आगे दिया जा रहा है।

समस्त वैदिक दर्शन छादस दर्शन में ढाला गया है जिसकी सहायता के बिना किसी तत्त्व का न तो स्थान निर्णीत हो सकता है न उसका वास्तविक मूल्याङ्कन या विवेचन किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक

४—छान्दसदर्शन

तत्त्व या देवता की व्याख्या सबसे पहिले उसके स्थान और परिस्थिति के संदर्भ की प्राथमिक आवश्यकता रखती है। यह बिना छान्दस दर्शन के ज्ञान के, सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि वैदिकों ने तत्त्वों के नामों को तथा प्रत्येक सरणि की व्याख्या के तत्त्वों के नामों को भी छान्दस दर्शन के छन्दों के नाम से पुकारा है। दृष्टान्त के लिये 'गायत्री ब्रह्म' है। यह षडष्टक पद्धति है जिसके पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों को गायत्री के त्रिपादों के अनुसार त्रिपाद् पुरुष कहा जाता है। लोग इस त्रिपाद् का तीन चौथाई सा अर्थ लगाये हैं। सायणादि इस त्रिपाद् ब्रह्म को विराट् कहते हैं। विराट् ब्रह्म व्याख्या की सरणि ही अलग हैं। वह विराट् छन्द के अक्षरों से की जाती है। विराट् छन्द दस-दस अक्षर के चार पादों के ४० अक्षरों का होता है और यही ४० अक्षररूप ४० तत्त्वों के ब्रह्म का नाम विराट् ब्रह्म है। जगती ब्रह्म ४८ अक्षररूप ४८ तत्त्वों का १२-१२ अक्षर रूप १२-१२ तत्त्वों के चार पादों का अखिल ब्रह्माण्ड या पूर्ण दर्शन का प्रतीक होता है। इनमें से प्रत्येक की विवेचना स्वतन्त्र रूप से की जाती है। ये एक दूसरे के आश्रित भी नहीं हैं। गायत्री ब्रह्म या त्रिपाद् ब्रह्म (२४ तत्त्वों का) अलग है, विराट् ब्रह्म ४० तत्त्वों का पृथक् है, जगती ब्रह्म ४८ तत्त्वों का इन दोनों से नितांत भिन्न है। लोग इस बात को न समझ सकने के कारण त्रिपाद् माने विराट्, विराट् माने जगती या अखिल ब्रह्माण्ड समझते हुए वैदिक विज्ञान और दर्शन दोनों पर आघात करते हैं।

छान्दस दर्शन को संहिता-ब्राह्मण और उपनिषद् युग में केवल अनूचान और सुश्रुवांस से ब्राह्मण जानते थे। संहिता भाग में उक्त परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि "वह कौन धीर विद्वान् है जो

५—वैदिककाल में छान्द दर्शन की स्थिति और महिमा

छान्दस दर्शन के योग या योग दर्शन या प्रयोग को जानता है? कौन विद्वान् वेदों की वाणी का प्रतिपादन इस छान्दस दर्शन के अनुरूप कर सकता है? वह कौन अष्टम (चक्र रूप) ऋत्विज (तत्त्व) है जिसको 'शूर' (महावीर, सर्व-शक्तिमान्) नाम से पुकारा जाता है? कौन विद्वान् इस प्रकार इन्द्र देवता या तत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकता है? जैसे—

"कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित्॥"
(ऋ०वे० १०-११४-९)

वैदिकों ने जिस तत्त्व को सुपर्ण और श्येन नाम से पुकारा है, जिसे पुराणों

में गरुड़ कहा जाता है और जिसको देवताओं या तत्त्वों के लिए अमृत रूप सोम लानेवाला बतलाया गया है वह 'गायत्री' (छन्द) रूप

६—सुपर्ण छान्दस दर्शन का तत्त्व है।

सुपर्ण ही है (गायत्री ब्रह्म देखें)। अतः (ऋ०वे० १०-११४-५) लिखता है कि छन्द तो एक ही गायत्री (सुपर्ण) छन्द है, उसी से नाना छन्दों की रचना हुई,* जैसे—

"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥"

इसका समर्थन ऐ०ब्रा० ३-२-१२ तथा श०प०ब्रा० १-६-४-१० में विस्तार पूर्वक मिलता है। छान्दस दर्शन के मुख्य छन्द ३६ हैं जिनमें चार पाद हैं, इनमें से १२ छन्द सोम के ग्रहों का वर्णन करते हैं। ये दर्शनरथ के चक्र हैं जिनके ऋग् और साम नामक आगे पीछे के विभाजन हैं जिन्हें दर्शन का पूर्वार्द्ध और परार्द्ध कहते हैं जैसे—

"षट्त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति ॥"
(ऋ०वे० १०-११४-६)।

उक्त ३६ छन्दों के अतिरिक्त १४ और छन्द हैं जिनका प्रयोग दर्शन के प्रत्येक तत्त्व के रूप में भी किया जाता है फिर प्रत्येक तत्त्व को मुख्य सात छन्द रूप वाणी में विभक्त करते हैं, यह सप्तचक्री विवेचन में किया जाता है। ऋचाकार कहते हैं कि इनके तीर्थ रूप ज्ञान को प्राप्त करते हुए उन रहस्यों को कौन खोज सकता है? उन रहस्यों ही में अमृत भरा है। यही अमृत पीने या पाने का मार्ग है, अमृत तो ये ही छान्दस सुपर्ण लाते हैं !!! जैसे—

"चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त।
आप्रानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य ॥"
(ऋ०वे० १०-११४-७)।

वैदिक दर्शन में कुल ५० तत्त्व हैं इनमें से ३६ पहिले दिये गये हैं. यहाँ पर और प्रत्येक तत्त्व का वर्णन छन्दों में है। प्रत्येक तत्त्व नाना स्रोतों या विकासों का मूल कारण है, यहाँ तक कि प्रत्येक तत्त्व से हजारों विकास होने लगते हैं। अतः विकासों की संख्या अनन्त हो जाती है, उतनी हो जाती है जितना यह दृश्य ब्रह्माण्ड है, जितना बड़ा ब्रह्म है और उतनी ही बड़ी वाग् है। अतः ये सब विकास वाग्ब्रह्म या शब्दब्रह्म के ही कहलाते हैं जैसे—

---

*छन्द की व्युत्पत्ति 'छन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेनेति वा छन्दः' है। चन्द धातु के प्रथमाक्षर का छ करने से (चन्देराहेश्चन्द्रः पा० ४, २, १८) या छन्द धातु से बनता है। मन्त्रा मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोम स्तवनात् (यास्क ७-१२) भी दिया है, पर अर्थ तो यह है 'छन्दौ पक्षौ यस्य स्त इति छन्दः सुपर्णः पक्षी।

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था (५×१०=५० उक्था मूलस्रोतादि)
यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्। सहस्रधा महिमानः सहस्रं
यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥" (ऋ०वे० १०-११४-८)

छान्दस दर्शन के अनुसार प्रत्येक देवता का छन्द और ऋषि पृथक्-पृथक् होता है। कर्मकाण्ड में प्रत्येक देवता के पूजापाठ, यज्ञ में प्रत्येक मन्त्र उसके छन्द और ऋषि के नाम सहित दिया जाता है। उसका तात्पर्य भी उस देवता, छन्द और ऋषि की तात्विक स्थिति (स्थान) निर्दिष्ट करने से है। छन्द भी तात्त्विक हैं, ऋषि भी तात्विक हैं। ये दर्शन के विभिन्न अङ्गों के निश्चित स्थान में निर्दिष्ट किये गये हैं। बड़ी भारी जादूगरी तो यह है कि छन्द या मन्त्र का रचयिता ऋषि और तात्त्विक ऋषि भी प्रायः एक ही हैं, कहीं-कहीं भेद मिलेगा। अत्रि मुनि का ऋषिरूप स्थान और चक्षुरूप सूर्य का स्थान एक ही २४ वाँ है। उस "ऋ०वे० ५-४०" सूक्त का ऋषि भी अत्रि ही हैं। पर सूर्य के सूक्त के रचयिता दूसरे ऋषि भी हैं, वे अङ्गिरस हैं (ऋ०वे० १-११५) पर अङ्गिरस का स्थान भी वहीं पड़ता है। इसी प्रकार सविता के वर्णन वाला गायत्री मंत्र भी विश्वामित्र ऋषि का है, रचयिता भी विश्वामित्र ही हैं, सविता और विश्वामित्र का स्थान लगभग एक ही है (ऋ०वे० ३-६२-१०) इत्यादि। इनका तादात्म्य सप्तचक्री दर्शन में सप्तर्षियों और सप्तवाणी या सप्तमुख्य छन्दों के अनुसार किया जाता है। (सप्तचक्रीवाद देखें)। इस बात का प्रमाण ऋ०वे० ने दो अन्य स्थलों में निम्न मन्त्रों से दिया है।

७—छन्द और ऋषि तथा इनके देवता

१—"यद् गायत्रे अधि गायत्र (पुरुष) माहितं
त्रैष्टुभाद् वा त्रैष्टुभं (इन्द्र रुद्र सर्वादेवता ३३) निरतक्षत।
यद्वाजगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा ऽक्षरेण मिमते सप्तवाणीः॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद् रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥
(ऋ०वे० १-१६४-२३, २४, २५)।

२—अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥"
(ऋ०वे० १०-१३०-४, ५)।

इनका अर्थ पुरुष सूक्त के 'छन्दाꣳसि यज्ञिरे' पद के भाष्य में दिया जायगा। अतः इस सूक्त में इन ऋषियों का स्थान छन्दों और उनके तत्त्वों के निर्दिष्ट स्थान

(प्रमा) के साथ होने की घोषणा निम्न मंत्र में की गई है, ये ऋषि क्रम से उत्तरोत्तर वैसे ही विकास पाते गये जैसे पूर्व-पूर्व के क्रम से पाते चले आये जैसे—

"सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥"
(ऋ०वे० १०-१३०-७)

यह मन्त्र वेदों के मन्त्र रचयिता ऋषियों की विचारधारा तथा कृतियों पर भी ध्वनि से प्रकाश डालता है।

प्रत्येक छन्द का प्रत्येक अक्षर एक-एक तत्त्व है, एक-एक देवता है, उसी के अनुसार या विवक्षा या देवता के अनुसार छन्द और ऋषि का प्रयोग या नामोच्चारण किया जाता है कि हम अमुक तत्त्व रूप देवता का आह्वान कर रहे हैं जैसे ऐ०ब्रा० ३-२-२२ में स्पष्ट उद्धरण दिया है—

८—छन्दाक्षरों से तत्त्व दर्शन

"त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च; देवता अक्षरभाजः करोति। अक्षरमक्षरमेव तद्देवताः। अनुप्रपिबन्ति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति यं कामयेतानायतनवान्स्यादित्यविराजास्य यजेद्गायत्र्या वा त्रिष्टुभावान्येन वा छन्दसा वषट् कुर्यादनायतनवन्तमेवैनं तत्करोति ॥"* इन तत्त्व निर्देशक छन्दों में मुख्य सात या आठ हैं। गायत्री, अनुष्टुब्, उष्णिक, त्रिष्टुब्; जगती, विराट् बृहती और पंक्ति हैं जिनमें क्रम से निम्नलिखित तत्त्वरुप अक्षर या देवता निवास करते हैं (२४, ३२, २८, ३३, ४८, ४०, ३६, ५१) इनका विवेचन शौनक की अनुक्रमणी (१-१) में इस प्रकार दिया है "छन्दांसि गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् बृहती पंक्ति त्रिष्टुञ्जगती शक्र्यतिशक्र्यष्ट्यतियष्टि धृत्यतिधृतयः कृतिप्रकृत्या कृतिविकृति संकृत्यभिकृत्युत्कृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुरुत्तराणि नाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ इत्यादि ॥"

गायत्री २४ अक्षरों की होती है। तदनन्तर दिये क्रम के छन्दों में क्रमशः ४, ४ अक्षर अधिक होते हैं जैसे गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुब् ३२, बृहती ३६, विराट् ४०, त्रिष्टुब् ४४, जगती ४८। इसी प्रकार अन्य ४, ४ अधिक अक्षरों के होते हैं अन्तिम उत्कृति १०४ अक्षरों की होती हैं। इनमें से प्रत्येक छन्द के अक्षरों में एक कम करने से उसे निचृत् और अधिक करने से भूरिज कहते हैं जैसे ३३ अक्षर की निचृत् गायत्री, २५ अक्षर की भूरिज्गायत्री और दो-दो कम करके विराट् और अधिक होने से स्वराट् जैसे २२ की विराट् गायत्री २६ की स्वराट्

*जै०ब्रा० (१-९४) इसकी पुष्टि में लिखता है "छान्दसैवैनान् रूपिणा समावद्भ्राजः करोति।" संयजमानानां प्रतिपदं कुर्यात्।"

गायत्री। विराट् स्वयं ४० की है† §जिस देवता की विवक्षा होती है तब उसी के अनुरूप छन्द या पाद का निर्देश किया जाता है। कभी-कभी छन्दों के अक्षरों से दूसरे प्रकार से भी गणना या निर्धारण किया जाता है, जैसे—"अग्निरेकाक्षरेण प्राणदः, अश्विनौ द्वयक्षरेण, विष्णुस्त्र्यक्षरेण, सोमश्चतुरक्षरेण, पूषापञ्चाक्षरेण, सविता षडक्षरेण, मरुतः सप्ताक्षरेण, बृहस्पतिरष्टाक्षरेण, मित्रोनवाक्षरेण, वरुणोदशाक्षरेण, इन्द्र एकादशाक्षरेण विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण॥" (श० प० ब्रा० तथा उपाकर्म पद्धति, ऋषितर्पण)। इनको उलटे क्रम से जगती, त्रिष्टुप्, विराट्, बृहती, गायत्री, उष्णिक् (सप्ताक्षर तक) छन्दों के अक्षर समझिये। पञ्चाक्षरी विराट् का अंग है, चतुरक्षरी अनुष्टुप् का, त्र्यक्षरी बृहती का, द्वयक्षरी समाक्षरी छन्दों का, एकाक्षरी विषमाक्षरी या सब छन्दों का प्रतिनिधि है। ये सब छन्दों के अक्षरों के अनुसार ही पूरे-पूरे तत्त्वों का निर्देश करते हैं, विवक्षा में पाद या पाद के भागों का भी। कहीं कहीं दो या तीन छन्दों के एक एक पाद को जोड़कर भी तत्त्व निर्धारण किया जाता है, जैसे वसुरुद्रादित्यों की समष्टि में गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती के प्रथम चरणों (८+११+१२=३१+प्रजापति वषट्कार या इन्द्र=३३) से या त्रिष्टुप् के तीन चरणों से (११=३३) या अनुष्टुप् (३२+इन्द्र या वषट्कार) से ३३ देवताओं की गिनती की जाती है।

९—छन्द, पशु क्यों कहलाते हैं।

अतः इन सप्तवाणी रूप सप्त छन्दों या अन्य सभी छन्दों को तत्त्व रूप देवताओं का भार या बोझा ढोने वाला पशु कहा गया है। क्योंकि ये देवताओं को तृप्ति या स्थान नियुक्ति कर उन्हें सन्तुष्ट कर देते हैं, जैसा कि श० प० ब्रा० (४-३-५-१) ने लिखा है।

"पशवो वै देवानां छन्दांसि। तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं (नियतस्थानं) वहन्ति। तद्यत्र छन्दांसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दांसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन्॥" यही भाव ऐ० ब्रा० (३-५-४७) ने "छन्दांसि वै देवेभ्यो हव्यमूढ्वा श्रान्तानि जघनार्धे यज्ञस्य तिष्ठन्ति" वाक्य से दिया है।

१०—देवतानुसार छन्दों का प्रयोग

जो छन्द जिस देवता के लिए नियत है, उस छन्द को उस देवता की पत्नी और उस देवता को उस छन्द का पति भी कहा जाता है। ऋ० वे० १०-१३०-४,५ के पूर्वोद्धृत उद्धरणों में छन्दों और देवताओं का यह सम्बन्ध भी प्रतिध्वनित किया गया है। गायत्री का पति अग्नि या पुरुष या क्रतु या यज्ञ है "गायत्रो वै पुरुषः" (ऐ० ब्रा० ४-१-३) उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का

†जैसे "चत्वारिंशत्तमोऽयं विराट्" इत्यादि।

§इस लेखक ने 'दशाक्षरा विराट्' छन्द का वर्णन नहीं दिया है वह अनुचित है, गलत है।

बृहस्पति, विराट् का मित्रावरुण और विराट् पुरुष, त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती का विश्वेदेवता इत्यादि (ऐ० ब्रा० ३-२-१६) में भी दिया है; पुरुष सूक्त भी देखें 'त्रिपादस्यामृतं दिवि'। इन छन्दों से दर्शन के तत्त्वों का निर्देश करने की शैली ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होती है, "चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य, गायत्री पूर्वार्द्ध एष यज्ञस्य तस्माश्चतुर्विंशति विक्रमा भवन्त्येषा मात्रा वेदे ॥" (श० प० ब्रा० ३-४-१-१०)।* प्रत्येक अक्षर, एक विक्रम या पद या पग है। अष्टाक्षरी पाद तो पूर्वार्द्ध नाम्नी गायत्री में तीन होते हैं, जिन्हें विष्णु के 'त्रेधा निदधे पदम्' कहते हैं, पर प्रत्येक अक्षर भी एक एक पग या विक्रम या क्रम है। इतने ही उत्तरार्द्ध में भी हैं "उत्तरार्द्धंपूर्वार्द्धे हैके" (श० प० ब्रा० १-५-२-३९) तथा

"अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्द्ध एष यज्ञस्य ॥"
(श० प० ब्रा० ३-५-३-२०)

यज्ञ नाम पुरुष या दर्शन का पूर्वार्द्ध है। पूर्णयज्ञ तो ४८ तत्त्वों का होता है, पर प्रत्येक तत्त्व भी एक-एक यज्ञ है। इसी प्रकार जगती के बारे में भी एक उल्लेख लीजिए।

"साष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीयं वै जगत्यस्यां हीदं सर्वं जगदियमुवाऽअग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥" (श० प० ब्रा० ६-२-१-३२)।

४८ अक्षरों की जगती से अखिल ब्रह्माण्ड का मूल बीज रूप महापरमाणु बनता है। उसके निर्माण में ४८ तत्त्व रूप अक्षर या सीढ़ियों की आवश्यकता पड़ती है। जब जिस तत्त्व की विवक्षा होती है, वहां जगती के उतने अक्षर के तत्त्व का विवेचन समझना चाहिए। पूरे ४८ तत्त्वों में जगती ही कहलायेगी। यह जगती सरणि की चर्चा है। इसी प्रकार विराट् आदि छन्दोरूपदर्शन की अपनी पृथक् सरणि है, जिस व्याख्या को 'विराट् पुरुष' व्याख्या कहते हैं (पुरुष सूक्त की 'ततो विराडजायत' ऋचा देखें)। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख प्रत्येक पाद में कई बार आते हैं, उन सबका तात्पर्य वैदिक दर्शन के उस तत्त्व के स्थान और मान निर्धारण करने तथा छान्दस दर्शन की व्यापकता दिखलाने से है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इन छन्दों की महिमा इस प्रकार गाई गई है:—अति छन्द छदि छन्द है, वह सब छन्दों का छादन करती है, यह अन्तरिक्ष कहलाती है (यजु १५-५)। छन्द अन्न हैं (म २-६-१३)। प्रजापति के लिए छादना करने वाले छन्द कहलाते हैं (२१-१-८-५-२-१-३-१९)। छन्दों से सोम का सवन किया, यही इनका छन्दत्व है (तै. २-२-८-७)। छन्द एक अक्षरों से नहीं बनते (ऐ. १-६)। छन्द सात हैं (श प. ९-५-२-८)। छन्दों का नाम हारियोजन है (शप० ४-४-३-२)। छन्द ही व्रज और गो स्थान हैं (तै. ३-२-९-३)। छन्द ही अश्व

*चतुर्विंशम् महाव्रतं (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)

वाजिन् तथा पशु हैं (तै.१-६-३-९, ऐ. ४-२१) छन्द ही रस हैं, इन्द्रिय, वीर्य और प्राण हैं (श० प० ७-३-१-३७); ता० म० ६-९-२६; कौ० ७-९; ११-८ छन्द ही देवता हैं, (तांड्य ६-६-६), छन्द ही देवियां हैं (श० प० ९-४-१-३९)। छन्द ही साध्या देवता हैं (ऐ०१-१-६), छन्द ही प्रातर्यापण देवता हैं (श० प० ३-९-३-८), छन्द ही वयोनाद्या देवता हैं (यजु १४-७), छन्द ही ग्राम हैं (श० प० ६-५-४-७), छन्दों से देवता स्वर्ग जाते हैं (श० प० ६-५-४-७, ताण्ड ७-४-२)। छन्द प्रजापति के अंग हैं (ऐ० २-१८)। एकाक्षर देवताओं का अवम छन्द है, सप्ताक्षर परम एकाक्षर अन्न है, असुरों का पञ्चदशाक्षर है (ताण्ड्य १२-१३-२७)। छन्द के समिद्ध होने से देवताओं का यज्ञ किया जा सकता है (श० प० १-३-४-६)। छन्द ही हिरण्यमय हैं (श० प० ६-३-१-४१,४२)। छन्द ही लोम हैं (श० प० ६-४-१-६)। बृहती छन्द, स्वराट् है (ताण्ड्य १०-३-८), स्वाराज्य भी यही है, श्री भी यही है (ताड्य २४-६-३; ऐ १-५)। छन्द ही सावित्री है (गो० पू० १-३३)। अनुष्टुप्, गायत्री, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, जगती ये पांच रात्रि छन्द हैं (कौ० ३०-११)। छन्द ही हिरण्य और अमृत हैं (श० प० ६-३-१-४२)।

छन्दानुसार तत्त्व का नाम परिवर्तन

छन्द के अनुसार देवता या तत्त्व के एक ही स्थान का नाम बदल जाता है। जैसे विराट् छन्द से सोम एक दैवत्य का स्थान तृतीय धाम पड़ता है या तृतीय पाद या दशक या पञ्चक पड़ता है तो अनुष्टुप् छन्द के अनुसार इसका स्थान चतुर्थ धाम या चतुर्थ पाद या अष्टक में पड़ता है। यह ऋ० वे० ९-९६-१८,१९ दो मन्त्रों में स्वयं उल्लिखित है, जैसे—

"ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्॥"

"चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥"

यह ऐसा महा महत्त्व है इन वैदिक छन्दों का।

११—छन्दाक्षरों की उत्पत्ति की कथायें और छन्दों के पादों से ब्रह्म विकास का वर्णन

इन छन्दों के अक्षर रूप की उत्पत्ति की कथायें ऐ० ब्रा० (४-४-२८) ने इस प्रकार दे रखी है। पहिले बृहत् और रथन्तर थे। उनसे वैरूप, उससे विराट् उससे शाकर उससे गायत्री, फिर क्रम से अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् जगती, पंक्ति, अतिछन्द, इत्यादि बने। परन्तु यह गायत्री का सौभाग्य है कि वह कनिष्ट होते हुए भी छन्दों में सर्व प्रथम मानी जाती है, क्योंकि वह श्येन बन कर सोमामृत को देवताओं के लिए सर्व प्रथम लाने में समर्थ हुई। यह गायत्री सरणि ही है जिससे वैदिक दर्शन को सर्व प्रिय तथा सर्व संगठन कर्त्री होने का सौभाग्य मिला कि यह वैदिक दर्शन को दो भागों को बाँटने तथा पूर्वार्द्ध समाप्त होते ही सोम रूप भौतिकात्मा को

उदित होने का तत्काल अवसर देती है। यह इसकी अष्टाक्षरी जादूगरी की महत्ता है। अन्य छन्दों से वैसे चोखे विभाजन भी नहीं बन सकते, जैसे गायत्री के पादों से या अक्षरों से। अतः लिखा है—

"तद्वै कनिष्ठं छन्दः सद् गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यते तदु तद्वीर्येणैव यच्छ्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् ।।" (श० प० ब्रा० १-६-४-१०)

गायत्री छन्द का वैदिक दर्शन से एक प्रकार से तादात्म्य सा है। समस्त पादवाद जहां कहीं भी उल्लिखित हैं उन सबका आधार इसी गायत्री के पाद हैं। समस्त त्रिचक्रवाद इसी गायत्री के तीन पादों से सम्बन्ध रखता है। चतुष्पाद् का सब विवेचन भी इसी गायत्री के दिखलाये चत्वारिपद के चतुर्थ पदा या अनुष्टुप् गायत्री के अनुसार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि गायत्री वैदिक दर्शन का अभिन्न अंग है। अतः ब्रह्म का नाम भी एक पाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद् आदि इसी गायत्री के पादों से पड़ गया है, जैसे—

"एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पंक्तीरुपतिष्ठमानः ।।"

"समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सं मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ।।"
(ऋ० वे० १०-११७-८,९)।

समस्त वैदिक दर्शन अक्षर ब्रह्म की विवेचना करता है। यह कूटस्थ, अव्यक्त, त्रिपाद् पुरुष, यज्ञ, आत्मा आदि कहलाता है। आदि ब्रह्म अपाद्, अन्य, अव्यक्त, आदि नामों से पुकारा जाता है, जैसे—

"स यह्व्योऽवनीर्गोष्ववर्वाऽऽजुहोति प्रधन्यासु सस्त्रिः ।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः ।।"
(ऋ० वे० १०-९९-४)

"अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्य ऋतं पिपर्त्यनृतं नि तारीत् ।।"
(ऋ० वे० १-१५२-३)

अथर्व वेद ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है—
"अपादग्रे समभवत्सो अग्रे स्वराभरत् ।
चतुष्पाद्भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ।।"

पाद का ही नाम पद नहीं है। और पदों की संख्या 'सात' ही दी गई है और पाद के अनुसार कोई भी छन्द एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी, पञ्चपदी, षट्पदी या सप्तपदी हो सकता है, जैसे गायत्री के बारे में बृहदारण्यक उप० ने लिखा है "तस्या उपस्थानं गायत्री एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यसि नहि पद्यसे

तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदो मा प्रापद (२-१४-३)।" और स्वयं ऋग्वेद ने सप्तपदी का उल्लेख किया है "ऋताय सप्त दधिषे पदानि" (ऋ० वे० १०-८-४)। ये पद पाद नहीं हैं सप्तक हैं। दर्शन के ऋतुमय विभागों का विवेचन देते हैं, जैसे "पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त" (ऋ० वे० १०-५५-३); "सप्तर्तवो हि सप्त" (अथर्व ८-५-१-२०)। इन सप्त पदों में प्रत्येक में सात-सात तत्त्व भी माने गये हैं। अतः सप्त शब्द की वीप्सा दी गई है, जो ७×७=४९+ब्रह्म=५० कुल तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। यही सप्तपदी भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं मूलक सात लोक हैं। अष्टम लोक ब्रह्म का अति स्थान है। श० प० ब्रा० (३-२-४) में इसी सप्तपदी का वर्णन है।

अध्याय ९

ज्योतिष और संवत्सर ब्रह्म द्वारा तत्त्व निर्णय

शुक्लयजुर्वेद ने अध्याय १८ में २४ वें और २५ वें दो बड़े मन्त्रों में दो प्रकार की गिनतियों की प्राप्ति की कामना की है। प्रथम मन्त्र में विषमाङ्क एक से ३३ तक गिनाये हैं, द्वितीय में समाङ्क ४८ तक गिनाये हैं।

अंक निर्देश द्वारा तत्त्व निर्णय

अङ्कों की संख्यायें तो वैदिक ऋषि १००,००,००,००,००,००,-००,००,००,०० तक गिन लेते थे। तब यहां इतनों ही का उल्लेख क्यों है? बात यह है कुल देवता ३३ हैं उनको 'एका च मे तिस्रश्च मे' मन्त्र द्वारा स्त्री लिंग में कहा है और कुल तत्त्व रूप देवता ४८ हैं। अतः उन्हें "चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे" इत्यादि द्वितीय मंत्र में चतुरक्षरी विभाजन से छन्दों के भाग द्वारा वर्णित किया है। ये दोनों अङ्क संख्यायें निश्चय पूर्वक ३३ देवताओं तथा ४८ छान्दसाक्षरानुरूप वैदिक दर्शन के ४८ तत्त्वों की ही प्राप्ति की कामना करते हैं। इन अङ्कनिर्देशों से संकेतित तत्त्वसंख्याओं का विवेचन एक-एक करके देते हुए श०प०ब्रा० (८-४-३-२ से १९ तक पूरे) ने इन संख्याओं को ३३ देवतावाची और छान्दस दर्शन के ४८ तत्त्ववाची स्पष्टतया ठहराते हुए प्रत्येक अङ्क से निर्दिष्ट देवता की पूरी-पूरी व्याख्या दे दी है। इसके उद्धरणों को 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में पूरा-पूरा उद्धृत कर दिया गया है। अन्त में पुनः स्पष्ट लिखा है कि विषम संख्या ३३ देवताओं की संख्या की अन्तिम सीमा है और सम संख्याओं में छान्दस दर्शन के तत्त्वों की अन्तिम संख्या ४८ है, जैसे—

"अन्तो वै त्रयस्त्रिंशोऽयुजां स्तोमाना-
मन्ततऽएव तद्देवाः स्वर्गंलोकमायन्।
अन्तो वा अष्टाचत्वारिंशो युग्मतां स्तोमाना-
मन्तत एव तच्छन्दांसि स्वर्गं लोकमायन्॥"
(श०प०ब्रा० ९-३-३-३ और ९-३-३-५)।

ऐ०ब्रा० ४-२-१२ में अग्निष्टोम को अष्टाचत्वारिंशत् कहता है, जैसे "अग्निष्टोम स्यादष्टाचत्वांरिशत्" यह उक्त कथन की पुष्टि है। इन विषम सम संख्याओं से संकेतित वैदिक दर्शन के तत्त्वों का पुनः स्पष्ट विश्लेषण देते हुए लिखा है कि ४८ तत्त्वों की संख्या के दो पक्ष या दो भाग हैं, प्रत्येक भाग में २४, २४ तत्त्व (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के) हैं। पचीसवां तत्त्व 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' है, २१ वाँ पुच्छ है, (४५ वाँ तत्त्व) और ३३ संख्या का वश या वशा महदुक्थ है, इत्यादि जैसे–

"यान्यष्टा चत्वारिंशत्तौ चतुर्विंशौ पक्षौ अथ, यानि पञ्चविंशतिः स पञ्चविंशः आत्मा अथ यान्येक विंशति स्तदेकविंशम् पुच्छमथ, यानि त्रयस्त्रिंशत्स वशो········॥"
(श०प०ब्रा० ९-३-४-१९)

अन्त में लिखा है 'द्वे प्राणे द्वे शिरे'। मंत्र में 'दो' अंक का निर्देश नहीं हैं। ये वही 'द्वे शीर्ष्णे' हैं जो 'चत्वारि शृङ्गाः' आदि ऋचा में लिखे हैं, ये प्रथम और २५ वें तत्त्वरूप शिर हैं।

शुक्लयजुर्वेद (१४-२३) ने पुनः कई प्रसिद्ध तत्त्वों का नाम उसकी क्रमागत तत्त्व संख्या के साथ देकर पूर्वोक्त कथन पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है।

२—कई प्रसिद्ध तत्त्वों का स्थानीय नाम

इसमें लिखा है कि १५ वें तत्त्व का नाम 'भान्तः' है, १७ वें का नाम 'व्योमा' है, इक्कीसवें का नाम 'धरुणः' है, अट्ठारहवें का नाम 'प्रतूर्तिः' है, उन्नीसवें का नाम 'तपः' है, बीसवें का नाम 'अभीवर्तः' है, बाइसवें का नाम 'वर्चः' है, तेईसवें का नाम 'संभरण' है, चौबीसवें का नाम 'योनिः' है, पच्चीसवें का नाम 'गर्भाः' है, सत्ताइसवें का नाम 'ओजाः' है, इकतीसवें का नाम 'क्रतुः' है; तैंतीसवें का नाम 'प्रतिष्ठा' है, चौतीसवें का नाम 'ब्रध्नस्य विष्टप' है, छत्तीसवें का नाम 'नाकः' है और अड़चालीसवें का नाम 'विवर्तः' है (श०प०ब्रा० ८-४-१से १० तक) जैसे "भान्तः पञ्चदशः व्योमा सप्तदशः, धरुण एकविंशः, प्रतूर्तिरष्टादशः, तपो नवदशः, अभीवर्तः सविंशः, वर्चोद्वाविंशः, सम्भरणस्त्रयोविंशः, ब्रध्नस्य विष्टपं चतुरस्त्रिंशः, नाकः षट्त्रिंशः, 'विवर्तोऽष्टाचत्वारिंशत् ॥'

इस ४८ वें विवर्त नामक तत्त्व से पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड का विवर्त प्रारम्भ होता है। वैसे विवर्त का आरम्भ २५ वें तत्त्व उषा से आरम्भ हो जाता है जैसे—

"कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव ॥"
(ऋ०व० १-१८५-१)

"आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन ॥"
(ऋ०वे० १०-५५-३)

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' और 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति……… सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (ऋ०वे० १-१६४-३९-४१) की ऋचाओं में दर्शन के दो

३—छन्दाक्षरों द्वारा अक्षरब्रह्म व्याख्या

भागों को अक्षर और क्षर ब्रह्म कहने के स्थान में 'अक्षरे' (अक्षरञ्च क्षरञ्च अक्षरे) कहा है और इन्हीं दो भागों को (ऋचां च यजुषां अक्षराणां समाहार ऋग् तयोः) 'ऋचोः' कहा है। इसका विवेचन 'ऋचो अक्षरे' नामक शीर्षक में विस्तार पूर्वक दिया गया है। प्रत्येक भाग में ४३२०००००० अक्षर हैं; दोनों भागों को मिलाकर कुल ८६४०००००० अक्षर क्षर हैं। अथर्व, व्रात्य काण्ड में इनका वर्णन आसन्दी के रूप में दिया है। ये अक्षर अक्ष रूप और अक्षर रूप दोनों प्रकार के हैं। दोनों का तात्पर्य सूक्ष्मातितम सूक्ष्म बीजरूप ध्वनि या शब्द

ब्रह्म के ऐक्य या त्रात्य से है। अक्षमालोपनिषद् ने १४ स्वर, ११ ऊष्माण और २५ वर्गीय व्यञ्जन प्रतीकी अक्ष रूप या अक्षर रूप ध्वनियों या शब्द ब्रह्म विकास परम्पराओं को देकर वैदिक दर्शन के शब्दब्रह्म विकास की ५० तत्त्व रूप ५० सीढ़ियों का स्पष्ट विवेचन दे दिया है। हमारा लौकिक वर्णसमाम्नाय भी इन्हीं वैज्ञानिक या दार्शनिक ध्वनियों के आधार पर ढला है। पर दोनों की यथार्थता में आकाश-पाताल का अन्तर है। वैदिक समाम्नाय तत्त्व प्रतीकी है, लौकिक वैकारिक ध्वनिप्रतीकी है। वैदिक दर्शन के अक्षर समाम्नाय के पूर्वार्द्ध के तीन पाद रूप २४ तत्त्वों से क्रम से अ इ उ (ह्रस्वदीर्घ ऊष्माण) प्रतीकी तत्त्वों के समाहार को ॐकार और प्रत्येक पाद को क्रम से ऋग्, यजु, साम कहते हैं। आसन्दी से पूर्वार्द्ध ऋग् (स्वर ऊष्माण) हैं तो उत्तरार्द्ध यजु अन्तस्थादि पञ्चवर्ग)। ये ध्वनियाँ अनिरुक्त या अस्फुट हैं। अतः नित्य हैं, पर लौकिक ध्वनियाँ वैकारिक या अस्फुट या स्फोट रूप ध्वनियाँ हैं, अतः नश्वर हैं। वैदिक ध्वनियों का विवेचन पद या पाद या सप्तवाद से भी किया जाता है। अक्षर ब्रह्म के अक्षरों की गिनती की कई अन्य शैलियाँ हैं जिन्हें आगे संवत्सर ब्रह्म के वर्णनावसर पर दिया जा रहा है।

वैदिक विश्वदर्शन में संवत्सर ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म का काल रूप में वर्णन करता है। परन्तु विद्वान् लोग इस संवत्सर नाम को लौकिक वर्ष समझ कर वेदों में वर्णित संवत्सर ब्रह्मरूप अक्षरब्रह्म को हम आप लोगों के दिन-मास वाला वर्ष ही समझते चले आ रहे हैं। वैदिकों का यह संवत्सर ब्रह्मवाद दर्शन का एक बृहत्प्रकाश स्तम्भ है। यह संवत्सर ब्रह्म कई प्रकार से वर्णित है। यह वर्णना शाखान्तर या प्रकारान्तर से है। संवत्सर ब्रह्म की मूल भित्ति वैदिक अहोरात्रवाद है। यह अहोरात्रवाद चार प्रकार का है, ब्राह्म, दैव, पैत्र और मानुष। ये चारों तत्त्व तात्त्विक हैं। ब्राह्म अहोरात्र की व्याख्या युगों और वर्षों से होती है, दैव अहोरात्र एक वर्ष का होता है, पितृ अहोरात्र दो पक्षों या अयनों के अर्द्ध मासों का होता है, मानुष अहोरात्र एक दिन और एक रात का होता है। इन चारों प्रकारों में दर्शन के पूरे पचास तत्त्वों को वर्षों, मासों, अयनों और दिनों में विभक्त किया जाता है। इनका विशद वर्णन अन्यत्र दिया जायगा। इनके अतिरिक्त ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म हैं, जिसके अनुसार पञ्चपर्वा विद्या में तत्त्वों की १०, १० की ५ ऋतुयें, षडष्टक में छह ऋतुयें तथा सप्तकों में सात ऋतुयें मानी जाती है। नक्षत्रवादी संवत्सर ब्रह्म भी पूर्वार्द्धपरार्द्ध में २७-२७ नक्षत्रों को क्रम से ५० तत्त्वों में बिठलाता है। इन सब में मध्यवर्ती तत्त्व विषुवद्रेखा या उषा या सूर्य या अश्विनी या सोम माने जाते हैं।

४—संवत्सर ब्रह्म और अहोरात्र की नाना सरणियाँ।

'संवत्सर' शब्द की व्याख्या 'यो हैव मेतत् संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद यो हैनं पाप्मा माययात्सरति' (श०प०ब्रा० ११-१-६-१२) है। 'सर्वं अत्सरत्' माने ऽत्र

देवताओं की सृष्टि करने वाला है। संवृत् नाम भी संवत्सर का है, ब्रह्म का नाम भी संवृत् है जैसे—

५—संवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति

"त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा
विवृदसि विवृते त्वा संवृदसि संवृते त्वा।"
(यजु० १५-९)।

अतः जो संवृत् रुप होते हुए भी सरण प्रसरण करता या प्रसारण या विकास पाता है वही संवत्सर है 'संवृत्सरतीति संवत्सरः'। संवत्सर का जो नाम वर्ष है वह उसके कृत्तिका या वृषराशि से प्रारम्भ होने के कारण पड़ा है, वृष ही वर्ष है, वृषा है, वृषभः है (वृषभो रोरवीति—संवत्सर रुप देवो रोरवीति)। यही ऋषि रूप में (प्राणाः ऋषयः) 'ऋषभः' भी कहलाता है ऋषि भी, 'ऋषीन्प्राणान् भरतीति ऋषभः'। अतः ब्राह्मणों और उपनिषदों ने गलाफाड़ कर चिल्ला चिल्ला कर बार-बार कहा है "संवत्सरो ह्ययं आत्मैव" जैसे श०प०ब्रा० १४-४-३-२२,२३ बृह० उप० ३-६-१४-१५ में; जै०ब्रा० (२-६०) ने संवत्सर शब्द की रोचक और वैज्ञानिक व्युत्पत्ति दी है, लिखा है जो चमकता है (भाति) वह तो संवत् है जो बीच में कृष्ण है वह सरः है यह अधि दैवत 'संवत्सरः' है; जो चक्षु का शुक्ल रूप है वह संवत् है जो बीच में कृष्ण है वह सरः है, यह अध्यात्म संवत्सर है। सूर्य रूप तो संवत् है और चन्द्ररूप सरः है। अतः 'संवत्सरः' दोनों मिलकर पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के जोड़े का नाम है।

ब्राह्म संवत्सर ब्रह्म युगों से चलता है, इसमें पूर्वार्द्ध और परार्द्ध में चार-चार युग होते हैं। चौथा मध्यवर्ती युग है। कुल सात युग हैं ये सप्तचक्र वाद के अङ्ग हैं और सात ऋतुओं से युगों की वर्णना की जाती है जैसे—

६—ब्राह्म संवत्सर ब्रह्म

"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा"।

(ऋ०वे० १०-९७-१, यजु० १२-७५; तै०सं० ४-२-६-१) की व्याख्या में (श०प०ब्रा० ७-२-२-२६ ने लिखा है

"इति ऋतवो वै देवास्तेभ्यः एतास्त्रिपुरा जायन्ते वसन्ता प्रावृषि शरदि।"

यहां पर तीन देवों का वर्णन तीन ऋतुओं के द्वारा किया है। इनके वर्षों का विवेचन अन्यत्र 'अहोरात्रवाद' में दिया है। पूर्वार्द्ध के चार युगों में ४३२०००० वर्ष और उत्तरार्द्ध में भी इतने ही वर्ष होते हैं, कुल ८६४०००० वर्ष रूप अक्षरों का एक संवत्सर ब्रह्म होता है। यहां पर श० प० ब्रा० की दी गई व्याख्या में कुछ भ्रम है। इसमें वसन्त, प्रावृट्, शरद् तीन ऋतुओं का नाम लिखा है इनमें ग्रीष्म ऋतु के स्थान में शरद् दे दिया है। शरद् में ये उत्पन्न होती हैं और प्रथम तीन ऋतुओं में ये उस उत्पत्ति की व्यवस्था पाती हैं। प्रत्येक सप्तक एक ऋतु है। ऐ० ब्रा० ४-३-१५, १६ में 'ॐ ज्योतिर्गौरायुरिति' वाक्य द्वारा उक्त ऋतुओं को तीन लोक तथा षडह या ऋतु नाम से पुकार कर पूर्वार्द्ध में चार षडह या ऋतुएं या

२४ तत्त्व और उत्तरार्द्ध में भी इतनो ही ऋतुएं मानी है। इनके बीच के भाग को मध्य और उक्थ्य नाम से पुकारते हुए, दूसरे वाक्य में अधिक खुलासे के साथ षडह् को 'षड् ऋतवः' कहा है तथा ऐ० ब्रा० ४-२-१४ में उस २४ वें को महाव्रत नाम से पुकार कर इसे एक पूर्वार्द्धीय संवत्सर नाम की उपाधि दी है, जो २५ वें में 'रेतः' का सिञ्चन या बीजारोपण या भौतिकता का आरम्भ करता है। यहाँ से दूसरा संवत्सर या भौतिकता के संवत्सर का आरम्भ होता है। ये दोनों भाग संवत्सर के प्राण और उदान कहलाते हैं और इन्हीं को संवत्सर के अवार और पार नाम से भी पुकारा जाता है जैसे "अस्य प्रायणीयः प्राण उदान उदयनीयः स्वस्ति संवत्सरस्य पारमश्नुते य एवं वेद।" "यो संवत्सरस्य अवारं च पारं च वेद स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पारमश्नुते॥" (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)

६—संवत्सर ब्रह्म के वैदिक नाम

संवत्सर ब्रह्म के पूर्वोक्त दो भागों के नाम वेदों में प्रसिद्ध रूप से उल्लिखित कुछ और हैं। वे हैं अनारम्भणीय और आरम्भणीय; तथा कः और कम् या शम्। (ऋ० वे० १-११६-५१) ने उक्त दोनों की चर्चा इस प्रकार की है।

"अनारम्भणे यद्वीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥"

तथा ऋ० वे० १०-८१-२ ने लिखा है

"किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥"

पूर्वार्द्ध अनारम्भणीय है, उसी से उत्तरार्द्ध में रेतः सिञ्चन द्वारा आरम्भण भाग उदीयमान होता है। इन्हीं को कः और कम् या शम् कहते हुए ऐ० ब्रा० ६-४-२१ पुनः २-५-३ में भी लिखता है "इति कद्वन्तः प्रगाथा आरम्भणीया अहरहः शस्यन्ते, को वै प्रजापतिः प्रजापते राप्त्यै यदेव कद्वन्ताः ३।" इत्यादि। यह ऋग्वेद के ७-३२-४ ऋचा 'कस्त मिन्द्र त्वा वसुं कं नव्यो अतसीनां कदू त्वस्या कृतम्' इत्यादि की व्याख्या में लिखा गया है। श० प० ब्रा० (६-२-१-५, १२) में इसी प्रकार का व्याख्यान दिया हुआ मिलता है। और विशेष करके इस श० प० ब्रा० ने कम् और शम् नामक उत्तरार्द्धीय भागों की व्याख्या २-४-३-११,१२ में "कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कंवैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते।" "शं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत शंवैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते।" वाक्यों से दी है। इन अनारम्भणीय और आरम्भणीय संवत्सर ब्रह्मों का मध्यविन्दु या मिलन विन्दु २४ वां तत्त्व है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख ऐ० ब्रा० ४-२-१२ में इस प्रकार दिया गया है जैसे "चतुर्विंशमेतदाहरुपयन्ति आरम्भणीयमेतेन वै संवत्सर मारभन्त एतेन स्तोमाश्च छन्दांसि······तच्चतुर्विंशस्य चतुर्विंशत्वम्।" इन्हीं दो भागों को श० प० ब्रा० के उक्त २-४-३-५ में दो वेदी के नाम से पुकारा है जिन्हें उत्तर वेदि और दक्षिण वेदि कहा है या ऊर्ध्वा और अवाची जैसे—

"तद्वै द्वे वेदी भवतः द्वावग्नी भवतः।......
ऊर्ध्वा इतश्चावाची तस्माद् द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः॥"
(श० प० ब्रा० १२-७-६-७ भी देखें)

अस्तु! इसी चतुर्युगीय संवत्सर ब्रह्म को चतुष्कल या चतुष्पाद् ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है (गायत्री ब्रह्म और चतुष्पाद ब्रह्म देखें) जिनको 'त्रियुगं' कहा है उन्हीं को अन्यत्र 'त्रयः केशिनः' भी कहा है जैसे—

"त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते। संवत्सरे वयते एक एषाम्।"

इसमें रेतः सिञ्चति (वयति) का भाव भी भरा है। श० प० ब्रा० १२-७-३-७ में पूर्वार्द्ध को देव लोक उत्तरार्द्ध को पितृलोक नाम से भी पुकारा है।

यह एक पूरे वर्ष का होता है जिसमें पूर्वार्द्धीय संवत्सर ब्रह्म में ३६० दिन तथा उत्तरार्द्धीय संवत्सर ब्रह्म में ३६० रातें होती हैं। पूर्वार्द्ध में २४ तत्त्वरुप २४ अर्द्धमास (या पक्ष १५ दिन के) होते हैं, उत्तरार्द्ध में भी इतने ही अर्द्धमास होते हैं। इनको वैदिकों ने १२ महीने के १२ प्रधयः या १२ आर और आकृति नामों से पुकारा है जैसे—

७—दैवी अहोरात्रीय संवत्सर ब्रह्म

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणिनभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिंशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

(ऋ० वे० १-१६४-४८ अथर्व १०-८-४) कि इस संवत्सर ब्रह्म में १२ प्रधियाँ या मास हैं तीन नभ्य या पाद (गायत्री के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में २४ तत्त्वों के) हैं, उसमें ३६० शङ्कुओं के समान या पर्वतों के समान दिन होते हैं। यहां एकही अर्द्ध का वर्णन दिया है, ऐसा ही उत्तरार्द्ध में जानना चाहिए। उत्तरार्द्ध का वर्णन ऋ० वे० १-१६४-१२ इस प्रकार दे देता है।

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।"

उत्तरार्द्ध में भौतिकात्मा का दिव्य शरीर पुरी के समान प्रस्तुत हो जाता है। अतः उन्हें पुरीषिणः कहते हैं। यहाँ द्वादश मासों को इसीलिए द्वादशाकृति या रुपवान् कहा है। यहाँ पञ्चपाद नाम पञ्चपर्वा का है। एक चक्र का वर्णन इस प्रकार दिया है

"चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तम्।"

(ऋ०वे० १-१५५-६) अर्थात् ४×९०=३६० पूरे अहोरात्र होते हैं दो अर्द्धों के आधे भाग दिन, आधे भाग रात्रि में ७२० अहोरात्र (३६०+३६०=७२०) होते हैं। इन दोनों अर्द्धों का एक साथ वर्णन यह निम्न ऋचा देती है

"द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिच तस्थुः॥"
(ऋ०वे० १-१६४-११, अथर्व ९-९-१३)।

इसमें बारह महीनों को १२ आरे बतलाया है; यह अमृत का चक्र (पूर्वार्द्ध) है और इसका जोड़ीदार (मिथुन) उत्तरार्द्ध है, दोनों को अग्निरुप ब्रह्म के दो पुत्र कहा है जैसा कि श०प०ब्रा० ने लिखा है 'तद्वै द्वेवेदी भवतः द्वावग्नी भवतः' (२-४-३-५–ब्राह्म संवत्सर में पूरा उद्धरण दिया है। इन दोनों में इन दोनों भागों में ७२० अहोरात्र (३६० दिन पूर्वार्द्ध के, ३६० रात उत्तरार्द्ध के) मिलकर होते हैं। पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों में से प्रत्येक एक अर्द्धमास है, १५ दिन का है, दो तत्त्वों या दो अर्द्धमासों का एक मास ३० दिनका होता है अतः कुल २४×१५=३६० दिन होते हैं। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में ३६० रातें होती हैं कुल मिलाकर ७२० दिन रातें होती हैं। इसका विशद वर्णन (ऐ०ब्रा० ४-२-१२) में दे रखा है उद्धरण 'इन्द्र' शीर्षक के शतक्रतु इन्द्र व्याख्या में भी दिया गया है यहां भी दे दिया जाता है

"चतुर्विंशति वा अर्द्धमासा, अर्द्धमासश एव संवत्सरमारभन्त। उक्थ्यो भवति पशवो वै उक्थ्यानि। पशूनामवरुद्धयै पञ्चदशस्तोत्राणि पञ्चदश शस्त्राणि समासो (२४×१५) मासश एव तत्संवत्सरमारभन्ते। तस्य षष्ठि श्च त्रीणि च शतानि (३६०) स्तोत्रिया (दिनानि) स्तावन्ति संवत्सरस्याहान्यहश एव।" इनके पूर्वार्द्ध में देवता, उत्तरार्द्ध में असुर रहते हैं जैसे

"अहर्वै देवा अश्रयन्त रात्रिमसुरास्तेसमावद्वीर्या, तम इव रात्रिर्मृत्युरिवः।"

(ऐ०ब्रा० ४-१-६) इन अहोरात्रों के वर्णन या गिनती की कई अन्य शैलियां हैं, उन्हें ऐ०ब्रा० ४-१-३ में देखें। 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक भी देखें।

पैत्र संवत्सर ब्रह्म पक्षवादी या कलावादी संवत्सर ब्रह्म कहलाता है। इसमें दर्शन के कुल तत्त्वों को दो पक्षों या अर्द्धमासों में विभक्त किया जाता है। पूर्वार्द्ध शुक्लपक्ष कहलाता है, उत्तरार्द्ध कृष्णपक्ष। पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वरूप शुक्लपक्ष की १५ कलाओं में संवत्सर ब्रह्म रूप सोम या चन्द्रमा पूर्णता या पौर्णमासी को प्राप्त होता है, वही उत्तरार्द्ध में भौतिकता की क्रमिक वृद्धि के साथ-साथ त्रिपादामृत रूप सोम या चन्द्र की कलाओं को रात्रि प्रतिरात्रि क्षीण करते जाता है। इस मत में पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों को रात्रि ही माना जाता है, पर पूर्वार्द्ध शुक्लपक्षीय उजियाली रात्रि उत्तरार्द्ध कृष्णापक्षीय अंधियारी रात्रि कहलाती है और इन्हीं को मानुष संवत्सर ब्रह्मवाद में क्रम से दिन और रात कहते हैं ('अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' ऋ०वे० ६-९-१) अतः लिखा है

८—पितृ अर्द्धमासीय संवत्सर ब्रह्म

"य एव आपूर्यते अर्द्धमास स देवा योऽपक्षीयते स पितरो।
अहरेव देवाः रात्रिः पितरः पुनरहः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः॥"
(श०प०ब्रा० २-१-३-१)

इसका सुन्दर विवेचन पुनः (श०प०ब्रा० १४-४-३-२२; २३) तथा बृहदारण्यक उप० (३-६-४४; १५) ने निम्न वाक्यों में प्राञ्जलतया दिया है।

"स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभि (शुक्लाभि) रापूर्यतेऽप च क्षीयते (कृष्ण पक्षीयाभिः) सोऽमावास्यायां रात्रिमेतया षोडस्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते (उत्तरार्द्धारम्भे आरम्भणे) तस्मादेतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणान्न विच्छिन्द्याद् अपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ।।२२।। यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं (त्रीणि नभ्यानि ऋ०वे० १-१६४-४८) यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं ('द्वादश प्रधयः' ऋ० वे० १-१६४-४८) तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिञ्जीयत आत्मना चेज्जीवति 'प्रधिर्नाऽगादित्याहुः' ।

यह परिच्छेद ऋ०वे० १-१६४-४८ (पूर्वोद्धृत) की पूरी दार्शनिक व्याख्या देता है ।

जिसको उपनिषदों में षोडशकल ब्रह्म कहा है वह यही पैत्रसंवत्सर ब्रह्म है। इस मत में पूर्वार्द्ध में १५ कलायें या तिथियाँ मानी जाती हैं, सोलहवीं तिथि में चन्द्रमा पूर्ण होता है वह अमावास्या में पड़ती है पर इसमें सूर्योदय या आदित्योदय का सा पूर्ण प्रकाश केवल रात्रि की अमावास्या वाली षोडशी कलारूप उत्तरार्द्ध के आदि ब्रह्म मात्र में रहता है, अतः उसे प्रकाशमय और ज्ञानमय कहा जाता है। अक्षर ब्रह्म से या संवत्सर ब्रह्म से शुक्लपक्ष की सी उजियाली रात्रि रह जाती है । तब सृष्टि के आरम्भ ही से जो अन्धकार उत्पन्न होने लगता है, उसमें त्रिपादामृतरुप चन्द्रमा धीरे-धीरे २५ वें तत्त्व में अमृतरुप में पूर्णता को प्राप्त होता है* अतः यह सोम वैदिकों का 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' या अमृतमय प्रकाश तथा ज्ञानयुक्त कहा गया है । यही २५ वें तत्त्व में अमावस्या को सूर्य में भौतिकावरण से प्राप्त होता है । यह षोडशी कला है, यहीं से रात्रि होती है । छान्दोग्य उपनिषद् (६-६) ने उक्त उद्धरणों की पुष्टि में लिखा है—

९—षोडशकल ब्रह्म

"अमायाभेव षोडशी कला षोडशकलः सौम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ।" श्वेताश्वतर का 'तमेक नेमिं षोडशान्तं' का 'षोडशान्तं' शब्द इसी षोडश कल ब्रह्म की सूचना देता है । नृसिंह पूर्व तापिनी उपनिषद् में भी इसका वर्णन है; यह

"षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं भवति षोडश कलौ वै पुरुषः"

वाक्य द्वारा उक्त ध्वनि में ही कहता है । श० प० ब्रा० ने अन्यत्र भी

*पौर्णमासी तो २४ वें में होती है, २५ वीं अमावास्या होती है उसी को षोडशीकला कहते हैं—'अनुमति तथा सिनीवाली कुहू' शीर्षक देखें—

इसका विवेचन कई स्थलों में दिया है, जैसे पुरुष सूक्त की व्याख्या के अवसर में (पु० सू० देखें) तथा ७-१-४-१७ में लिखा है।

"ता उभय्य षोडश सम्पद्यन्ते षोडशकलः प्रजापतिः ॥"

ऐ० ब्रा० (५-५-१) ने भी इसकी व्याख्या लिखा है।

"यो वा अग्नि होत्रं वैश्वदेवं षोडशकलं पशुषु प्रतिष्ठितं वेद ।"

प्रश्नोपनिषद् (षष्ठ प्रश्न) में इस षोडशकल ब्रह्म का पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है जैसे "तं त्वां प्रच्छामि क्वाऽसौ पुरुष इति। तस्मै स हो वाच। इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडशकला भवन्तीति। स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्निह उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामीति कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति। स प्राणान-सृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुं ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियमनोऽभयमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रा कर्मलोका लोकेषु नाम च। स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्यते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ॥"

नारद परिव्राजकोपनिषद् ने 'षोडश मात्रक' का जो वर्णन दिया है वह षोडशकल (वैदिक ब्रह्म) से नितान्त भिन्न है। यह भी एक प्रकार का विकास क्रम है और विचारणीय विषय है। इसमें कई बातें अनोखी हैं। इस षोडश-कल ब्रह्म की प्रत्येक कला में सहस्रता या अनन्त बीजता मानी जाती है। अतः पुरुषसूक्त प्रारम्भ ही से 'सहस्रशीर्षापुरुषःसहस्राक्षः' इत्यादि साहस्री व्याख्या करता है और वेदों में जिस किसी तत्त्व के लिए सहस्र, अयुत आदि संख्यायें दी गई हैं वे सब इसी का संकेत करते हैं। 'अन्ततोगत्वा ये सहस्रादि अनन्तबीजरूप' अक्षरों के सूचक हैं। श्रीकृष्ण की सोलह हजार गोपियों या स्त्रियों की वर्णना का आधार भी यही षोडशकल ब्रह्म की सहस्रावाग् रूपिणी व्याख्या है। यह पौराणिकों की व्याख्यान चातुरी का एक उदाहरण है।

इस कलावादी संवत्सरब्रह्म में ही दो पौर्णमासियाँ (पूर्वार्द्ध में) और दो अमावास्यायें (उत्तरार्द्ध में) होती हैं। प्रथम पौर्णमासी अनुमति कहलाती है द्वितीय राका। राका के पश्चात् तुरन्त अमावस्या होती है, यहीं पर षोडशकल ब्रह्म होता है इस अमावस्या का नाम सिनीवाली है, दूसरी का नाम कुहू है। इनका विवेचन स्वतन्त्र रूप में पृथक् दिया जा रहा है।

वेदों में प्रयुक्त मानुष, मनुष्य, नर, नृ आदि शब्द तात्त्विक और पारिभाषिक हैं। इनका अर्थ हम, आप जैसे मनुष्य नहीं है। यह मुख्यतः चतुर्थ सप्तक का भौतिकात्मा का प्रतीक है। जैसा बतलाया जा चुका है कि

१०—मानुषअहोरात्र-वादी संवत्सर ब्रह्म

त्रिपादामृत या पूर्वार्द्ध में भी आध्यात्मिक अमृतमय भौतिकता है जिसे शुक्ल पक्षीय रात्रि कह चुके हैं। उसी भाव को लेकर मानुषअहोरात्रवाद की प्रतिष्ठा की गई है। इसमें दर्शन

के पूरे ५० तत्त्वों का विभाजन अहः और रात्रि, केवल एक 'अहोरात्र' मात्र में किया जाता है। पूर्वार्द्ध या अहः को अर्जुन या शुक्ल या दिन कहते हैं तो उत्तरार्द्ध को कृष्ण या रात्रि।

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ० वे० ६-९-१)।

इस अहोरात्र का आरम्भ ब्राह्म मूहूर्त से होता है। पूर्वार्द्ध की समाप्ति 'उषा' काल २४ वें तत्त्व में होती है। उषा उल्व या गर्भ है, 'उल्वं वै उषा' ऐ. ब्रा० ७-२-३-११। तदन्तर २५ वें तत्त्व में सूर्योदय होता है। उसके तुरन्त पश्चात् रात्रि का प्रारम्भ हो जाता है। भौतिक सृष्टि का आरम्भ उषा काल २४ वें तत्त्व से होने लगता है। अतः लिखा है—

तस्मादापूर्यमाणपक्षेषु यजन्त एतदेवोपेप्सन्त ऊषानसावस्यां तद्धापि तुरः कावषेय उवाचोषः पोसो जनमेजयकेति। तस्माद्धाप्येतर्हि गव्यं मीमांसमानाः पृच्छन्ति सन्ति तत्रोषाः ३ः इति। ऊषोहि पोषोऽसौ वै लोक इमं लोकम् अभि पर्यावर्तत। ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां; न द्यावान्तरिक्षान्नान्तरिक्षाद्भूमिः॥"
(ऐ० ब्रा० ४-४-२७)

उषा का शेष वर्णन 'उषा' शीर्षक में देखें। इसी संवत्सर ब्रह्म की सरणि में 'सूर्य' नामक तत्त्व चक्षुः और उषा को नेत्री नाम से पुकारा जाता है*। इसी से पूषा (२४ वें) को 'स्वसु (उषाया) र्यो जार उच्यते' कहते हैं। इसी सूर्य से चन्द्रमा का उदय होता है। इसी चन्द्रमा से रात्रि का प्रारम्भ पूर्ण रूप से हो जाता है। येही सूर्य, चन्द्रमा इस संवत्सर ब्रह्म की 'चक्षुषी' (सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी) कहे जाते हैं। यही 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस भौतिक ब्रह्माण्ड के 'धाता विधाता यथापूर्वमकल्पयत्' का काम करते हैं। 'अङ्क निर्देश द्वारा तत्त्व के निर्णय' नामक शीर्षक के अन्त में बतलाया जा चुका है कि इस उषा को इस भौतिक ब्रह्माण्ड का आरम्भणीय विवर्त का सूत्रपात करने वाला बतलाया गया है वैसे पूर्ण विवर्त ४८ वें तत्त्व से होता है, यह वहीं लिख दिया गया है।

पूर्वोक्त चार प्रकार के संवत्सर ब्रह्म के अतिरिक्त यह संवत्सर ब्रह्म तीन अन्य प्रकारों से भी वर्णित मिलता है जिनमें से एक ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म है, दूसरा नक्षत्रवादी और तीसरा अभिनेय संवत्सर ब्रह्म भी है।

११—ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म

ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म की व्याख्या सात ऋतु, छह ऋतु या पाँच ऋतु में की गई है जिनके उद्धरण पहिले सप्तचक्र, षड्चक्र और पञ्चचक्र के वर्णन के अवसर पर दिये जा चुके हैं। सात ऋतुओं के पक्ष में प्रत्येक सप्तक एक ऋतु है, षट् ऋतुओं में तीन पूर्वार्द्ध, तीन उत्तरार्द्ध में हैं, पाँच ऋतुओं का विभाजन पञ्चपर्वा के १०-१० तत्त्वों

* यथोषस्यं यथाश्विनं सप्त वै देवलोका······एषामेव देवलोकाकानामभिजित्यै' तदाहुः "उदु त्यं जातवेदसं देवं बहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। (ऐ० ब्रा० ४-२-९) मंत्र (ऋ० वे० १-५०-१)।

की पांच ऋतुयें मानी गई हैं। प्रथम दो में, तीन पूर्वार्द्ध में, तीन उत्तरार्द्ध में आती हैं। सप्तचक्री की चौथी ऋतु मध्यवर्ती होती है। इस विभाजन का उल्लेख ऐब्रा० ने कई स्थलों (१-३-१६; १-५-२८; १-५-२९; २-१-२; ४-२-२६ इत्यादि) में किया है। जिसका अनुसरण (श०प०ब्रा० ने १-३-२-६ इत्यादि में) कई बार दोनों ने इस प्रकार किया है

"य एवं वेद त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह् यज्ञस्यैव
तद्बसौं नह्यति स्थेम्ने बलायाविस्रंसाय ॥"

(यजुर्वेद २१-२३, २४, २५, २६, २७, २८) ने प्रत्येक सप्तक या ऋतु में देवताओं को पृथक् पृथक् विभक्त किया है। वसन्त वसुओं की, ग्रीष्म रुद्रों की और इन्द्र शची उषा की, वर्षा आदित्यों की और वृष, भीम, इन्द्र, गौ आदि की, शरद ऋभुओं की, हेमन्त मरुतों की, शिशिर विश्वेदेवताओं की बतलाई है। वसुरुद्रादित्यवाली प्रथम तीन ऋतुओं को २४ तत्त्वों की ही बतलाया है, यह 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्धविः' और "या ओषधीः पूर्वजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा' की तीन ऋतुओं से मेल खाती है। यहाँ आदित्यों में से प्रथम छह आदित्य ही लिए जा सकेंगे, तदनन्तर उत्तरार्द्ध (हविः सोम, ओषधीः जाता) हो जावेगा। यह ध्यान रहे कि ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म में पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में ५, ६ या सात ऋतुयें पृथक्-पृथक् नहीं होतीं। ये ऋतुयें दोनों भागों को मिलाकर पूरे में होती हैं। अतः इनके मध्यवर्ती विन्दु को विषुवान् या गर्त कहते हैं। पूर्वार्द्ध में तीन उत्तरार्द्ध में तीन ऋतुयें होती हैं।

१२—गर्तं, विषुवान्—अयनवादी सवत्सर ब्रह्म

ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म का विभाजन कर्क रेखा या विषुवद्रेखा से होता है। अतः इनके कर्क रेखा या विषुवद्रेखा को दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती तत्त्व कहते हैं। इसका नाम या पारिभाषिक नाम एकविंश भी है। ३४ देवताओं में ब्रह्म के आगे के दस तत्त्वों को विंश तत्त्व कहा जाता है।* यह संवत्सर ब्रह्म का मध्यवर्ती तत्त्व निश्चित रूप से घोषित किया गया है जैसे

"एकविंशमेतदहरुपयन्ति विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्यैतेन...एष इतएक विंशस्तस्य दशावस्तादहानि......दश परस्तात् मध्य एष एक विंशः उभयतो विराजि प्रतिष्ठितः ॥" चतुस्त्रिंशत्स्तोमानां उत्तमस्तेषु (ऐ०ब्रा० ४-३-१८) और "सोऽसावेक-

---

*यह एकविंश नाम 'त्रिः सप्त' की एकविंशता है जिसमें ('त्रिः सप्त में') २४ ही तत्त्व होते हैं 'त्रिः सप्त समिधः कृताः' पुरुष सूक्त देखें जिसकी व्याख्या में द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमेलोका असावादित्यः' वाक्य का प्रत्येक शब्द जैसे द्वादशमासा माने भी २४ तत्त्व हैं, पञ्चतर्व माने भी २४ ही तत्त्व हैं, 'त्रयोलोका' माने भी २४ ही तत्त्व हैं, अतः एकविंश २४ तत्त्वों का ही संकेतक हैं।

विंशोध्याहितस्तपति विषुवान्वा एष स्तोमानां दश वा एतस्मादर्वाञ्चस्त्रिवृतो दश पराञ्चो मध्य एष एकविंशः।" (ऐ०ब्रा० ३-४-४१)।

इस बात की पुष्टि ताण्ड्य ब्राह्मण ने 'मध्यत एव यज्ञस्य प्रतितिष्ठन्ति' वाक्य को 'विषुवानेव भवति' शीर्षक में पूर्वोक्तानुसार एकविंश नाम देकर की है। श०प०ब्रा० (४-६-१, २, ३, ४, ५) ने इसका वर्णन अनेक स्थलों में बहुत विशद रीति से दिया है जिनका संकलन 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में दिया गया है। यह इक्कीसवें उपनाम का या एकविंश उप नाम का तत्त्व ही वास्तव में चतुर्विंश या चौबीसवाँ तत्त्व और महाव्रत तत्त्व कहा जाता है जैसे—

"स एष संवत्सरस्त्रिमहाव्रतः। चतुर्विंशे महाव्रतं विषुवति महाव्रतम्।"
(श०प०ब्रा० १२-१-३-२३)

इसी विषुवान् या विषुवद्रेखा का नाम 'द्वेशीर्ष्णे' द्वितीय शिर या नासिका भी कहा है, जैसे—

"यदिदमक्ष्णः शुक्लं स प्रथमः स्वरसामा यत्कृष्णं स द्वितीयो, यन्मण्डलं स तृतीयो नासिके विषुवान्यदिदमक्ष्णो मण्डलं।"
(श०प०ब्रा० १२-२-४-१५)

"इम एव दक्षिणे त्रयः प्राणाः स्वरसामानो मूर्द्धा विषुवानिम एवोत्तरे।"
(श०प०ब्रा० १२-१-४-२)

इसका समर्थन ऐ०ब्रा० (४-३-२२) 'शिर एव विषुवान्' वाक्य से करता है। श०प०ब्रा० के अन्य उद्धरण (१२-२-३-६; १२-२-३-११; १२-१-४-२; १२-३-१-४; १२-३-५-१२ इत्यादि) स्थलों में मिलेंगे। इस विषुवान् या विषुवद्रेखा से दर्शन चक्र के कुल ५० तत्त्वों को दो अयनों में विभक्त किया जाता है। पूर्वार्द्ध उत्तरायण और परार्द्ध दक्षिणायन कहलाता है। केवल अयनवाद में उत्तर शब्द का प्रयोग पूर्वार्द्ध शब्द के लिए होता है, अन्यत्र उत्तर शब्द सदा परार्द्ध या दक्षिणार्द्ध का संकेतक होता है, यह ध्यान रहे। ब्रह्मविन्दूपनिषद् इस अयनवाद और विषुवद्वाद के ज्ञान को योग की क्रिया में प्राथमिक महत्त्व देते हुए इसीलिए लिखता है—

"अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित्॥ ५५॥"

ऋ०वे० १-१६४-४३ ने दर्शन के दो भागों को अपर और पर बतलाते हुए मध्यवर्ती तत्त्व को विषुवान् कहा है, जैसे—

"शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥"

उक्त दो अयनों का मध्यवर्ती विन्दु विषुवद्रेखा या विषुवान् तो कहलाता

ही है, पर साथ में इसका एक प्रसिद्ध नाम 'गर्त' भी है। यह गर्त शब्द 'विषुवद्' शब्द का ही पर्यायवाची शब्द है। इसका प्रयोग ब्राह्मणों और उपनिषदों में कम मिलता है। वेदों में विषुवान् या विषुवद्रेखा के स्थान में प्रायः 'गर्त' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका वर्णन द्विचक्रवाद के 'अदिति-दिति' शीर्षक में किया जा चुका है, वहीं देख लिया जाय (ऋ० वे०, ५-६२-८; १-१२४-७, ६-२१-६ मन्त्र देखें)। इस अयनवादी गर्त या विषुवद्रेखा का सीधा सम्बन्ध ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म से है। इन ऋतुओं में वर्षा ऋतु के आरम्भ वा चतुर्थ सप्तक के प्रारम्भ में ही कर्करेखा पड़ती है, उसी को विषुवान् या गर्त की अयनीय रेखा कहते हैं। ऋतुओं की कर्करेखा ही विषुवत् या मध्यवर्ती रेखा है।

१३—गर्त शब्द की व्याख्या

वैदिकदर्शन का ज्योतिषदर्शन एक अद्भुत रहस्य से भरा है। वैदिक दर्शन के पूरे ५० तत्त्वों में नक्षत्रों का विभाजन एक बड़ी भारी चातुरी से किया गया है। नक्षत्र तो केवल २७ ही हैं पर तत्त्व ५० हैं। इनको बराबर-बराबर बैठाने में जिस अनोखी प्रतिभा की सूचना मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। सृष्टि का आरम्भ वृष राशि से और कृत्तिका नक्षत्र से किया गया है, जिससे पूरादर्शन वृष, वृषभ, ऋषि, ऋषभ इत्यादि प्रख्यात नाम पाता है। प्रत्येक देवता वृष, वृषा, वृषभ, ऋषि ऋषभ हैं (वृषभ शीर्षक देखें), पर पौर्णमासी या पूर्ण चन्द्रोदय (सोमोत्पत्ति) अश्विनी नक्षत्र में होती है। अतः आश्विन मास और कृत्तिका की पौर्णमासी कार्त्तिकी का महत्त्व माना गया है। नक्षत्र की परिभाषा श० प० ब्रा० (२-१-२-१९) ने एक रोचक ढंग से दे रखी है। "यानि वै तानि क्षत्राणि अभूवन् न वै तानि क्षत्राणि अभूवन्निइति तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्,।" क्योंकि ये नक्षत्र २७ के गणरूप के हैं। अतः ये जाति में विश् हैं, जैसे वसु, रुद्र और आदित्यादि। अतः वैदिक तत्त्वों में जिन्हें क्षत्र तत्त्व कहा जाता है, जैसे द्वितीय सप्तक, इन्द्र, सोम, रुद्र आदि उन तत्त्वों के वाची या ब्राह्मणादि तत्त्वों के वाची होते हुए भी वे क्षत्र जाति के तत्त्व नहीं कहलाते। अतः इन्हें 'नक्षत्र' (जो क्षत्र नहीं) कहते हैं। इनका दूसरा नाम गन्धर्व भी है, जैसे—

१४—नक्षत्रवादी संवत्सर ब्रह्म

"वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
तेऽअग्रेऽश्वमयुंञ्जंस्तेऽअस्मिञ्जवमादधुः॥"
(यजुः० ९-७)

ये नक्षत्र या गन्धर्व २७ हैं, इनका प्रथम नक्षत्र या गन्धर्व अश्व या अश्विनी है, जिसमें इन्होंने वेग या जव धारण किया। इनके स्वामी का नाम यक्ष है। "किमेतद्यक्षमिति" (केन उप० ३,४) और श० प० ब्रा० (१०-५-२-२) कहता है कि गन्धर्व का ब्रह्म विषयक नाम 'रूप' है, जैसे "रूपमिति गन्धर्वाः" अर्थात् गन्धर्ववाद माननेवाले ब्रह्म को 'रूप' नाम से पुकारते हैं। और बृह०

उप० में लिखा है "स यो हैतं महद्यत्तं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान्" (२-५-४-१)।

वास्तव में नक्षत्रवाद प्राणवाद है। नक्षत्रों का प्रमुख नक्षत्र 'अश्विनौ' द्विवचनान्त शब्द दो बातों का संकेतक है। यह दो अश्वों या प्राणों का सूचक है। ये दो प्राण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के हैं। और यह 'अश्विनौ' नक्षत्र वैदिक दर्शन का मध्यवर्ती २५ वां रूप नामक तत्त्व है।

१५—नक्षत्रवाद प्राणवाद है।

'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥'

मंत्र का काम्पीलवासिनी के साथ सोनेवाला त्र्यम्बक उत्तरार्द्ध का अश्व है, और उलाहना वाली पूर्वार्द्ध में अश्व की अमृत आत्मा है। अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके त्रिनाभियाँ हैं। इनका दर्शन के चक्र में स्थान निर्धारण करनेवाला यजुर्वेद के पुरुषसूक्त का २३ वां मंत्र है, जो इस प्रकार है—

"श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकम्म इषाण ॥"

इस मंत्र के अनुसार पूर्वार्द्ध का नाम श्री और उत्तरार्द्ध का नाम लक्ष्मी है। ये दोनों अहोरात्रीय संवत्सर ब्रह्म की पत्नियाँ हैं। इनका मध्यवर्ती तत्त्व 'अश्विनौ' नामक 'रूप' लक्षण से युक्त है। इससे अगल-बगल पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में, शेष नक्षत्रों का स्थान क्रमसे पूर्वार्द्ध में विलोम उलटे) और उत्तरार्द्ध में सलोम (सुलटे) बिठाया गया है या इस प्रकार खुला या व्याप्त है। अमुम् शब्द 'रूप' का विशेषण है। पूर्वार्द्ध में इसकी उत्पत्ति की कामना (इष्णन्) करते हुए, इस भौतिकात्मा की लब्धि चाहते हुए (अमुम्मिषाण) फिर सर्व लोकों की सृष्टि की कामना करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है। इन नक्षत्रों के उक्त प्रकार के चक्र को उचित रूप से अङ्कित करने में श० प० ब्रा० (२-१-२-१, २) की सहायता की परम आवश्यकता है। उसमें लिखा है कि—

"कृत्तिकास्वग्नी आदधीत। एता वा अग्निनक्षत्रं यत्कृत्तिकास्तद्वै सलोम योऽग्निनक्षत्रेऽग्नी आदधातै तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत। एकं द्वे त्रीणि। चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकास्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत।"

अब कृत्तिका से प्रत्येक तत्त्व को एक-एक नक्षत्र देते हुए २५ वें तत्त्व में अश्विनी स्वयं आ जाता है, वहाँ से स्वयं सलोम क्रिया से अन्त तक नक्षत्रों को बिठाना है। प्रथम में कृत्तिका, द्वितीय में कृत्तिका और रोहिणी, तृतीय में कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, इस क्रम से नक्षत्रों को बिठाने का आदेश उक्त ब्राह्मण ने दे रखा है। यहाँ एक-एक ही दिया जा रहा है, शेष समझते जायँ। प्रथम और अन्तिम का अन्तर्भाव क्रम से आगे और पीछे है।

१६—नक्षत्र चित्र

प्रथम सप्तक

कृति.	रो.	मृ.	आ.	पु.	ति.	अ.	म.	पू. फा
१	१	२	३	४	५	६	७	८

द्वितीय सप्तक

उ. फा.	ह.	चि.	स्वा.	वि.	अनु.	ज्ये.
९	१०	११	१२	१३	१४	१५

तृतीय सप्तक

मू.	पू. षा.	उ. षा.	श्र.	ध.	श.	पू. भा.	उ. भा.
१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३

चतुर्थ सप्तक

रे.	अश्विनौ. रुपम्	भ.	कृ.	रो.	मृ.	आ.	पु.
२४	२५	२६	२७	२८	१९	३०	३१

पञ्चम सप्तक

ति.	अ.	म.	पू. फा.	उ. फा.	ह.	चि.
३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८

षष्ठ सप्तक

स्वा.	वि.	अनु.	ज्ये.	मू.	पू. षा.	उ. षा.
३९	४०	४१	४२	४३	४४	४५

सप्तक सप्तक

श्र.	ध.	श.	पू. भा.	उ. भा.	रे. ॥
४६	४७	४८	४९	५०	१

'अश्विनी' तत्त्व पर एक स्वतन्त्र लेख दिया गया है, यह त्वष्टा का धेवता, या दुहिता का पुत्र है, सररायू के अश्वीरूप में उत्पन्न, विवस्वान् का पुत्र है (ऋ० वे०, १०-१७-१,२ देखें)। त्वष्टा भी रूप का निर्माता है 'त्वष्टा पिंशद्रूपाणि' 'तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति' इत्यादि, और यह अश्विनी भी स्वयं 'रूप' स्वरूप है। यह रूप उत्तरार्द्ध का प्रथम भौतिकात्मीय स्वरूप है, जिसके बारे में निम्न दो और प्रसिद्ध उल्लेखों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। ये उल्लेख द्विचक्रवाद के अन्त में 'अमूर्तं मूर्तं' (संख्या २९) और 'प्राणा नामरूपे कर्म च' (संख्या ३७) में मिलेंगे। द्वितीय उद्धरण में 'रूप' तत्त्व का उक्थ्य चक्षु नामक सूर्य २५ वां तत्त्व निश्चित रूप से घोषित करते हुए लिखा है।

१७—अश्विनी व्याख्या

"अथ रूपाणाम्। चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति एतदेषां सामैतद्धि सर्वैः रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति॥" (बृह० उप० १-६-१, २, ३) कि "रूप तत्त्व का मूल स्रोत चक्षु नामक सूर्य तत्त्व है (जो २५ वां है), इसी से अखिल ब्रह्माण्ड को सब रूप मिलते हैं। इन सब रूपों से वेष्टित त्रिपाद्ब्रह्म, सब रूपों को धारण करता है।" यह रूप तत्त्व प्रथम भौतिकात्मा सोम का दिव्य शरीर है। इसके समर्थन में ऐ० ब्रा० (४-२-९) उक्त सूर्य तत्त्व के उपस्थान के मंत्र 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्।' (ऋ० वे० १-५०-१) की स्पष्ट व्याख्या देते हुए लिखता है "यथोषस्यं यथाश्विनं सप्त वै देवलोका·········एषामेव देवलोकानामभिजित्यै तदाहुरुदुत्यं

जातवेदसमिति ।।" कि उषा और अश्विनी के रूप के सात लोक हैं, जिनकी उत्पत्ति दृशे (चक्षुः) नामक सूर्य से जातवेदा रूप केतु या पताका के रूप में होती है।

१८—नक्षत्रों का द्विधा विभाजन सिद्धान्त

नक्षत्रों का, वैदिक दर्शन में पूर्वोक्त प्रकार से, द्विधा विभाजन या दो भागों में प्रतिष्ठा के सिद्धान्त की सूचना ऋग्वेद ने स्वयं कई स्थलों में स्पष्टतया देते हुए लिखा है—

"धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ।।"
(ऋ० वे०, ७-८६-१)*

इसमें 'नक्षत्र गण को द्विता या द्विधा पप्रथत् या प्रस्थापित किया गया', यह स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार इस द्विता (द्विधा) शब्द को कई अन्य स्थानों में यही संकेत करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जैसे—

"प्र ये द्विता दिव ऋञ्जन्त्याताः सुसंमृष्टासो वृषभस्य मूराः"
(ऋ० वे०, ३-४३-६)

"अव द्विता वरुणो मायी नः सात् ।।"
(ऋ० वे०, ७-२८-४)

"इन्द्र तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।।"
(ऋ० वे०, ८-७०-२)

"द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः ।" (ऋ० वे०, ३-१७-५)

इनके अर्थ में सायणादिक ने भी द्यावापृथिवी, देवासुर और अहोरात्र आदि द्विधा विभाजनीय ही अर्थ दिया है। द्विता माने द्विधा ही है, वह उक्त प्रकार का द्विधा विभाजन ही है। यह इनके सन्दर्भों तथा 'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्' के स्पष्ट व्याख्यान से स्वयं स्पष्ट है। यहां द्विता शब्द 'पार्श्वे' शब्द का प्रतिनिधि है।

---

*"यच्च परस्तात् नक्षत्राणां यच्चावस्तात्" (कृ० य०, तै० ब्रा०)

अध्याय ७

अक्षर ब्रह्म

या

वैदिक विश्वदर्शन के तत्त्वों का अङ्कों में निर्देश

वैदिकों को अपने दर्शन के तत्त्वों को नामतः कहने में उतना अधिक आनन्द नहीं आता जितना उन्हें अंकवाद की शैली में देने में। अङ्कवाद की शैली स्वयमेव रहस्यमय हो जाती है, जिसमें लोगों को ठग जाने का अधिक अवसर मिलता है। 'चत्वारिश्रृंगा' 'सप्त ते अग्नेः समिधः' 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' 'सप्तास्यासन् परिधयः' 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' 'गुहा त्रीणि निहिता' इत्यादि मन्त्रों को अबतक सब लोग अपनी डफली अपना राग के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से घटित करते चले आ रहे हैं; पर ये सब निश्चित और निर्णीत तत्त्वों का निर्देश करते हैं। यही दशा एकवाद, द्विवाद (द्वासुपर्णा आदि), त्रिवाद, चतुर्वाद, पञ्चवाद, षड्वाद, सप्तवाद, अष्टवाद, नववाद, दशवाद, एकादशवाद, द्वादशवाद, सप्तदशवाद आदि की भी है, जिनके सम्बन्ध में ऋग्वेद में ही असंख्य ऋचायें विद्यमान हैं। जबतक लोगों की समझ में यह अङ्कवाद नहीं आयगा तबतक इन सब की पहेलियाँ वैसी ही बनी बनायी रह जायगी। अतः इनका व्याख्यान परम आवश्यक हो गया है। कुछ वादों पर पहिले तत्त्व निर्णय के अवसर पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। शेष यहाँ पर दे दिया जाता है।

१—वेदों में अङ्कवाद शैलीकी प्रचुरता

यजुर्वेद के १८ वें अध्याय में अङ्कों की संख्या दो प्रकार से दी हुई मिलती है, पहिले विषम संख्यायें दी गई हैं। वे एक से ३३ तक गिनी गई हैं। समसंख्याओं की गिनती चार से आरम्भ की गई है और ४८ तक दी गई है। इसमें क्या कारण है? वैदिकों ने ३३ की संख्या क्रम से ३३ देवताओं का आह्वान किया है तथा ४८ की संख्या से वैदिक दर्शन के ४८ तत्त्वों की प्रस्तावना। नहीं तो उन्हें तो गिनतियाँ बीस अङ्कों तक (१,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०) गिननी आती थी, सब को क्यों नहीं गिन गये?

२—यजुर्वेद के दो प्रकारके अङ्कों का रहस्य

इन बीस अंक तक की गिनतियों के नाम भी वैदिकों ने वैदिक दर्शन के तत्त्वों के नाम से दिये हैं, जैसा कि तै० संहिता के वचन से स्वयं सिद्ध है (तै० सं० ७-२-२-२०); जैसे :—एक, दश, शत, सहस्र, उदित, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्द्ध, उषस, व्युष्टि, उदेष्यत्, उद्यत, उदित, सुवर्ग, लोक (अयम् १)। इस गिनती में समुद्र से लेकर (अयम्) लोकः तक के नाम सब वैदिक दर्शन के तत्त्वों के हैं। सृष्टिवृक्ष उलटा है, अतः सृष्टिक्रम

३—तै. ब्रा. में इकाई दहाई क्रम में २० कोटियों के नाम

'अयं लोकः' से आरम्भ होता है, गिनती का मूल्य भी इसी 'लोक' से आँका जाता है (१,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०)। यहाँ का प्रथम 'एक' ही 'अयं वै लोकः' है। यही 'द्यावाभूमिं जनयन्देव एकः' का 'एकः' है, यही 'एकं सत्रेधाऽभवत्' का 'एकं' है। समुद्र तक चार पाद आ जाते हैं, वह मध्य में पड़ता है और 'सहस्र' में 'सहस्रशीर्षा पुरुष' बनता है, अन्त में एक 'परमाणु' प्रस्तुत होता है। एक से आरम्भ होकर एक में अन्त होता है, वह भी 'अतिसूक्ष्मतम' प्रमाण का। ब्राह्मणों और उपनिषदों में जहाँ कहीं भी 'अयं वै लोकः' आता है, जैसे 'अयं वै लोको गार्हपत्यो द्यौरास' (श० प० ब्रा० ९-२-३-१४, १५, १६) वहाँ-वहाँ इस 'लोक' शब्द का अर्थ यही प्रथम तत्त्व होता है, जिसकी सफाई उद्धृत उल्लेख में शतपथ ने उसे 'द्यौः' आदितत्त्व के नाम से पुकार कर स्वयं स्पष्ट कर दी है।

४—यजुर्वेद के सम-विषमअङ्कों के विषय की व्याख्या का उल्लेख

यजुर्वेद ने जिन अंक संख्याओं को विषम और सम विभाग द्वारा अट्ठारहवें अध्याय में दिया है, उनकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण ने इनका तादात्म्य देवताओं या तत्त्वों से करके उक्त वक्तव्य पर सत्यता की मुहर लगा दी है। जैसे :—विषम संख्या के तत्त्वों की व्याख्या इस प्रकार दे रखी है "एकया स्तुवीतेति वाग्वा एका वाचेव तदस्तुवत" इत्यादि लिखकर यजुर्वेद के १४ वें अध्याय के २८ से ३१ तक के मन्त्रों में दिये हुए तत्त्वों का उनसे क्रमशः तादात्म्य दिखला कर इन विषम संख्याओं की पहेली सुलझा दी है, मन्त्र इस प्रकार हैं—

"एकयास्तुवतेति·······प्रजापतिरधिपतिरासीत्·······तिसृभिरस्तुवत······· ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् (प्राण उदानो व्यानस्तिस्रः) ॥ पञ्चभिरस्तुवत। भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीद् (मनःपञ्चमाः प्राणाः॥ सप्तभिर स्तुवत, सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त, धाताधिपतिरासीद् (सप्तशीर्षन्प्राणाः) ॥ नवभिर स्तुवत पितरोऽत्रासृज्यन्त, अदितिरधिपत्नी आसीद् (नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नऽवाञ्चौ द्वौ) ॥ एकादशभिरस्तुवत, ऋतवोऽसृज्यन्तअधिपतय आसन् (दश प्राणा आत्मैकादशः) ॥ त्रयोदशभिरस्तुवत, मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीद् (दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशः) ॥ पञ्चदशभिरस्तुवत, क्षत्रमसृज्यत इन्द्रोऽधिपतिरासीद् (दश हस्त्याङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशः) ॥ सप्त दशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवः असृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीद् (दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तदस्तुवत) ॥ नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् (दश हस्त्याङ्गुलयो नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत) ॥ एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त (वरुणो ऽधिपतिरासीद्) दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः)॥ त्रयो विंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीद् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंशः) ॥ पञ्चविंशत्यास्तुवत आरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीद् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वायङ्गा-

न्यात्मा) ॥ सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैताम् वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन् त एवाधिपतय आसन् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दशपाद्याश्चत्वार्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठे) ॥ नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोत्राधिपतिरासीद् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या नव वै प्राणाः) ॥ एक त्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवश्चायवाश्चाधिपतय आसन् दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दशप्राणा आत्मैक त्रिंशः) ॥ त्रयास्त्रिंशतास्तुवत भूतान्याशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिंशः) ॥" (८-४-३-२ से १९ तक पूरा) ॥

५—वैदिक दर्शन के तत्त्वोंकी संख्या क्रम से कुछ तत्त्वों के नाम

कुछ अन्य तत्त्वों के नाम समविषम संख्या के विमिश्रण रूप में भी दिये मिलते हैं, जैसे भान्तः पञ्चदशः (वज्रः, चन्द्रः); व्योमा सप्तदशः (संवत्सरः प्रजापति); धरुण एकविंशः (आदित्यः) प्रतूर्तिरष्टादशः (आदित्यः); तपो नवदशः (संवत्सरः); अभीवर्तः सविंशः (संवत्सरः); वर्चो द्वाविंशः (संवत्सरः); सम्भरणस्त्रयोविंशः (संवत्सरः); योनिश्चतुर्विंशः (संवत्सरः); गर्भाः पञ्चविंशः (संवत्सरः); ओजस्त्रिनवः (संवत्सरो वज्रः); क्रतुरेकत्रिंशः (क्रतुसंवत्सरः); प्रतिष्ठात्रयस्त्रिंशः (संवत्सरः); ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशः (स्वाराज्य संवत्सरः) चतुस्त्रिंशोंऽश्वः प्रजापतिः (जै० ब्रा० २-१२९) नाकः षट्त्रिंशः (संवत्सरः); 'विवर्तो अष्टाचत्त्वारिंशः, इत्यादि (शु० य० वे० १४-२३; और श० प० ब्रा० ८-४-१-१० से २५ तक)। यह संवत्सर विद्या है। इसमें अन्तिम 'विवर्त' नामक ४८ वाँ तत्त्व संवत्सर विद्या से सम्बन्ध रखता है; यह इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। इसका विवरण ऋग्वेद में भी मिलता है, जैसे "आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त। चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेत।" (ऋ० वे० १०-५५-३) इसमें 'विव्रतेत' (विवर्त) शब्द उल्लेखनीय है।

"एष एव वज्रः पञ्चदशस्तस्यासावेवादित्यः षोडशी वज्रस्यभर्ता……
पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा……पाप्मानमपाहत" (८-५-१-१०)

"चतुश्चत्त्वारिंश स्तोमो वर्चो द्रविणम्" (शु०य०वे० १५-३; श०प०ब्रा० ८-५-१-११)
("चतुश्चत्त्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्)

६—तत्त्वों का संख्या-रूप में विभाजन

विषम संख्या के तत्त्वों में ३३ वाँ और समसंख्यक तत्त्वों में ४८ वां अन्तिम तत्त्व है। इस बात की भी घोषणा इस प्रकार कर रखी है "अन्तो वै त्रयस्त्रिंशोऽयुजां स्तोमानामन्तत एव तद्देवाः स्वर्गं लोकमायन्" (श० प० ब्रा० ९-३-३-३) "अन्तो वाऽअष्टाचत्वारिंशो युग्मतां स्तोमानामन्तत एव तच्छन्दांसि स्वर्गं लोकमायन्" (९-३-३-५)। ध्यान रहे यहाँ पर तथा अन्यत्र भी 'देवाः' और 'छन्दांसि' दोनों शब्द प्रायः तत्त्वों का निर्देश करते हैं। जब 'छन्दांसि स्वरा पशवः' कहते हैं तब तत्त्वरूप

पशु अर्थ अभीष्ट रहता है। जैसे "सप्त वै ग्राम्याः पशवः सप्त वै छन्दांसि, छन्दांसि वै पशवः" इत्यादि। उक्त ४८ तत्त्वों के दो मुख्य विभाजन २४,२४ किये गये हैं, जिन्हें तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध नाम से पुकारा जाता है; कोई पक्ष नाम से कहते हैं। जैसे "यान्यष्टाचत्वारिंशत्तौ चतुर्विंशौ पक्षौ, यानि पञ्चविंशतिः स पञ्चविंश आत्मा (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च), अथ यान्येकविंशतिस्तदेकविंशपुच्छम्, यानि त्रयस्त्रिंशत् स वशोऽथ या अशीतयः सैवाशीतीनामाप्तिरशीतिभिर्हिमहदुक्थमाख्यायते।" (श० प० ब्रा० ९-३-३-१९) "यानि पञ्चत्रिंशत् स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिंशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव पञ्चत्रिंशम्।" (९-३-३-१८)

संवत्सर, प्रजापति और पुरुष का नाम है। पुरुषसंवत्सर के पूर्वार्द्ध-परार्द्ध के ३६० रात्रि और ३६० दिनों का विभाजन क्रम से तत्त्वानुसार करते हुए प्रत्येक तत्त्व रूप पुरुष संवत्सर में ३६० विभागों की कल्पना वैज्ञानिक ढंग से की गई है, जिससे कार्यकारण भाव सिद्धान्त की पूर्ण पुष्टि होती है: आदि पुरुष संवत्सर में ७२० दिन-रात सूक्ष्म रूप में विद्यमान थे—"तस्य वा एतस्य संवत्सरस्य प्रजापतेः सप्त च शतानि विंशतिश्च अहोरात्राणि ज्योतींषि, ता इष्टकाः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि परिश्रितः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यः सोऽयं संवत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे॥"

७—संवत्सर के दिन रूप अंशों की क्रमिक विकासीय व्याख्या

द्वितीय तत्त्व में वह दो भागों में विभक्त हुआ। तब उसका स्वरूप २×३६०=७२० बन गया।

तृतीय	तत्त्व में	तीन ,,	३×(८०+८०+८०)=७२०	,,
चतुर्थ	,,	चार ,,	४×१८०=७२०	,,
पाँचवे	,,	पाँच ,,	५×१४४=७२०	,,
छठे	,,	छह ,,	६×१२०=७२०	,,
सातवें	,,	सात ,,	७× विभक्त नहीं हो सका	,,
आठवें	,,	आठ ,,	८×९०=७२०	,,
नवम	,,	नव ,,	९×८०=७२०	,,
दशम	,,	दश ,,	१०×७२=७२०	,,
ग्यारहवें	,,	ग्यारह ,,	११× विभक्त नहीं हो सका	,,
बारहवें	,,	बारह ,,	१२×६०=७२० बन गया	,,
तेरहवें	,,	तेरह ,,	१३×विभक्त नहीं हो सका नहीं बना	
चौदहवें	,,	चौदह ,,	१४× ,, ,,	,,
पन्द्रहवें	,,	पन्द्रह ,,	१५×४८=७२० बन गया	,,
सोलहवें	,,	सोलह ,,	१६×४५=७२०	,,
सत्रहवें	,,	सत्रह ,,	१७×नहीं विभक्त हो सका, नहीं बना	
अट्ठारहवें	,,	अट्ठारह ,,	१८×४०=७२० बन गया	,,

उन्नीसवें तत्त्व में	उन्नीस भागों में १९× —विभक्त नहीं हो सका, नहीं बना	
बीसवें ,,	बीस ,, २०×३६=७२० बन गया	
एक्कीस, बाईस, तेइस	एक्कीस, बाईस, तेइस २१×—२२×—२३×—नहीं बना	
चौबीसवें ,,	चौबीस ,, २४×३०=७२० बन गया	

जो २४ वें तत्त्व में २४ भागों में विभक्त हुआ, वे भाग २४ अर्द्धमास कहलाते हैं। अतः संवत्सर में १५;१५ दिन के २४ अर्द्धमास होते हैं, जो ३६० दिन (२४×१५) बनाते हैं। ७२० तो दिन-रात हैं, दिनरात दोनों मिलकर ३६० ही दिन (२४ घंटे के) बनाते हैं। पूर्वार्द्ध में दिन ही दिन ३६० होते हैं, उत्तरार्द्ध में ३६० रात ही रात, ये क्रम से १२,१२ घंटे के या ३०,३० घड़ी के होते हैं। इन्हीं दिनों से मासों, पक्षों, ऋतुओं का विभाजन तत्त्वों तथा तत्त्वों के स्तवक सप्तकों के द्वारा निश्चित किया जाता है। शुक्ल-कृष्ण पक्ष (मास के) सम्बन्ध में प्रत्येक तत्त्व एक तिथि है, आदि ब्रह्म अनुमति है, पूर्णिमा है और २५ वाँ तत्त्व सिनीवाली अमावास्या, २६ वाँ तत्त्व राका पूर्णिमा (श० प० ब्रा० १०-४-२-२ से १९ तक पूरा पढ़ लें)। प्रत्येक दिन में ३० मुहूर्त्त होते हैं या एक दिन में १५, एक रात में १५। अतः पूरे संवत्सर में (१५×३६०)+(१५×३६०)=१०८०० मुहूर्त्त हो जाते हैं। इनका भी उल्लेख दिया है।

"स पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्त्तांल्लोकम्पृणाः पञ्चदशैव रात्रेस्तद्यन्मुहु त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्त्ता। अथ यत्क्षुद्राः सन्त इमाँल्लोकानापूरयन्ति तस्माल्लोकम्पृणाः। एष वा इदं सर्वं पचति। अहोरात्रैरर्द्धमासैर्मासैर्ऋतुभिः संवत्सरेण तदमुना पक्वमयम्पचति, पक्वस्य पक्तेति ह स्माह भारद्वाजो अग्निममुना हि पक्वमयमपचतीति॥ तानि संवत्सरे दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि समपद्यन्त॥" (श० प० ब्रा० १०-४-२-१८,१९,२०)

अब वेदों की ऋचाओं की संख्या भी उक्त संवत्सर ब्रह्म के नाना विभागानुकूल ही सम्पादित की जाने की वैज्ञानिक विशेषता का उल्लेख देते हुए कहा गया है कि संवत्सर ब्रह्म ने वेद त्रयी की ही (२४ तत्त्वों में ही) विद्या में सब तत्त्वों या भूतों को देखा। अतः उक्त त्रयी विद्या रूप २४,२४ पूर्वार्द्ध-परार्द्ध के तत्त्वों में ही उस संवत्सर ब्रह्म ने सब देवताओं (तत्त्वों) का अमृत (पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्व) और मर्त्य (उत्तरार्द्ध के २४ तत्त्व) रूप देखा।

८—अक्षर ब्रह्म के अक्षर और वेदों के मंत्रों की संख्या

सबसे पहिले उसने ऋचाओं को उगला। १२०००×३६=४३२००० ऋचायें बृहती रूप में, १०८०० पंक्ति रूप में×४०=४३२०००, ये ३०,३० के व्यूहों में स्थित हुईं। इतनी ही ४३२००० ऋचायें यजुर्वेद में, उतनी ही ४३२००० ऋचायें साम में हुईं। प्रत्येक की गणना बृहती के बारह हजार और पंक्ति के १०९०० के द्वारा की गई है। इनमें से प्रत्येक में १०८००×८०=८६४००० (दिन-रात मिलकर) मन्त्र हुए। "मुहूर्त्तेनाशीतिः समपद्यत" (१०-४-२-२१, से, २५ तक)

ऋग्वेद की ऋचा—

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्* यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३९) के 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' का सम्बन्ध इन्हीं ३६०×३०×८०=८६४००० मन्त्रों और संवत्सर ब्रह्म के इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभागों या शब्द ब्रह्म के इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभागों से है। 'अक्षरे' का द्विवचन पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के दो प्रकार के अक्षरों के लिए आया है। उत्तरार्द्ध के आरम्भ में पूर्वार्द्ध के परिपाक से चन्द्रमा या सर या सोम का अभ्युदय इसीलिए इसी ब्राह्मण में इस प्रकार दिया हुआ है।

'९—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' की व्याख्या से अक्षर संख्या

"तद्यत्परिश्रितमुपाधत्त, तद्रात्रिमुपाधत्त तदनु पञ्चदशमुहूर्तान् मुहूर्तानतु पञ्चदशाशीतिः, अथ यद् यजुष्मतीमुपाधत्त तदहरुपाधत्त तदनु;.................. एवं एतान्त्रयीं विद्यामात्मन्नावपत आत्मन्नकुरुत सो ऽत्रैव सर्वेषां भूताना-मात्माऽभवत् छन्दोमयः स्तोममयः प्राणमयो देवतामयः स एतन्मय एव भूत्वा उद्धर्व उदक्रामत् स यः स उदक्रामदेष स चन्द्रमाः ॥" (१०-४-२-२७)।

इस चन्द्र का उदय ८६४०००×३=२५९२००० सूक्ष्म भागों या २६ वें तत्त्व में चन्द्ररूप में हुआ, जिसका वर्णन इस प्रकार दिया है। उक्त तीनों वेदों के विभागों की 'उखा' रूप योनि में संवत्सर ब्रह्म पुरुष ने रेतः का सिञ्चन किया, उसके प्रथम अर्द्धमास में प्रथम आत्मा (ब्रह्मात्मा) का जन्म हुआ। फिर क्रम से दवीयान् जीवात्मा का, तदनन्तर तैजसात्मा का (वह भी दवीयान् ही ठहरा)। अन्त में दिव्यशरीर रूप उक्त चन्द्रमा या सोम का अभ्युदय उत्तरार्द्ध में हुआ (श० प० ब्रा० ४-२-२-६,२९,३०)। यह चन्द्रमा सूर्यरूप कामब्रह्म का पुत्र है। अतः दोनों को आत्मा या दिव्यशरीरी आत्मा कहा जाता है (सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) और "चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा।" उक्त अन्य तीन आत्माओं का विवेचन भी इसी प्रकार दिया है। ब्रह्मात्मा का नाम 'अग्निरात्मा' है, "अग्नि वैं सर्वेषां देवानामात्मा"। वायु जीवात्मा का प्रतिनिधि है, "वायु वैं सर्वेषांदेवा-नामात्मा"। सूर्य के बारे में भी कहा है "सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा"। यह तैजसात्मा का प्रतिनिधि है। अन्त में पाचवीं आत्मा का भी नाम दिया है; वह है 'वरुणात्मा'। "वरुणो वै सर्वेषां देवानामात्मा"। यह वरुण संगात्मा है, सम्बद्धकारी, सम्बन्धनकारी

१०—पञ्चात्मायें

*यहाँ 'परमे व्योमन्' माने 'अर्कः'='मनोवाग्प्राणानां त्रिवृत्' है—"अर्को देवानां परमे व्योमन्। अर्कस्य देवाः परमे व्योमन्। इत्येतद्वै देवानां विशतां प्रजापति-रुत्तमोऽविशत्तस्मादाह, अर्को देवानां परमे व्योमन् इति। अथ यदाहार्कस्य देवाः परमे व्योमन् इत्ययं वाऽअग्निरर्कस्तस्यैतदुत्तमायां चितौ सर्वे देवा विष्टास्तस्मा-दाहार्कस्य देवाः परमे व्योमन्निति। (श० प० ब्रा० ८-६-२-१९)

या बन्धन धारण कराने वाला आत्मा है। इसके बिना प्रथम तीन आत्माओं का द्वितीय दो (सूर्य-चन्द्र) से सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हो सकता। (श० प० ब्रा० १४-३-२-५ से १४ तक पूरा देखें)। इन आत्माओं के आयतनों के नाम भी येही दिये हैं, उनके नाम क्रमशः ये हैं (१) अन्तरिक्षं (२) द्यौः (३) दिशः (सूर्य की) (४) नक्षत्र (चन्द्र के) (५) आपः (वरुण का)।

संवत्सर ब्रह्म के द्विधा मासों और दिनों की व्याख्या।

अब उक्त कथन की पुष्टि कुछ अन्य वैदिक मन्त्रों से कर लेनी आवश्यक है। 'चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तम्' (ऋ० वे० १-१५५-६) में (डिग्रियों द्वारा) दिनों की संख्या अंशों में दी है ४×९०=३६० दिनरात। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन ऋग्वेद संवत्सर ब्रह्म के द्विधा द्वादश मासों के दिनों और रातों की गिनती देते हुए लिखता है कि ब्रह्म (संवत्सर) का एक चक्र है उसमें १२ आरे हैं, जो मिथुन रूप में विद्यमान हैं, वे उस संवत्सर ब्रह्म रूप अग्नि के ७२० पुत्र कहलाते हैं। १२×३०×२=७२० दिन। "द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य। आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः।" (१-१६४-११)। इनकी गिनती कुछ लोग दूसरे ढंग से पञ्चपर्वा विद्या की सरणि से इस प्रकार करते हैं। समस्त संवत्सर ब्रह्म पाँच भागों में विभक्त हैं, प्रत्येक भाग में १० दश तत्त्व होते हैं। प्रत्येक द्वादश भागों और छह-छह उप भागों में विभक्त हैं। अतः १०×१२×६=७२० दिन-रात हो जाते हैं। कुछ लोग इसे सप्तचक्र या सप्त सप्तकों (सात ऋतुओं) में विभक्त करते हैं। पर दूसरी ऋचा फिर पञ्चपर्वा विद्या का विभाजन देती हुई लिखती है कि समस्त संवत्सर ब्रह्म पाँच चक्रों में विभक्त हैं जिसमें अखिल ब्रह्माण्ड का स्वरूप विद्यमान रहता है। वह अमृत नाभि युक्त है अतः विशीर्ण या नष्ट नहीं होता।

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१२,१३)

इसी प्रकार 'गौरी' की विवेचना में भी केवल ७२० अहोरात्र का ही वर्णन
नहीं मिलता अपितु ८६४००० मुहूर्तों की (पूर्ण दिन-रातों)
११–'गौरीर्मिमाय' मंत्र की संख्या दी है। वह इस प्रकार एकपदी+द्विपदी×चतुष्पदी
से अक्षर ब्रह्म के ×अष्टपदी×नवपदी×सहस्राक्षरा=१+२=३×४×८×
अक्षरों की संख्या ९×१०००=८६४००० मुहूर्त दिन रातों के मिलाकर हुए।

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४१)

येही अक्षर 'ऋचो अक्षरे' के हैं, मुहूर्त्तों का नाम अक्षर है। इसी बात को पुनः दूसरे ढंग से कहा है कि १२ प्रधियाँ हैं, एक चक्र है, उसकी तीन नाभियाँ हैं, प्रधियों में ३६० शङ्कुओं को लगाया गया है। प्रत्येक शंकु में ६० चला और ६० अचला है। यहाँ चला=कला है, अचला=विकला। १२ × ३० × ६० × ६०=१२९६००० विकलाओं का अर्द्ध संवत्सर ब्रह्म हुआ। यह वर्णन अंशों में या डिग्रियों में है। इसी के पूर्ण मुहूर्त ८६४००० होंगे। दोनों दिनरातों की विकलायें २५९२००० होंगी।

१२—तदनुरूप अन्य ऋचाओं द्वारा अक्षर संख्या

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४८)

अथर्ववेद (१०-४-८) में उक्त-उक्त मन्त्र का पाठान्तर है 'त्रिशता' के स्थान में 'त्रीणि सहस्राणि' है तथा अन्तिम पद 'खीला अविचाचला ये' है। अन्यत्र इस वेद ने उक्त मुहूर्तों या अंशों को वर्ष नाम से (हायन) पुकारा है और लिखा है कि तेरे ४३२००० वर्ष युगल रूप में करते हैं जिसमें इन्द्राग्नी आदि विश्वेदेव आनन्द से रहते हैं।

"शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥" (८-२-२१)

इससे यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद भी तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों की ८६४००० वर्ष संख्या मानता है। एक दूसरी ऋचा में ७२००० संख्या दी हुई है। १×१०×२×२०×३×३०×२=७२००० यह एक ऋतु की मुहूर्त है। इसीलिए 'एकया' लिखा है। छह ऋतुओं में वही ४३२००० संख्या हो जायगी और दोनों अर्द्धों में ८६४००० हो जायगी। वैसे ७२०००×६=४३२०००×२=८६४०००।

"एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च॥"
(अथर्व ७-१-४)

अथर्ववेद ९-४-९ में ठीक ऋ० वे७ १-१६४ के मन्त्रों को उद्धृतकर रखा है, देख लें (अथर्व १०-३-८ भी देखें)।

सप्तवाद का सम्बन्ध सीधे संवत्सरवाद से नहीं है। उसका सम्बन्ध अष्टचक्रवाद से है। हां, त्रिवाद का सम्बन्ध संवत्सरवाद से है। त्रिवाद भी दो-तीन प्रकार का है (१) त्रिपादामृतवाद (जो पुरुष और अश्विनी सूक्तों में प्रायः मिलता है (१-३४ ऋ० वे० आदि) (२) त्रिरथवाद (३) तीन ऋतुवाद (पु० सू०) इनके उल्लेख सप्तवाद में दे दिये गये हैं, यहाँ दुहराये नहीं जाते।

१३—सप्तवादादि और छन्दों द्वारा अक्षर निर्णय

दिनरात्रि को पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध, अर्वाच पराच, परेण अवरेण, अपरावत परावत, उत्तरावत दक्षिणावत आदि नामों से पुकारा गया है (१-१६४-११,१७,१८,१९, ४७ १-९०-६, १-३१-२, इत्यादि देखें)। छन्दों के अनुसार तत्त्व संख्या देनेवाले मन्त्र ये हैं।

"यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥"
(ऋ० १-१६४-२३,२४,२५ अथर्व ९-४-९)

"सिकताभ्यः शर्करा" के सिकताओं का सम्बन्ध भी संवत्सर ब्रह्म से देते हुए सिकताओं को दो प्रकार का कहा है (१) शुक्ल और कृष्ण। ये भी तत्त्वों के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध ही हैं। इनमें ७२०×१००×६=४३२००० अक्षरों की योजना की गई है। "कैतासामसंख्यातानां संख्येति। द्वेऽइति ब्रूयात्। द्वे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा चाथो सप्तविंशतिशतानीति (७२०×१००) ब्रूयात्। एतावन्ति हि संवत्सरस्य अहोरात्राणि (७२०) अथो द्वे द्वापञ्चाशे शते (५२००×२=१०४००) इत्येतावन्ति ह्येतस्य षड्चस्याक्षराणि (७२०००× ६=४३२००; १०४०० अंश या कलायें या अक्षराणि) अथो पञ्चविंशतिरिति पञ्चविंशं हि रेतः॥" "ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः" (उत्तरार्द्ध की संख्या) (श. प. ब्रा. ७-३-१-४३,४४)

उक्त तत्त्वों का नाम देव, देवता, छन्द, व्रत और पर्ण है, एक-एक तत्त्व के ये नाम हैं, जब झुण्ड में देवताओं या तत्त्वों को लिया जाता है तब उसे 'गण' 'व्रात'* या छन्दांसि कहते हैं। ऐसे तत्त्व गणपति, वसु, रुद्र, आदित्य, अयन, ऋतु, गायत्री, वृषभ, रुद्र, विष्णु, पूषा, अदिति, इन्द्र, सोम इत्यादि हैं। जब इनको केवल एक समूह में कहते हैं, तब इनका नाम योग, सांख्य, ब्रह्म संवत्सर, व्रात्य, अहोरात्र, वर्ष, ब्रह्मणस्पति आदि पड़ता है। ये सब रहस्यमय नाम हैं। सुपर्ण नाम मध्यवर्ती दो तत्त्वों सूर्य चन्द्र का है। इनकी व्याख्या 'सोम' शीर्षक में देखें।

१४—व्रत, व्रात, व्रात्य वर्णन

'व्रत' तत्त्व का नाम है। इसके प्रमाण ये हैं "को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्देवाँ अच्छा पथ्या का समेति। ददृश्र ऐषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥" (ऋ० वे० ३-५४-५,) "व्रता ते अग्ने महतो" (ऋ० वे० ३-६-५) 'व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा' (ऋ० वे० ५-७२-२) 'व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः (ऋ० वे० ३-२६-६) 'व्रतं कृणुत (यजु ४-११) व्रतं च मे ऋतवश्च मे' (यजु १८-२३) 'व्रता ददन्ते अग्नेः' (यजु २७-२६) 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति' (यजु १९-३०) 'व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो' (अथर्व ७-७४-४)

*को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्देवाँ अच्छा पथ्या का समेति। ददृश्र ऐषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥" ऋ० वे० ३-५४-५,

'सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु' (अथर्व ७-६८-१) 'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे (यजुः ६-४; १३-३३) द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः, 'तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनुडुहो व्रतम् (अथर्व ४-११-११) 'भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि, (४-११-२) "इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।" (ऋ० वे० ३-३२-८) "नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यो नमो नमः" (रुद्री ५) "तिस्रोभूमीर्धारयन् त्रींरुतद्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्" (ऋ० वे० २-२७-८) "व्रतान्यन्यो रक्षते सदा।" (ऋ० वे० ७-८६-९) त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं" (ऋ० वे० २-१-४)

अब फिर अपने तत्त्व निर्णायक विषय को सभालें। तैंतीस देवता रूप तत्त्वों में से प्रत्येक के सैकड़ों नाम उपलब्ध होते हैं, पर ३३ से आगे के तत्त्वों में कुछेक के निश्चित नाम मिलते हैं, शेषों को अंक संख्या से ही निर्दिष्ट किया गया है। यद्यपि ३३ तत्त्वों में भी ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य=३१+एक इन्द्र+एक वषट्कार या प्रजापति जोड़ा गया है, पर ३४ वें को भी प्रजापति नाम से ही पुकारा गया है जैसे "त उभये चतुस्त्रिंशद्ग्रहाः सम्पद्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः, प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥" (श० प० ब्रा० ५-१-२-१३) प्रजापति कई हैं, प्रायः मुख्य तत्त्वों को प्रजापति नाम से पुकारा गया है। २१ वें को भी प्रजापति कहा गया है "एकविंशोऽयं वै पुरुषो दश हस्त्याङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः (ऐ० ब्रा० १-४-१९; श० प० ब्रा० ६-२-१-४) यह २१ तो ३१ वाँ बैठता है क्योंकि इसमें आदि के १० प्राण नहीं जोड़े गये हैं, इसीलिए अन्यत्र 'दश प्राणा आत्मैकविंशः:" लिखा है (श० प० ब्रा० ३-१-४-२३ ; ३-६-५-१)। यही सहस्रशीर्षा पुरुष है। सत्रहवाँ तत्त्वरूप पुरुष भी प्रजापति है, "सप्तदशं पुरुषः प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० ६-२-१-९) यह वाक्य कई बार पुनरुक्त हुआ है जैसे (५-१-२-१२) "सप्तदशो वै प्रजापतिर्यज्ञः"। चौबीसवाँ तत्त्व भी प्रजापति है "चतुर्विंशो वै पुरुषो-दश हस्त्या अङ्गुलयो दशपाद्याश्चत्वार्यङ्गानि पुरुषः प्रजापतिः" (६-१-४-२३ श० प० ब्रा०)। पैंतीसवें तत्त्व को संवत्सर नाम से पुकारा गया है "यानि पञ्चत्रिंशत् स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिंशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव पञ्चत्रिंशम् एतावान्वै संवत्सरः।" (९-१-१-४३ श० प० ब्रा०) यही बात पुनः श. प. ब्रा. ९-३-३-१८ में दुहरायी गई है। इस प्रपाठक में ४० वें तत्त्व की व्याख्या में कहा गया है कि इसके २४,२४ तत्त्वों के दो पक्ष होते हैं, २१ वाँ इसका पुच्छ है और २५ वाँ आत्मा, ३३ वाँ 'वशः' नाम का तत्त्व है, इनमें से प्रत्येक के ८० भाग उनकी आप्तियाँ कहलाती हैं। "यानि अष्टा चत्वारिंशत् तौ चतुर्विंशौ पक्षौ, यानि पञ्चविंशतिः स आत्मा यानि एकविंशतिस्तदेकविंशंपुच्छं। यानि त्रयस्त्रिंशत् स वशोऽथ या अशीतयः सैवाशीतीनामाप्तिः। अशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायते ॥" (श० प० ब्रा० ९-३-३-१९)। ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम में १५ वें और १७ वें को पवमान पक्ष कहा है और १५ वें को होता का राज्य, सप्तदश को पृष्ठ, २१ वें को पुच्छ। २५ वें को पुनः आत्मा कहा है, सात को परिमाद पशु। सात छन्दों जिनमें

विराट् अष्टम ली जाती है, के कुल अक्षर ८३ होते हैं उनमें ४५ वाँ और २५ वाँ आत्मा नाम से पुकारा गया है। (श० प० ब्रा० १०-१-३-९ से १९ तक)। ३६ वें तत्त्व को भी त्रयोदशमास और आत्मा नाम से पुकारा गया है और संवत्सर के अहोरात्रों की संख्यायें २७ नक्षत्रों के आधार पर निश्चित की गई हैं, सत्ताईस का नाम 'सप्त विंशति' है, उसी से 'सप्त च शतानि विंशतिश्च' को व्याख्यात किया गया है। इन्हें यजुष्मत्यः इष्टकाः कहा गया है। षट्त्रिंशत् दो प्रकार का माना गया है, क्योंकि 'शिर' द्वयक्षर हैं या तत्त्वों के दो सिर हैं। जिस प्रकार दो सिर हैं उसी प्रकार नक्षत्र और उपनक्षत्र दो प्रकार के हैं। पूर्वार्द्ध के नक्षत्र, उत्तरार्द्ध के उपनक्षत्र कहलाते हैं; दोनों में ७२० रात-दिन होते हैं। यहाँ पर एकविंश (२१ वें) को स्वर्गलोक बृहत्य नाम से पुकारा गया है (श० प० ब्रा० १०-५-४-६ से १२ तक)

१५—भूर्भुवःस्वः, श्रीकी उत्पत्ति

संवत्सर ब्रह्म के जन्म को कुमार जन्म नाम से पुकारते हुए श० प० ब्रा० ११-१-६ प्रपाठक ने एक बड़ी रोचक तथा रहस्यमय कथा दी है जिससे 'भूर्भुवः स्वः' लोकों के क्रम तथा अहोरात्र और देवासुर जन्म कथा पर भी गम्भीर प्रकाश पड़ता है। लिखा है कि संवत्सर ब्रह्म हिरण्मय अण्डे के समान तैरता सा था। वह संवत्सर पूरे होने पर पहिली वाणी 'भूः' बोल पड़ा, उससे पृथिवी उत्पन्न हुई, दूसरी वाणी 'भुवः' बोला उससे अन्तरिक्ष हुआ और तीसरी 'स्वः' उससे 'द्यौ' बनी। प्रथम एकाक्षर, द्वितीय द्वयक्षर और तृतीय त्र्यक्षर बोला। ऐसी वाणियों को बोलते हुए कुमार नामक संवत्सर का जन्म हुआ। जब वह पाँच अक्षर बोला तब पाँच ऋतुयें उत्पन्न हो गईं। इनका सीधा आशय यह है कि सृष्टि वृक्ष की आदि भूमि या सदः या लोक 'भू' है जिसे सृष्टि वृक्ष की भू या पृथिवी कहते हैं, यह हमारी पृथिवी नहीं है, भूः अन्तरिक्ष का प्रथम सप्तक का नाम है, स्वः तृतीय सप्तक का, भुवः पृथिवी या द्वितीय सप्तक का, जिनकी मौलिक सत्ता आदि 'भूः' में ही उत्पन्न या बीज रूपेण या अंकुर रूपेण उत्पन्न बताई गई है, प्रथम सप्तक एकाक्षर है, द्वितीय द्वयक्षर (दीर्घ) तृतीय त्र्यक्षर (ऊष्माणप्लुत)। इनके अंकुर भी वहीं आदि भूः में माने गये हैं, जो बाद में क्रम से पनपे। इस संवत्सर कुमार के ऊर्ध्व प्राणों से या मुख से देवताओं की सृष्टि हुई। अर्वाङ् प्राण या अपान से असुरों भौतिक तत्त्वों की, जिनसे अन्धकार छा गया, पर प्रथमों के प्रकाश से उनकी अधिक नहीं चल पाई। देवता पूर्वार्द्ध के शुक्लपक्ष के वासी हैं, असुर उत्तरार्द्ध के कृष्णपक्ष के, जिन्हें क्रम से अहः+रात्रि=अहोरात्र कहते हैं। यहाँ पर पृथिवी का नाम 'श्री' दिया है जिसे शिर नाम से पुकारा गया है 'श्री वै शिरः' अतः यहाँ भूः से पृथिवी का होना इसी शिर वाची श्री का संकेत करता है। यहाँ पर पञ्चदेवताओं और एकादश देवताओं के नाम भी दिये हैं। उत्तरार्द्ध लक्ष्मी है।

संवत्सर ब्रह्म के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के २४,२४ तत्त्वों के बीच में २५ वें तत्त्व को विषुवत् नाम से पुकारा जाता है। यहाँ से तत्त्वों के दो अयन उत्तरायण, दक्षिणायन माने जाते हैं। प्रथम और २५ वें को जोड़कर सब तत्त्व १+२४+१+२४=५० हो जाते हैं।

१६—विषुवत् वर्णन

"स एष संवत्सरस्त्रिमहाव्रतः। चतुर्विंशे महाव्रतं विषुवति महाव्रतम्" (१२-१-३-२३) "इमऽएव दक्षिणे त्रयः प्राणाः स्वरसामानो मूर्द्धा विषुवानिमऽएवोत्तरे।" (१२-१-४-२) "संवत्सरस्य विषुवान् अंगानि" (१२-२-३-६) "यदिदमक्ष्णः शुक्लं स प्रथमः स्वरसामा यत्कृष्णं स द्वितीयो यन्मण्डलं स तृतीयो नासिके विषुवान् यदिदमक्ष्णो मण्डलं।" (श० प० ब्रा० १२-२-४-१५) विषुवते विषुवान् १२-२-३-११। संवत्सर के इन्हीं दो भागों को 'द्वे वेदी' कहते हैं, दो लोक कहते हैं, वे हैं देवलोक और पितृलोक, पूर्वार्द्ध देवलोक है, उत्तरार्द्ध पितृलोक। "द्वे वेदी भवतः। द्वौ वाव लोकावित्याहुर्देवलोकश्चैव पितृलोकश्चेत्युत्तरान्या भवति दक्षिणान्योत्तरो वै देवलोको, दक्षिणः पितृलोकः।" (श० प० ब्रा० १२-७-३-७)

ऋतु विद्या में उक्त विषुवद्रेखा कर्करेखा का काम करती है, यहीं से वर्षा ऋतु वृष्टि (पर्जन्य) का आरम्भ होता है। इस प्रकार अयन विद्या दो प्रकार की है। पक्षवादी और ऋतुवादी (अयन ऋतुवाद देखें)। 'चतुर्विंशमेतदहरुपयन्त्यारम्भणीयम्' (ऐ० ब्रा० ४-२-१२) 'अग्निष्टोमः स्यादष्टाचत्वारिंशास्त्रयः' (ऐ० ब्रा० ४-२-१२) 'चतुस्त्रिंशो वै स्तोमानामुत्तमः' (ऐ० ब्रा० ४-३-१८) विषुवान्, (४-३-२२, ४-३-१८) "यथा दक्षिणोऽर्द्ध एवं पूर्वोऽर्द्धो"…'शिर एव विषुवान्' (४-३-२२) "वृत्रं हत्वा विश्वकर्माभवत्प्रजापतिः। प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माभवत्संवत्सरः" (४-३-२२)' षट्त्रिंशदहो वा एष यद्द्वादशाहः' (४-४-२४) "असौ वा अस्यादित्यो यूपः पृथिवी वेदिरोषधयो बर्हिर्वनस्पतय इध्मा आपः प्रोक्षण्यो, दिशः परिधयः" (५-५-२८) "चतुर्विंशे ह वै संवत्सरे…गायत्री लोकमाप्नोति" (५-५-२९), 'एते ह वै संवत्सरस्य चक्रे यदहोरात्रे' (५-५-३०), ब्रध्नस्य विष्टपं स्वर्गं लोकं (५-५-३०) "अग्निना—वैश्वानरेण पर्यादधुस्तन्मरुतो धून्वँस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत्—तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत। तदसावादित्योऽभवत् यद् द्वितीयमासीत्तद् भृगुरभवत् तं वरुणोन्यगृह्णीत। तस्मात्स भृगुर्वारुणिरथ यत् तृतीयमदीदेदिवत आदित्या अभवन्येंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त। तद्बृहस्पतिरभवत् यानि परिक्षाणां न्यासंस्ते कृष्णाः (३-३-३४) शं नः करतीत्येव शंसेच्छमिति प्रतिपद्यते……सो गायत्री ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मणैवैनं तं नमस्यति" (ऐ० ब्रा० ३-३-३४)

अक्षर ब्रह्म की आसन्दी

"भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तानि…. ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्॥" (ऐ० ब्रा० ५-५-३२)। "त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा सम-

भरत्तदेतदोमिति···वै स्वर्गो लोकः" (ऐ० ब्रा० ५-५-३२)। 'पूर्वे प्रेतास्ते वै कवयः' (ऐ० ब्रा० ६-४-२०) "ब्रह्म वै यज्ञो;···क्षत्रं हि राष्ट्रं' (ऐ० ब्रा० ७-४-२२); 'इन्द्रो वै देवतया क्षत्रियो··सोमो राज्येन राजन्यो।' (ऐ० ब्रा० ७-४-२३) 'ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश; ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति। तद्बारद्वाजं भवति······बृहादार्षेयेण सलोमैष ह वाव क्षत्रिययज्ञः समृद्धो यो बृहत्पृष्ठः।" (ऐ० ब्रा० ८-१-३)

अथर्व १५-१-३,

देवतानां राज्ञां चासन्दी—ऐ० ब्रा० ८-४-१७, श० प० ब्रा० ८-६-४-९,

दिशः —	प्राची;	दक्षिणा;	प्रतीची;	उदीची	ऊर्ध्वा	ध्रुवा
देवताः—	वसवः;	रुद्राः	आदित्याः	विश्वेदेवाः	परमेष्ठी	मरुताश्चा-
राज्यम्—	अग्निः, राजा;	इन्द्रः विराट्;	वरुणः सम्राट्	सोमः स्वराट्	प्रजापतिः	ङ्गिरसश्च
राजानः—	प्राच्यानां राजानः साम्राज्यं, सम्राट्	सात्वतां राजानः भौज्यं भोजाः	नीच्यानां राजानः स्वाराज्यं स्वराट्	हिमवन्तो जन- पदाः उत्तरा कुरवः	परमेष्ठी प्राजापत्यः	 शवसोशी- नराणां कुरु-पा- ञ्चालः
		(इन्द्रः)		उत्तर यज्ञः	महाराजाधि	जान- राज्यानां
				वैराज्यं विराट्	पतिः	राजा बृहस्पतिः महाराज्यं

कौन देवता किसका पति है इसका विवरण इस प्रकार दिया है (श० प० ब्रा० ११-४-३-८ से १७ तक) (१) अग्निः अन्नादः अन्नपतिः। (२) सोमो राजा राजपतिः। (३) वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः। (४) मित्रः क्षत्रं क्षत्र-पतिः। (५) इन्द्रो बलं बलपतिः। (६) बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः। (७) सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः। (८) पूषा भगं भगपतिः। (९) सरस्वती पुष्टिः पुष्टिपतिः। (१०) त्वष्टा रूपकृत् रूपपतिः। (११) सोमः परमेष्ठी प्रजापतिः।

यह अक्षर ब्रह्म वैदिक आर्यों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है। जितने भी देवी, देवता हैं, जिनकी वर्णाना जिस किसी भी रूप में वेदों या ब्राह्मणों या उपनिषदों में तत्त्वों या देवताओं के रूप में आई है, वे सब के सब इसी अक्षर ब्रह्म के अक्षर हैं, वे सब अक्षर इसी अक्षर ब्रह्म में 'सूत्रे मणि-गणा इव' ओत प्रोत हैं। यह निर्णय वाचक्नवी गार्गी विदुषी के प्रश्न के उत्तर के रूप में याज्ञवल्क्य जी द्वारा स्पष्टतया उल्लिखित है (बृह० उप० ३-९)। इसीलिए ऋग्वेद ने लिखा है कि जो इस अक्षर ब्रह्म के अक्षरों को नहीं जानता वह ऋचाओं की रट लगाकर क्या करेगा? (ऋ० वे० १-१६४-३९)।

अहोरात्र और संवत्सर के वर्णन में निम्नलिखित उद्धरण देते हैं।

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवींचाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥"

१७—अहोरात्र सिद्धान्त में सूर्यचन्द्र

तै० ब्रा० २-८-९, ऋ० वे० १०-१९०

इसी तै० ब्राह्मण ने संवत्सर की प्रतिष्ठा में लिखा है "आदित्योऽसि दिवि श्रितः। चन्द्रमसः प्रतिष्ठा। चन्द्रमा आदित्ये श्रितः। नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि। संवत्सरस्य प्रतिष्ठा। संवत्सरोऽसि नक्षत्रेषु श्रितः॥" तै० ब्रा० के इस अंश को न समझ सकने के कारण सूचना विभाग उत्तर प्रदेश लखनऊ से प्रकाशित भारतीय ज्योतिष पृ० २५,२६ में लिखता है कि आर्यों को चन्द्रमा सूर्य से ऊपर दिखलाई पड़ता था। अतः यहाँ चन्द्रमा को सूर्य पर आश्रित लिखा है। यहाँ पर चन्द्रमा तत्त्व है आकाश का चमचमाता ग्रह पृथिवी की परिक्रमा करने वाला चन्द्रमा कदापि नहीं है। अपनी बात ठीक बैठाने के लिए उन्होंने ऋ० वे० (१-१०५-११) का मन्त्र "सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः। ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥" को उद्धृत करके यास्क के अर्थ का अनुसरण करते हुए लिखा है कि यहाँ 'अपः' शब्द के माने यास्क ने अन्तरिक्ष दिया है। ये दोनों, अन्तरिक्ष माने 'पृथिवी और सूर्य के बीच का मध्य स्थान' समझते हैं यह गलत है। हाँ इससे इनके अभिप्राय की पुष्टि हो जाती है कि सूर्य चन्द्रमा से नीचे है। पर बात तो दूसरी है। यहाँ 'आपः' माने 'आपः' जल ही है यह चतुर्थ सप्तक का वर्णन है। वृत्र का क्षेत्र है जिससे "अप तद्ववार" (ऋ० वे० १-३२-११) 'जल की धारायें फूट निकलीं' कहा गया है। यह समुद्र सप्तक है। वहीं पर वृत्र का सौम्य भाग चन्द्र है, वही सुपर्ण है। दूसरा सुपर्ण सूर्य तत्त्व है, ये दोनों, ५० तत्त्वों के मध्यवर्ती हैं, २५ वें २६ वें तत्त्व हैं, अतः इन्हें 'मध्ये आरोधने दिवः' कहा है। ऋचा तो कह रही है कि चन्द्र दिव के मध्य में (५० तत्त्वों के मध्य में) स्थित है पर ये 'आपः' का गलत अर्थ लगाकर उसे लौकिक अन्तरिक्ष में घसीट ले जा रहे हैं। वैदिक अन्तरिक्ष तो प्रथम सप्तक है, वसुओं की 'सदः' है।

अन्त में श० प० ब्रा० संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्रों के अनन्त अक्षरों की संख्या देते हुए लिखता है कि संवत्सर पुरुष है, उसके ७२० दिनरात होते हैं।

१८—अहोरात्र के अनन्ताक्षर

उसमें १०८०० संवत्सर के मुहूर्त्त होते हैं। (३६०×३०=७२०×१५=१०८००), उनके १५ गुणित १०८००×१५=१६२००० क्षिप्र हुए। इनके १५ गुने १६२०००×१५=२४३०००० एतर्हीणी (एतर्हि) होते हैं। इनके १५ गुने २४३००००×१५=३६४५०००० इदानीनि (इदानि) हुए। इनके १५ गुने ३६४५-

००००×१५=५४६७५०००० प्राण होते हैं। अब जितने प्राण हैं उतने ही 'अना', जितने 'अना' उतने ही निमेष, जितने निमेष उतने ही 'लोमगर्त्ताः'; जितने लोमगर्त्त उतने ही स्वेदायन, जितने स्वेदायन उतने ही स्तोक बरसते हैं; जो कुल मिलाकर ५४६७५००००×६=स्तोकाः=३२८०५०००० हुए*। इन्हें संवत्सर या वर्ष के स्तोक नाम से पुकारा जाता है। अतः श्लोक दिये हैं।

प्रश्न—"श्रमादन्यत्र परिवर्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि ।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कति कृत्वः प्राणिति चाप चानितीति ॥?

उत्तर—"शतं शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं तद्वदन्ति । (१०८००)
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चाप चानितीति ॥
(श० प० ब्रा० १२-३-२-४ से ८ तक पूरा देखें)

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' के अक्षरे (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के) ये ही हैं 'ऋचां च यजुषां च एकशेषः ऋक् तस्य पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूपे अक्षरे द्वे ऋग्यजुषेक्षरे'।

१९—वेही 'ऋचो अक्षरे' के भी अक्षर हैं

इसीलिए तो इस ऋचा में कहा है। जो इस अर्थ को नहीं जानता वह वेद पढ़ कर क्या करेगा ? यही भाव अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड १५-३ पूरे में पूरा दिया है, संख्या भी दे रखी है। उपनिषदों ने ऋचो अक्षरे के अर्थ में केवल इतना ही लिखा है 'ऋचो द्वे अक्षरे'। ये 'द्वे अक्षरे' ५० तत्त्वों के दो अर्द्धों पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध रखते हैं। ये 'द्वे अक्षरे' पूर्वार्द्ध के २४ स्वर और ऊष्माण हैं, २५ वाँ ॐ है, उत्तरार्द्ध के २५ पञ्चवर्गीय व्यञ्जन हैं। ये तत्त्वों के प्रतीकाक्षर या अक्षर हैं। पर इनकी कुल संख्या ४३२०००० पूरे या ८६४००० अर्द्ध है। इस समूह का नाम व्रात्य है, प्रत्येक अक्षर का नाम 'व्रत'। इसीलिए अथर्ववेद 'ऋचो अक्षरे' की आसन्दी में इस व्रात्य को बैठने की आज्ञा देता है। ये ४३२०००० अखिल देवताओं की संख्या है, इसीलिए 'ऋचो अक्षरे, में सब देवों या तत्त्वों या व्रतों का निवास कहा गया है, और उसे व्रात्य। यहाँ 'ऋचो अक्षरे' के 'ऋचो' शब्द में 'ऋचां यजुषां च एकशेषः ऋक् तयोर्ऋचोः' (४३२००००००) अक्षर हैं (पूरे)। दोनों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के आधे इतने ही हुए।

---

*दश च वै सहस्राणि अष्टौ च शतानि। संवत्सरस्य मुहूर्त्ता यावन्तो मूहूर्त्तास्तावन्ति पञ्चदश कृत्वः क्षिप्राणि, यावन्ति क्षिप्राणि तावन्ति पञ्चदश कृत्व एतर्हीणि···तावन्ति पञ्चदश कृत्व इदानीनि, यावन्ति इदानीनि तावन्तः पञ्चदश कृत्वः प्राणा यावन्तः प्राणास्तावन्तोऽना, यावन्तोऽना स्तावन्तो निमेषा यावन्तो निमेषास्तावन्तो लोमगर्त्ता यावन्तो लोमगर्त्तास्तावन्ति स्वेदायनानि यावन्ति स्वेदायनानि तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति। एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह वार्कलिः। सार्वभौमं मेघं वर्षन्तं वेदाहमस्य वर्षस्य स्तोकानिति। तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः—श्रमा······(श. प. ब्रा. १२-३-२-५ से ८ तक)

"स एतैः सुप्तः। न कस्य चन वेद न मनसा सङ्कल्पयति न वाचान्नस्य रसं विजानाति······सर्वमग्निमनुविभवत्यथ यदेक एव तस्मादेका। तदाहुः। एको मृत्युर्बहवा ३ इति। एकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयात्। यदहासावमुत्र तेनैकोऽथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः" (श० प० ब्रा० १०-५-२-१५-१६)

और छान्द. उप. ने मधु के उदाहरण में श्वेतकेतु से सत् की व्याख्या में कहा है "यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहार-
मेकतां रसं गमयन्ति ॥ १ ॥ ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽ-
२०—युगाक्षर मुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः
सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥२॥ त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्-भवन्ति तदा भवन्ति ॥ ३ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (६-९)। हमारे शास्त्रों में, चार युग माने जाते हैं उनके वर्षों का कुल योग ४३२००० वर्ष है। यह संख्या वैदिक है; जिसकी चर्चा की जा चुकी है। चार युग जगती ब्रह्म के चार पाद ४८ तत्त्व के हैं। कुल अर्द्ध वर्ष तो ८६४००० होते हैं। अतः जगती के चार पदों से पूरे षडष्टक या सप्तकों का प्रतिनिधित्व होता है। वे सब अहोरात्र के एक रूप में हैं। चारों पाद के विकास के वर्षों का अनुपात १,२,३,४ स्थानों के विपरीत क्रम से या ४,३,२,१, है। यही अनुपात उन चार युगों के वर्षों का है। यदि ४३२००० वर्षों को इस अनुपात में विभक्त किया जाय तो प्रथम सप्तक या युग में $\frac{४३२०००\times४}{१०}$=१७६४०० वर्ष, द्वितीय सप्तक या युग में $\frac{४३२०००\times३}{१०}$=१२९६००० वर्ष, तृतीय युग या सप्तक में $\frac{४३२०००\times२}{१०}$=८६४००० वर्ष, और चतुर्थ युग में या सप्तक में $\frac{४३२०००\times१}{१०}$= ४३२००० वर्ष होते हैं। इनके कुल योग ४३,२००,०० को हजार से गुणा किया जाय तो ४,३२,००,००,००० वर्षों में पूर्ण अहोरात्र या एक कल्प माना जाता है। प्रत्येक युग १२,१२ तत्त्वों का है। यह गीता और मनुस्मृति के अल्पपाठान्तर के श्लोक से पुष्ट है। 'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।' (गीता ८-१७, मनु २)। इस श्लोक में वर्षों की संख्या ८६४००००,००० है, दिन ४,२२,००,००,००० रात ४,३२,००,००,००० वर्ष। ये दिन-रात बारह-बारह घंटे के पूरे ४३२००००,००० वर्ष ही होंगे। ये तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध हैं। युगों के नाम उनके अनुपातीय अंकों के आधार पर रखे गये हैं। जो दोनों काम करते हैं, अनुपातीय अंक का उद्बोधन और नाम का संकेत भी। सत्य युग ४ अनुपात का युग है, वाग्धेनु के चार स्तन या पाद हैं। त्रेता युग ३ अनुपात का युग है, द्वापर दो अनुपात का, कलि, एक कला का युग है। द्वापर में या चतुर्थ नृषद् सप्तक में रोहिणी नामक नक्षत्र में अष्टमी,

आदित्य में सोम, विष्णु, वा कृष्ण यज्ञ का जन्म होता है जो २६ वाँ तत्त्व है, कलियुग ३६ वें से ४८ वें तत्त्व तक रहेगा। यह अष्टम आदित्यरूप विष्णु कृष्ण यज्ञ तत्त्व अदिति (देवकी) के आठ पुत्रों में अन्तिम अष्टम पुत्र है, इसका नाम मार्तण्ड, पुरुषपशु, हस्ति आदि भी है। परशु नाम वेदि या द्वितीय सप्तक का, ९ वें से १६ वें तक के तत्त्वों का है (अथर्व ७-३-२८)। यही रुद्र का सप्तक है, रुद्र के परशु के टुकड़े से परशुराम का परशु बना है, परशुराम भार्गवेय हैं, 'भृगुर्वारुणिः'। अतः वरुण के आधार पर परशुराम का स्थान भी वहीं पड़ता है जो सोम या विष्णु का है। दशरथ २५ वें से १० तत्त्वों का नाम है। (आश्विनो दशमो ग्रहः)। इसलिए 'राम' नाम गायत्री के पुरुष रूप पति का है (गीते रमते त्रायते इत्यादि); वैसे वेदों में इन सब के नाम आते ही हैं (ऋ० वे० १०-३-१४)। लोमश ऋषि के लोम भी उक्त संख्या के योग के लोम हैं लोमश व्रात्य या योग या संवत्सर ब्रह्म अनन्त अमर है। इन्हीं का नाम समिध भी है, इतने समिध व्रात्य हैं। 'त्रिःसप्त समिधः' व्रात है, सब समिध व्रत हैं।

२१—सांख्य और योग के अक्षर

वैदिकों के केवल दो दर्शन हैं, सांख्य और योग। इन्हीं दर्शनों का वास्तविक नाम वेदान्त भी है, जैसा कि श्वेताश्वतर उप० ने पूरे सांख्य योग का वर्णन देने के अन्त में (अध्याय ६-१९) लिखा है कि यह सांख्ययोग का ही ज्ञान वेदान्त में परम गुह्य है, जैसे 'वेदान्ते परमं गुह्यं इत्यादि। ये दोनों एकदम एक दूसरे से विपरीत क्रम को बतलाने वाले तत्त्व हैं। दर्शन का आरम्भ योग से होता है, योग युगों या व्रतों का होता है, युग चार हैं, नाना प्रकार के युगों के वर्षों का व्रत और व्रतों के समूह का नाम व्रात है। कुल वर्ष संख्या ८६४,००,००,००० है, यह योग है। इसी का नाम व्रात्य है। योग और व्रात्य नाम पर्यायवाची हैं। यही संवत्सर ब्रह्म है, नाना नामों का ब्रह्म है। इसके विकास का क्रम पहिले दिये हुए २४ तत्त्वों की सरणि में दिया है (जैसे १×७६०,२×३६०), यह संख्या दिनों में है। वैसे एक तत्त्व में ८,६४,००,००,००० विभाग, दूसरे तत्त्व में ४३२०००००० दो भाग, प्रत्येक तत्त्व में ८,६४,००,००,०००÷४८=१८०,००,००० विभाग हैं। प्रत्येक तत्त्व के विकास में १,८०,००,०० भागों का विकास होता है, जो अन्त में ८६४०००००००० हो जाते हैं। यह तो रहा सांख्य या संख्याओं के क्रम से सृष्टि का विकास। इसमें ब्रह्म का ज्ञान उत्तरोत्तर क्षीण होकर कुहू बन जाती है, ४८ वें तत्त्व में। उस ब्रह्मज्ञान की ज्योति जागृत करने के लिए उलटे क्रम से तत्त्वों का एक-एक करके पूर्व-पूर्व में लय करना पड़ता है। उत्तरार्द्ध में कृष्ण पक्ष है, सोम रूप दिव्यशरीरी चन्द्रमा की क्षीण ज्योति का धुँधला प्रकाश रहता है, इस पक्ष में ४,३२००००००० तत्त्व रूप तारों के बीच हमारा सोमात्मा दिव्यशरीर ही ज्ञान का दीपक बनता है। हमारे पूर्ण भौतिक शरीर में ८६४०००००००० तारे रूप तत्त्व हैं। उनमें सोमात्मा रूप चन्द्र की ज्योति है। जब योगी सोम को पा जाता है, तब वह इन तारों

को क्रमशः पूर्वार्द्ध के दिन रूप अग्नि के प्रकाश में अस्त करने लगता है। यह स्थिति २५ वें से प्रथम तक में आती है। सूर्योदय २५ वाँ तत्त्व है, उसे या इस सूर्य रूप काम को अस्त करके, भौतिक तारों की समाप्ति कर देनी पड़ती है, फिर भी ४३२०००००० आध्यात्मिक तारे रह जाते हैं। उनको, १८०००००० तारों को एक-एक तत्त्व के क्रम से प्रत्येक तत्त्व में लय करके, अन्त में व्रात्य या योग रूप संवत्सर ब्रह्म ज्योति का अनुभव करना पड़ता है। जो क्रम योगी के वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में घटित होता है, वही अखिल ब्रह्माण्ड के प्रलय काण्ड में भी चलता है। यही सांख्य और योग का अन्तर है, सांख्य क्रमिक विकास देने वाला दर्शन है तो योग, क्रमिक प्रलयकारी, ह्रासकारी, पर ज्ञान ज्योति देने वाला। जो व्यक्ति इस सांख्य योग को या ऋचो अक्षरे (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध) के तत्त्वों को व्रात्य या योग में (परमे व्योमन्=अर्कः) नहीं जानता, वह वेदों को व्यर्थ में पढ़कर क्या करेगा? शुद्ध, बुद्ध, ब्रह्म पुरुष से यह अक्षरब्रह्म या शब्दब्रह्म परे का तत्त्व है; उसमें इन अक्षरों या पुरुषों या कलाओं या स्वभावों या बीजों का लय या प्रलय या एकात्म्य हो जाता है। अतः वह पुरुषोत्तम उत्तम, परमात्मा और ईश्वर कहलाता है। सारी सृष्टि क्षर है। अतः गीता ने कहा है।

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१५।१८॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकोत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५।१७॥

इसी उद्धरण के रेखाङ्कित भाग में इस मत को वैदिक मत के नाम से घोषित किया गया है।

———

अध्याय ८

वैदिक दर्शन पर वैदिक पशुवाद या कल्प का नीहारावृत परदा

समस्त वैदिक वाङ्मय वैदिक पशुवाद से ओतप्रोत है। वैदिक वाङ्मय के अन्तस्तल में वैदिक दर्शन के अमृत का क्षीर सागर निहित है, उसके पास तक पहुँचने के मार्ग में आपको सैकड़ों तत्त्व रूप पशुओं का सामना करना पड़ेगा। वैदिक चाहते तो वे इसे सीधी भाषा में कहकर लिख देते, पर इस शैली से ये वेद हमें अबतक चिरस्थायी रूप में न मिल पाते। उन्होंने वेद (ज्ञानमय) ब्रह्म की व्याख्या को वेद (ऋग्यजुःसामाथर्व) के मन्त्र रूप पशुओं की पीठ में रखकर, उन्हें काव्यमय, रसमय और कल्पना से अवतारित पशुमय कथानकों के रूप में, सरल सुबोध और आकर्षक बनाने के लिए उक्त वेद (ब्रह्म और ऋग्यजु सामाथर्वीय) को देव रूप तत्त्वों की गाथा रूप में वर्णित करते हुए अपनी प्रतिभा का अनुपम प्रमाण प्रस्तुत किया, खेद है कि इसे न समझ सकने के कारण वेदों का वास्तविक रहस्य अबतक रहस्य ही बना रह गया है।

१—पशुवाद स्थापना का कारण

वैदिकों ने 'पशु' शब्द का प्रयोग यज्ञ प्रणाली को स्थापित करने के लिए ही किया था। ऋग्वेद, सर्वप्रथम वेद की सर्वप्रथम ऋचा ही अग्नि को 'यज्ञस्य देवं' या यज्ञ का देवता बतलाती है। यज्ञ में बध माने हिंसा अवश्य है, पर रहस्य या दर्शन में यही वध शब्द तत्त्व के बन्धन या अनुगमन या दमन का अर्थ निश्चयात्मकतया रखता है। यही श्लेषार्थ दूसरे शब्द 'आलभन' का है, जिसका सीधा अर्थ पूर्णज्ञान या पूर्ण प्राप्ति है, इसका प्रयोग जब यज्ञ के पशु के सम्बन्ध में किया जाता है तब इसका अर्थ हिंसा हो जाता है। इस शब्द का प्रथम अर्थ (पूर्णज्ञान, पूर्णप्राप्ति) तो दार्शनिक और रहस्यमय है, द्वितीय (हिंसा) यज्ञ सम्बन्धी। इस प्रकार के श्लिष्ट शब्दों के उक्त श्लेषार्थ जाने बिना वेदों का अर्थ न लगेगा।

२—पशुबध का रहस्य

पशु शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ भी अनोखे ही हैं। पशु माने कल्पना, कल्प, प्रतिभा की ऊँची उड़ान और जैसा समझा या देखा उसका तद्वत् वर्णन करना है। 'पश्यतीति पशुः' या स्वर विपर्यय से 'पुष्यतीति पशुः' इसकी निरुक्ति है। जिस तत्त्व को जैसा देखा या समझा या जिस तत्त्व का विकास जिस प्रकार होते देखा या समझा (पुष्यतीति) या कल्पित किया उसका तदनुरूप वर्णन 'पशुः' या कल्प कहलाता है। लिखा भी है 'यदपश्यत् तस्मादेते पशवः'

३—पशु शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

(श० प० ब्रा० ६-१-४-२)। इसी सन्दर्भ से 'पशु' वह बृहत् या महतो महीयान् या अणोरणीयान् तत्त्व है जिसे दिव्यचक्षुओं या ज्ञाननेत्रों से देखा या समझा जा सकता है, न कि तत्तन्नाम के पशु के आकार-प्रकार में जो इतना छोटा या तुच्छ है। तत्तन्नाम के पशुरूप में कल्प या वर्णन तो दार्शनिक विवेचन को रोचक काव्यशैली में आकर्षक और अति सरल सुबोध बनाकर सर्वस्तरीय बुद्धि के लोगों की पहुँच तक लाने के प्रयास के लिए किया गया है।

४—वेदों में पशुओं के प्रकार

वेदों में वर्णित पशु तीन प्रकार के हैं (१) छान्दस पशु (२) देव पशु और (३) उक्त दोनों की व्याख्या के लिए अनन्त गाथाओं की श्रुतियों या मन्त्रों के रूप में व्यङ्ग्य लक्षणा, श्लेषोक्ति, समासोक्ति, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति प्रभृति अलंकारों की सहायता से कल्परूप ऐतिहासिक आख्यान देना। इस बात का समर्थन ऐ० ब्रा० (३-२-२४) ने इस वाक्य द्वारा किया है।

"पशवो वै स्वरः पशवः प्रगाथः"; तथा श. प. ब्रा. ने (३-६-५-१६) "सप्त वै छन्दांसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः" "त्रीणि ह पशोरेकादशानि" (३-६-५-१) वाक्यों से, और "पशवो वै देवानां छन्दांसि" श० प० ब्रा० (४-३-५-१) में यह बिलकुल स्पष्ट है। इसी बात को ऐ० ब्रा० (३-५-४७) ने दूसरे ढंग से पुष्ट किया है।

(१) छान्दस पशु—अखिल वैदिक विश्वदर्शन का मूल शिलान्यास छान्दस पशुओं की कल्पना से किया गया है। छन्द प्रायः चार पाद का होता है, अतः पशु कहलाता है, जो छन्द जितने पादों का है उसे उतने पाद का पशु कहा गया है, जैसे :—'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादाः·······वृषभो रोरवीति' मन्त्र का त्रिपादी वृषभ, गायत्री के तीन पादों का पशु है, गायत्र पशु या पुरुष पशु है। क्योंकि पुरुष गायत्री का पतिः है जैसे 'गायत्रो वै पुरुषः' (ऐ० ब्रा० ४-१-३)। यह त्रिपदी गायत्री पशु का त्रिपदी गायत्र पशु या पुरुष पशु या वृषभ है। प्रत्येक छन्द में जितने अक्षर होते हैं उनमें से प्रत्येक अक्षर एक-एक तत्त्व या देवता का प्रतीक माना जाता है। जैसे ऐ० ब्रा० लिखता है :—

"त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च। 'देवता अक्षरभाजः करोति। अक्षरमक्षरमेव तद्देवता' अनु प्र पिबन्ति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति। यं कामयेतानायतनवान्त्स्यादित्यविराजास्य यजेत् गायत्र्या वा त्रिष्टुभा वान्येन वा छन्दसा वषट् कुर्यादनायतनवन्तमेवैनं तत्करोति, यं कामयेतायतनवान्त्स्यादिति विराजास्य यजेत् 'पिबा सोममिन्द्र मदन्तु त्वा' इति एतयायतनवन्तमेवैनं तत्करोति॥" (३-२-२२;२-५-३७)

यहाँ ३३ देवता हैं। इसमें त्रिष्टुप् या अनुष्टुप् से इनकी गणना बैठती है। अतः इन्हीं का विधान दिया है, विराट् से ३३ अक्षरों की पूर्ति नहीं होती, अतः उसे मना किया है। छन्द का प्रत्येक अक्षर एक देवता है। छन्दाक्षर देवता का पानपात्र है। गायत्री त्रिपादामृत २४ तत्त्वों या अक्षरों की दर्शन की पूर्वार्द्ध

है, त्रिष्टुप् या अनुष्टुप् या चतुष्पदा गायत्री ३३ देवताओं या तत्त्वों की पूरी गिनती देती है, विराट् ४० अक्षरों या तत्त्वों की, जगती ४८ अक्षरों या तत्त्वों की, गायत्री को छोड़ सब चतुष्पद पशु हैं। एकपदी, द्विपदी, पंचपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टापदी तक होते हैं जैसे "वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्" (ऋ० वे० ८-७६-१२)

छन्दों को देवताओं के यज्ञ का ढोनेवाला पशु बतलाया गया है, क्योंकि ये प्रायः चतुष्पाद् और कभी-कभी त्रिपाद, द्विपाद, एकपाद होते हैं, ऐसे पशु होते हैं जैसे—

५—छन्दों को पशु क्यों कहते हैं ?

"पशवो वै देवानां छन्दांसि। तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। तद्यत्र छन्दांसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दांसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥" (श० प० ब्रा० ४-३-५-१)।

वेदों में प्रायः हारियोजन इन्द्र का वर्णन है। यह हारियोजनीय इन्द्र भी छान्दस इन्द्र है, छन्द के प्रत्येक अक्षर उत्तरोत्तर विकासीय इन्द्र हैं, अतः लिखा है, "छन्दांसि वा हारियोजनः···तं वै अतिरिक्तं गृह्णाति" (४-३-५-२ श. प. ब्रा.)। इस हारियोजन इन्द्र को अतिरिक्त ग्रह कहते हैं। क्योंकि इन्द्र तीन प्रकार का है, सर्वादेवता, हारियोजन और शतक्रतु। इनमें हारियोजन या छान्दस इन्द्र अतिरिक्त इन्द्र कहलाता है। छन्दों को देवताओं के यज्ञ का ढोनेवाला पशु बतलाने वाला वाक्य ऐ० ब्रा० (३-५-४७) में भी मिलता है जैसे—

"छन्दांसि वै देवेभ्यो हव्यमूढ्वा श्रान्तानि जघनार्धे यज्ञस्य तिष्ठन्ति। यथाश्वो वाश्वतरो वोहिवाँस्तिष्ठेदेवं तेभ्य एतं मैत्रावरुणं पशुपुरोडाशमनु देविकाहवींषि निर्वपेत् ॥"

इस प्रकार वेदों या ब्राह्मणों में बिना छन्दाक्षरों की गिनती, छन्द तथा ऋषि का नाम दिए किसी तत्त्व का न वर्णन मिलता है, न देवताओं को हवि देने की विधि। छन्द ही एक ऐसी वस्तु है जिस पर वेद मन्त्र निर्माण स्वरूप का भार लदा है, जिस पर वैदिक दर्शन का ढाँचा आधारित है, जिसके द्वारा सब यज्ञ विधान प्रचालित होते हैं। इस विषय पर मन्त्रभाग कम महत्त्व और अवधारण नहीं देता। जैसे :—"गायन्ति त्वा गायत्रिणो ऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ॥" (ऋ० वे० १-१०-१) तथा—

"यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृत्वमानशुः ॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा ऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥

जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद् रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥"
(ऋ० वे० १-१६४-२३,२४,२५) इत्यादि।

छन्दों का निर्माण वेदों के पहिले हो चुका था, यह कहना तो स्वयं स्वाभाविक है। इन छन्दों में से सात छन्द मुख्य और अति प्राचीन हैं। इनके छन्दोमय पुरुष का पशु रूप वर्णन श० प० ब्रा० १०-३-१ पूरे में पूरा दिया है। वे सात गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छन्दों का विवेचन श० प० ब्रा० ८-२-३ में वायव्य पशुरूप में दिया है। यहाँ ४ प्रजापति रूप छन्द हैं, अनिरुक्त हैं, १५ निरुक्त छन्द हैं, जिनके नाम विवल छन्दादि हैं; इनके पशु वस्त आदि हैं। ये सब वायव्य पशु हैं। श० प० ब्रा० ८-५-२ में एवच्छन्दादि ४० आरण्य पशुओं का वर्णन दिया है।

६—मुख्य छन्द और छन्दों का तत्त्वों से तादात्म्य

(१) छान्दस पशुः—प्रत्येक छन्द का तादात्म्य विभिन्न तत्त्व से किया गया है। और इन्हें मुख्यतः अग्नि से सम्बद्ध किया है। श० प० ब्रा० (८-६-२) में छान्दस ग्राम्य पशुओं का विवेचन दिया है। यहाँ छन्दों को ग्रामणी कहा है। इनकी प्राणादि रूपिका व्याख्या १०-३-२ में है। इनका वैदिक कालीन भावनापूर्ण प्रामाणिक और सत्य इतिहास स्वयं ऋग्वेद (१०-१३०-४,५,६,७) ने दिया है जिनका उल्लेख इस प्रकार है :—

"अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥
चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥
सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥"

ऐ० ब्रा० ने यहाँ पर उद्धृत इन ऋचाओं तथा पूर्वोद्धृत ऋ० वे० १-१६४-२३, २४,२५ मन्त्र की व्याख्या सी देते हुए, छन्दों को देवताओं में विभक्त किया है, अग्नि को गायत्री, रुद्र को त्रिष्टुप्, आदित्यों और विश्वेदेवताओं को जगती तथा सोम को अनुष्टुप् (ऐ० ब्रा० ३-२-१२,१३) इत्यादि, तथा इनके क्रमिक उद्भव का इतिहास यह है, सर्वप्रथम छन्द बृहत् या बृहती, उससे रथन्तर, उससे वैरूप, वैरूप से विराट्, विराट् से शाकर, गायत्री से अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् से पंक्ति, जगती से अतिच्छन्द (ऐ० ब्रा० ४-४-२८)। इनमें बृहती, रथन्तर. [illegible], उस कुतरना त्रिष्टुप्, जगती और पंक्ति मुख्य हैं, शेष [illegible] दार्शनिक रूप के दो भागों की

से किसी एक के विस्तार या भेद हैं। श० प० ब्रा० ३-२-४-१ में कर्मकाण्ड में विहित सप्तपद या सप्तपदी को भी इन्हीं सात छन्दों को बतलाते हुए लिखा है।

"यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दांसि सप्तपदा वै तेषां पराध्या शक्वरी तामेवैतत्परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते तस्मात्सप्त पदान्यनुनिक्रामति।"

कहने का तात्पर्य यह है कि सप्त पद, सात सप्तक हैं, जिनका प्रतिनिधित्व सात मुख्य छन्द करते हैं। ऐ० ब्रा० ने ५-२-१३ में भी कुछ इसी प्रकार का संकेत किया है। अन्त में श० प० ब्रा० ने ३-६-५-१६ में पुरुष सूक्त १०-९० के मंत्र "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।" का भाष्य सा करते हुए लिखा है कि ये वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु, छान्दस पशु हैं, सात-सात पशु हैं, वायव्य मरुतों के सात सप्तकों के ४९ पशु हैं (श० प० ब्रा० २-४-२-१३—सप्त-सप्त हि मरुतः गणाः) सात आरण्य या अरणि भवा आग्नेय पशु हैं, सात ग्राम्य या सप्त सप्तकीय पशु हैं। इनके निर्माण का आधार छन्दों को बतलाते हुए लिखा है "छन्दांसि गच्छस्वाहेति। सप्त वै छन्दांसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः सप्त वायव्यास्तानेवैतदुभयान् प्रजनयति॥" और ३-६-५-८ में पृषदाज्य का भाष्य देते हुए लिखा है कि पृषदाज्यं माने प्राणाः है, अन्नं या सोम है, जिनका प्रतिनिधित्व कर्म में दधि आज्य का मिश्रण करता है। 'द्वयं वा इदं सर्पिश्च दधि च द्वन्द्वं वै मिथुनं'। यहाँ पर आरण्य पशु गायत्र पशु हैं, आग्नेय पशु हैं, अरणि भवा आग्नेया तृतीय सप्तकीय गायत्र पशु हैं, वायव्य पशु वसु तत्त्वों से उद्भव द्वितीय सप्तकीय वायवीय पशु तत्त्व है, ग्राम्य पशु तीन ग्रामों से उद्भूत चतुर्थ सप्तक या चतुर्थ पाद हैं। ये अन्तरिक्ष नामक प्रथम सप्तक से वायुरूप में उत्पन्न होने के कारण वायव्य, दो अरणि या द्विपाद् रूप द्वितीय सप्तक से उत्पन्न होने के कारण आरण्य, तीन ग्राम रूप तीन सप्तकों से उत्पन्न होने के कारण ग्राम्य पशु कहलाते हैं, न कि ये आकाशीय, जंगली और गाँव के पशु हैं। ये तत्त्व रूप पशु हैं, इनको श० प० ब्रा० (१-२-१-७) ने 'आत्रो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति' या ये अत्रितत्त्व से उत्पन्न पशु हैं कहा है।

(२) देव पशु—वैदिकों ने प्रत्येक देवता का जो वर्णन सामाजिक प्राणी या व्यक्ति के रूप में किया है, क्या वहाँ पर उनकी सामाजिकता यथार्थवादिता है? नहीं, इनमें से कोई भी सामाजिक विषय नहीं है, पर यहाँ पर देवताओं के जिस समाज की अलौकिक वर्णना की गई है, वह सब पशुवाद है। इससे तत्कालीन वैदिकों की सामाजिक व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है, तत्त्वों का समाजानुकूल वर्णन, समाज के व्यक्तियों और वर्गों की समता और भेदभाव हीनता का भी उद्घाटन करता है। और तत्त्व रूप देवताओं का व्यवहार मानुषिक समाज से बाहर का या स्वाभाविक होने से प्रत्येक तत्त्व का व्यक्तिरूप (प्रजापति) [illegible] गायत्र पुत्र, पौत्र रूप में वर्णित करने पर भी जब काम न चला तब वाकेन वाक [illegible] बनाने के लिए सब का पशु रूप में वर्णन

किया, इस रूप के वर्णन से यज्ञ में बध और आलभन शब्दों को दो श्लेषार्थ भी बड़ी चतुराई से भिड़ा दिये गये। जैसे जब बृहदारण्यक उपनिषद् (१-१-४-४) यह लिखता है "सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा (पत्नी) सम्भवति, । हन्त तिरोऽसानीति, । सा गौरभवदृषभ इतरः" इत्यादि कि जब पुरुष विध का प्रथम आत्मा अकेला था उसे भय लगता रहा; उसने साथी चाहा, शरीर के दो भाग किये, पति-पत्नी बने, पर उसने सोचा मेरे ही शरीर से उत्पन्न स्त्री मेरी पत्नी कैसे बने ? अतः वह ऋषभ बना स्त्री भाग गौ (गाय)। पशु समाज में कोई किसी की पत्नी बन सकती है, बहिन हो या माँ या कोई और। इस दृष्टिकोण को अपना कर सामाजिकता भी निभ गई और तत्त्व रूप देवताओं का पशु समान स्वभाविक विकास सम्बन्धी प्रणाली भी पूर्णतः सफल हो गई, उधर बध और आलभन शब्दों के श्लेष से सामाजिकता और पशुता दोनों का यज्ञ में यथानुरूप विधान और पालन भी हो गया।

इस बात को सब मानेंगे कि देवता तत्त्व न तो प्राणी थे न पशु थे, वे तो व्यापक, बृहत्, शक्ति पुञ्ज, सृष्टि विकास परम्परा के तत्त्व रूप प्रतिनिधि हैं।

७—पशुवाद का लक्ष्य

ऐसी परिस्थिति में इन सब का ब्राह्मणादि जातिरूप में, राजा, सम्राट्, स्वराट्, प्रजा आदि पदवी रूपों में और नाना जड़ पदार्थों के समान—समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष, रत्न, धन के रूपों में एक दूसरे के शत्रु मित्ररूप देवासुर रूप में और नाना पशु, पक्षी, मृगादि रूपों में वर्णना तो दर्शन को छोटी-छोटी रोचक कथानकों में ढालकर सबके समझने के योग्य बनाने का प्रयास मात्र है। इसीलिए ये सब कथानक पशु कहलाते हैं, क्योंकि इनमें कथा का क्रम तो कल्पना है, पशु है, इन सबका वास्तविक रहस्य तो प्रत्येक देवता की क्रियाओं की विशिष्टता पर ही प्रकाश डालना है, इस ओर उक्त सब कथानक आवश्यकता से अधिक संकेत कर देते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि देवताओं के बारे में वेदों में जो कुछ भी जैसी-जैसी भी जितनी भी कथायें दी गई हैं या वर्णित हैं, वे सब कथानक सच्चे

८—कथारूप पशु

पशु हैं, वे कहानियाँ अक्षर प्रत्यक्षर कल्पनायें हैं, इन कथाओं में देवताओं का यथार्थ इतिहास या चरित्र नहीं है। इन कथा रूप पशु का बध या आलभन करके, इनके नायक देवता रूप पुरुष या देवता का बन्धन या ज्ञानग्रन्थि में बन्धन या आलभन या पूर्णज्ञान प्राप्त करना या कराना वेदों या वैदिकों का मुख्य कर्त्तव्य है। उदाहरण के लिए पुरुष सूक्त के "सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्" ऋचा के पुरुष पशु की पशुता इस पुरुष तत्त्व को पुरुष (पुल्लिंग) कहना और पशु कहना है, पशु इसलिए कहा है कि इसका सिर और धड़ दोनों (२५,२५ तत्त्वों के होने से) बराबर थे, उसे कुतरना पड़ा था। यह तो केवल उस पुरुष तत्त्व के दार्शनिक रूप के दो भागों की

पशुरूप में व्याख्या देता है, ऐसा नहीं कि कोई ऐसा पशु हो जिसके सिर और धड़ बराबर हों। और ऋचा के अनुसार जिसने उस पुरुष नामक दार्शनिक तत्त्व ब्रह्म की सात परिधियों या सात सप्तकों के ५० तत्त्वों को और पूर्वार्द्ध के 'त्रिः सप्त समिधः' रूप २४ तत्त्वों को भलीभाँति यज्ञ से या ज्ञान यज्ञ को करते हुए या ज्ञान चक्षुओं से देख लिया और समझ लिया, उसने या ऐसे दैवी शक्ति सम्पन्न देव या देवों ने, उस पुरुष पशु का बधकर डाला, अर्थात् उसने उस पुरुष और पुरुष पशु की उक्त कथा का बधकर डाला, उसे चीर डाला, उसने उसमें से वास्तविक ब्रह्म विकास परम्परा के चित्र रूप आध्यात्मिक पुरुष या ब्रह्म का ज्ञानग्रन्थि में बन्धन या हृदय मन्दिर में आलभन या पूर्ण प्राप्ति करली। यह है वैदिकों की हिंसा। वैदिक हिंसा—कथारूप पशुओं की हिंसा है, उनमें जो ज्ञान निहित है उसे निचोड़ कर, निकालकर, ज्ञानग्रन्थि या हृदय-मन्दिर में सुरक्षित करना है। इसीलिए कहा है 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कि वैदिक हिंसा-हिंसा नहीं होती। कर्मकाण्डी लोगों की हिंसा तो अभिनय की हिंसा है। वहां यज्ञस्थल में भी वध नहीं करना चाहिए था, पर खाने-पीनेवाले मस्त कर्मकाण्डी कब मानने वाले थे—वे हिंसा अवश्य करते रहे, अतः यह भ्रम बना पड़ा रह गया है। ऋषियों ने तो पञ्चपशुओं के मांस को अपक्रान्तमेधा होने से खाने के लिए स्पष्ट मना किया था (अश्वमेध और पु० सू० देखें)।

देवता विषयक कथायें ही पशु हैं, सचमुच में देवताओं के नामों की कल्पना भी पशु है। प्रत्येक देवता का जो कुछ भी नाम है वह सार्थक और पारिभाषिक है। इन नामों की दार्शनिकता उनकी निरुक्ति व्युत्पत्ति या पारिभाषिकता पर निर्भर है, बिना इनके, ये सब नाम केवल पशुवाद मात्र के प्रतीक हैं। प्रत्येक देवता का कथानकीय नाम भी पशु है, उसका भी वध या आलभन करना वैदिकी हिंसा है। इनके निरुक्ति मूलक व्युत्पत्ति सिद्ध और पारिभाषिक अर्थ को समझना ही उसका ज्ञानग्रन्थि में बन्धन और हृदय मन्दिर में आलभन या पूर्ण प्राप्ति है। यह बात प्रत्येक देवता के नाम पर घटित समझनी चाहिए।

९—देवता नाम भी पशु ही हैं

इतना ही नहीं वैदिकों ने प्रत्येक देवता को पशु नाम से भी पुकारा है और प्रत्येक को पशु का स्वरूप और नाम भी दिया है। जैसे ३३ देवताओं को पशुओं के तीन एकादशों में विभक्त करके प्रत्येक देवता को एक-एक पशु घोषित कर दिया है जैसे—

१०—प्रत्येक देवता को पशु कहा है

"त्रीणि ह वै पशोरेकादशानि। एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजो दश पाण्या अङ्गुलयो दशपाद्या दशप्राणाः प्राण उदानो व्यान इत्येतावान्वै पुरुषो यः पराद्धर्यः पशूनां यं सर्वेऽनु पशवः॥" (श० प० ब्रा० ३-६-५-१)

यह पुरुष सूत्र के पुरुष पशु की व्याख्या है। उसे परार्द्ध या दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध का बतलाया है, ३३ वाँ घोषित किया है; प्रथम एकादश प्रयाज पशु है, द्वितीय, तृतीय, एकादश क्रम से अनुयाज पशु और उपयाज पशु हैं। उदान-व्यान को छोड़ जो पुरुष ३१ वां होता है वही 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' वाला भयंकर पशु है जो १० दश अंगुलि सरणि से पूर्व-पूर्व का क्रम से अतिक्रमण करके ३१ वां बनता है। अतः लिखा है 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' (पुरुष पशु देखें) जिसका एक अर्थ यह भी है कि वह विराट् पुरुष से १० अंगुल पीछे रह गया, विराट् ४० वाँ तत्त्व है। आगे चलकर श० प० ब्रा० ३-७-२ पूरे प्रपाठक में मुख्य-मुख्य देवताओं को पशु नाम से पुकार कर उनमें से ११ को 'पश्वेकादशिनी' पशुओं की एकादशी या ११ मुख्य पशुओं के नाम दिये हैं। वे ११ मुख्य पशु ये हैं "आग्नेय, सारस्वत, सौम्य, पौष्ण, बार्हस्पत्य, वैश्वदेव, ऐन्द्र, मारुत, ऐन्द्राग्न, सावित्र, और वारुण,"।

११—प्रत्येक देवता का सम्बन्ध पशु से है

प्रत्येक वैदिक देवता का सम्बन्ध किसी न किसी पशु से है। वृषभ' नामक शीर्षक से स्पष्ट है कि ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेवा, भगः, मरुत, पर्जन्य, विष्णु, रुद्र, नदी, सिन्धु, मित्रावरुण, वास्तोष्पति, मुद्गल इन्द्र, गौ, वाग्धेनु आदि को वृषभ या धेनु नामक पशु रूप में वर्णित किया गया है। ब्रह्मणस्पति गणपति है, उसका वाहन मूषक है। आग्नेय पशु मेष और महिष है। सारस्वत पशु असुर है। पौष्ण पशु आदित्य है जिन्हें गाव या गो कहा गया है (आदित्य देखें)। सौम्य पशु वृत्र, अहि आदि हैं। वैश्वदेव पशु पितृरूप पशु हैं। मारुत और इन्द्र पशु, रुद्रादि गण और कूर्म नाग आदि हैं। सावित्र पशु गायत्र पुरुष पशु है। विष्णु का पशु, शेष वृत्र गौ, प्रश्नि हैं। रुद्र का वृषभ है और स्वयं पशुपति हैं। सरस्वती का हंस और लक्ष्मी का मयूर है, पूषा के पञ्च पशु-पुरुषपशु, अश्व, गो, अवि, अजा हैं। इनके अतिरिक्त अन्यत्र किम्पुरुष, अश्व, अश्वतरी, रासभ, गर्दभी, उष्ट्र, उष्ट्री इत्यादि पशुओं को इन्हीं के साथ जोड़ रखा है। जिसको वृषभ करते हैं उसी को ऋषभ भी करते हैं। ऋषभ देव भी पशु है, स्थान-स्थान पर प्रत्येक पशु के नाम की व्याख्या दार्शनिक ढंग से दी गई है जैसे—

१२—पशु नाम की सार्थकता

"यो रसदिव स रासभो ऽभवत्; यः कपाले लिप्तो रस आसीद् सो ऽजो ऽभवत्" (श० प० ब्रा० ६-१-१-११)। 'अविरितीयं वा अधिरियं हीमाः सर्वाः प्रजा अवतीयममुं वा' 'अवी इतीयं चासौ चेमे हीमाः सर्वाः प्रजा अवतो यन्मृदि' 'इमे वै लोका गौः यद्धि किं च गच्छतीमांस्तल्लोकां गच्छतीम उ लोकाः' (श० प० ब्रा० ६-१-२-३३,३४,३५);

अर्थात् रासभ वह पशु या तत्त्व है जो रसमय है। 'अज' वह है जो लिप्त या व्याप्त है, अवि (भेड़) वह है जो अवन या रक्षण करती है, इसका सम्पूर्ण

विवेचन मुण्डक द्वितीय खण्ड में विस्तारपूर्वक मिलेगा। गौ वह है जो इस भौतिकता में परिणत होती रहती है, भौतिक ब्रह्माण्ड गमनशील परिवर्तन शील है। अतः 'गौः' कहलाता है, यह अनन्त रूपिणी है। अतः पृश्निः कहलाती है 'त्र्यायं गौः पृश्निर क्रमीत्' इत्यादि। इस प्रकार पशुओं का नाम केवल दार्शनिकता की व्याख्या का आधार मात्र बनाने के लिए, कल्पना मात्र के लिए, परदे के समान रखा गया है।

वेदों में यज्ञ नाम पुरुष का है "पुरुषो वै यज्ञः" और इस यज्ञ पुरुष को पशुरूप हवि नाम से पुकारा है 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वतः'। अतः यज्ञ भी पशु है, यज्ञ विधान भी पशु है, ये दोनों पशु वैधानिक, कर्मकाण्ड के नियमों के पशु हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर लिखा है कि उषा पशु है, रुद्र पशु हैं, आदित्य पशु हैं, मरुत पशु हैं, ऋभु पशु हैं, छन्द पशु हैं, सब वैदिक देवताओं के नाम पशु हैं। ये सब नाम दार्शनिक व्याख्या के लिए काल्पनिक कथानकों के या ऐतिहासिक कथानकों के दर्शन में ढले आख्यानों के लिए अपनाये गये हैं जैसे—

१३—यज्ञादि भी पशु हैं

"सरस्वत्यै, पूष्णेऽग्नये स्वाहेति। वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवो वै पूषा पुष्टिर्वैपूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदैवतत्सम्भृत्यात्मन्कुरुते॥" (श० प० ब्रा० ३-१-४-९)

यहाँ यज्ञ को पशु बतलाया है और श० प० ब्रा० ३-९-२-१ में यज्ञ रूप पशु के शिरोच्छेद की कथा देते हुए लिखा है कि यज्ञरूप पशु के शिरोच्छेद से ही (चतुर्थसप्तकीय वृत्रमय आपोरूप रस प्रस्यन्दमान होने (टपकने) लगा जैसे—

"यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽछिद्यत। तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसं स्यन्दमानं मन्यते।"

इस प्रकार समस्त यज्ञ विधान पशु का बध और बन्धन या आलभन (हिंसा तथा पूर्णता प्राप्ति) करना वैदिकों का अभिप्राय था। संहिता युग में ही वैदिकों ने इस प्रकार के कर्मकाण्डियों की हँसी उड़ाते हुए लिख दिया था कि—

"सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥"

(ऋ० वे० १०-८५-३-४)

ये कर्मकाण्डी ओषधि, जड़ी-बूटी घोटकर सोम पी लिया करके समझते हैं। वेदों में जिसे सोम समझा गया है उसे कोई (मिट्टी का पुतला कर्मकाण्डी

१५—पशुवाद को न समझने वालों की हँसी उड़ाई जाती रही ।

नहीं पी सकता। उसे तो वाग्ब्रह्म के नाना विधानों से सुरक्षित किया गया है। ये उसका पत्थर (सिलवट्टा) नाम सुनकर ठगे गये हैं। यह सोम उक्त यज्ञरूप पशु के शिरोच्छेद से टपकने वाला रसमय, आपोमय शब्द ब्रह्म है। इसी प्रकार 'ऋचो अक्षरे' ऋचा में 'किमृचा करिष्यति' वाक्य द्वारा 'जो अक्षर ब्रह्म के अक्षरों को नहीं जानता वह ऋचाओं को क्यों पढ़ता है' ? कहा है।

१६–पशुवाद को समझने वाले आचार्य और यजमान की संविद्

अनूचान ब्राह्मणों के यज्ञ विधान में चारों ओर दार्शनिकता की मधुधारा बहती रहती थी। उन्हें 'शुश्रुवान्सः, अनूचानाः, ब्राह्मणाः' कहते थे। इसका संकेत वालखिल्य काण्ड में इस मधुमयी भाषा और ऋचा में दिया मिलता है।

"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ॥
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै ॥"
(ऋ० वे० ८-५८-१,२,३ पूरा सूक्त)।

इस सूक्त में भी स्पष्ट लिखा है कि ऋत्विज लोग यज्ञ में जिस ब्रह्म की नाना विधियों से कल्पना करते थे और उस कल्पना में यजमान–यज्ञकर्त्ता और ब्राह्मण दोनों को जैसी संविद् या आभ्यन्तर अनुभूति होती रही, वह यह थी कि एक ही अग्नि रूप ब्रह्म नाना रूपों में आहूत किया जाता है; सूर्य एक ही है, उषा एक ही है, अखिल सृष्टि एक है, सृष्ट्यादि काल में सब कुछ 'एक' था। वह ज्योतिष्मान्, प्रकाशवान्, केतुमान् या भौतिकता युक्त, त्रिचक्री (त्रिपादामृत युक्त भौतिकता मिश्रित) सुखमय आनन्दमय रथ या शरीर सम था जो 'सुषद' या प्राणों का अधिष्ठान था, पर था नाना ऊर्मिमय वैद्युतीय तरंगों से परिपूर्ण आपोमय सागर सा और जो चित्रामघा या चतुर्थ सप्तक के भौतिकता के आवरण में सोमरूप रसमय था; उसी का यज्ञों में आह्वान या अभिनय किया जाता था, जिसकी सम्पादन क्रिया में अधिकाधिक ब्रह्मरस पिये जाने के समान आनन्द आता रहा। यह था यज्ञरूप पशु का बध या बन्धन या आलभन। वैदिकों की उषा और सूर्य नित्य उदित होने वाले उषा, सूर्य नहीं हैं, ये तो अभिनय के काल्पनिक आधार हैं। उषा नाम भौतिकता के प्रथमाभास, रमणीय दृश्यमान आभास का है। भौतिकता का पूर्णोदय सूर्य है, जिसका उदय दर्शन के मध्यवर्ती २५ वें तत्त्व में होता है। अतः जहाँ-जहाँ सूर्य का सूक्त है, वहाँ-वहाँ उसे मध्यवर्ती बतलाते हुए 'मध्या कर्तो विततं सं जभार' आदि लिखा है (चित्रं

देवानामुदगादनीकं, इत्यादि ऋ० वे० १-११५ सूक्त देखें)। इसी को चक्षु नाम देकर, वरुण, मित्र, अग्नि की चक्षु कहा है। चक्षु माने भौतिकता का प्रथमाङ्कुर और प्रथम दृश्यमान या चक्षुमय या भौतिकात्मा की दृश्य शक्ति है, यही भौतिकात्मा सहस्राक्ष या सर्वतोऽक्षिरूप है, स्थूल ब्रह्माण्ड का सर्वतोचक्षुमय अंकुरमय मूलबीज है। अतः 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा है। उषा को पिछले परिच्छेद में संवत्सर ब्रह्म की पत्नी बतलाया जा चुका है। उसे सूर्य की पत्नी या इन्द्र की मघोनी भी कहा है, पर यह तो भौतिकता का प्रथमाभास रूप है, भौतिकता को त्रिपादामृतरूप ब्रह्म की पत्नी ही माना है, कहीं इसे अश्व (ढोने वाला) कहते हैं, कहीं रथ या शरीर या स्त्री इत्यादि नामों से पुकारते हैं। कुछ भी कहें, यह उषा इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की आदि जननी स्वरूपिणी है। इसीलिए इसे, सूर्य को चक्षु कहने की तरह, 'भास्वती नेत्री' या चमकीली आँख सी बतलाते हुए कहा है कि यह वह प्रथम भौतिक तत्त्व है जो अहोरूप त्रिपादामृत से दिव की दुहिता के रूप में उत्पन्न होकर भौतिकता के विवर्त को सर्वप्रथम प्रारम्भ करती है।

"कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव।"

(ऋ० वे० १-१८५-१)

अतः श० प० ब्रा० उषा को 'उल्व' या गर्भ नाम से पुकारता है 'उषा वै उल्वं' (७-२-३-११)। और ऐ० ब्रा० (४-४,२७) में लिखा है कि केवल इसी उषा से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना प्रारम्भ हुई, जैसे "ऊषोहि पोषोऽसौ वै लोक इमं लोकमभिपर्यावर्तत। ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां न द्यावान्तरिक्षान् नान्तरिक्षाद्भूमिः।" ऐ० ब्रा० (४-४-२७)। यह उषा नामक देवता की पशुरूप व्याख्या है। इस कथानक रूप पशु का बध करके यह गाँठ में बाँधना है कि २४ वें तत्त्व के अन्त को उषा या भौतिकता का प्रथमाभास या प्रथमाङ्कुर कहते हैं। २५ वें में वह सूर्य तत्त्व रूप में पूरा अंकुर (चक्षु या आँख) बनकर फूट निकलता है, भौतिक सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। २४ वाँ अत्रि तत्त्व है। अतः सूर्य को अत्रि की आँख (चक्षु) कहते हैं। यही २४ वाँ तत्त्व कथान्तर से मित्र, वरुण या जातवेदाग्नि है। अतः उसे 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कहा गया है, कथारूप पशु की बलि कर दीजिए, शेष ज्ञान उक्त सृष्टिज्ञान रह जायगा।

वेदों, ब्राह्मणों या उपनिषदों में जब यह लिखा है कि "तदैक्षत, बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उप० ६-२) 'सो ···एकाकी बिभेति, आत्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्'। (बृह० उप० १-४) इत्यादि जिनके बदले मंत्र भाग में काम नामक तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋ० वे० १०-१२९-४) तब इस प्रकार के वचन रूप कथानक सब पशु हैं। ये कल्पशास्त्र की कल्पना की व्याख्या रखते हैं। कामना की

१७—'स ऐक्षत' आदि वाक्य और सब कथानक पशु हैं

स्मृति, विराट् या जाग्रत पुरुष रूप पशु के रूप में की गई है। उस पुरुषपशु का कथानक भी पशु है। वास्तविकता यह है कि मनोवाग्प्राण तीनों का संयोग या तेजोमय वैद्युतीय वेगवान् सर्वव्यापक तत्त्व विकास की लहरों में प्रवाहित होने लगा। नहीं तो इच्छा करने वाला कौन था? देव या असुर, नर या नारी, मनुष्य या देव, पशु या पक्षी? प्रथम है तो दूसरा कैसे विकसित होगा? दूसरा है तो प्रथम कैसे? दोनों या सब हैं तो सबकी सृष्टि साथ-साथ गणेशाकार धनुर्धराकार सृष्टि न कर देंगे? ये सबपशुरूप कल्पनायें हैं। इनका बध करके ज्ञान की ज्योति को अपनाना वैदिकों को अभीष्ट था, इन्हीं पशुरूप कल्पनाओं का, फल के छिलके रूप कथानक का बध या तोड़फोड़ करके ज्ञानरूप गूदे या भीतरी फल या रस का अमृतमय पान करना, वैदिकी हिंसा है और सर्वश्रेष्ठ हिंसा है।

१८—कथानकों का खोल

वेदों के कथानक लौकिक या बाहरी खोल हैं, कथानक अखरोट के फल के बाहरी छिलके हैं, वे पशु हैं। देवताओं के नाम भी ऐसे ही छिलके हैं, उनका बध या तोड़फोड़ करना है, उनका भीतरी गूदा या फल वैदिक (दर्शन) है, वेदों की, ब्राह्मणों की और उपनिषदों की अमृतमय आत्मा है। लौकिक कथानकों में कोरी कल्पना नहीं है, कल्पना दर्शन विषयक है, कथानक तो ऐतिहासिक हैं, इन ऐतिहासिक लौकिक कथानकों को वैदिक दर्शन के अमृतमय रस भरने का पात्र या लादने का पशु या कल्पना का आधार बना रखा है। वैदिक मन्त्रों के बाहर लौकिकता का ऐतिहासिक परदा है। उनके भीतर ही भीतर रसमय ब्रह्म का अनन्त क्षीरसागर सन्निहित है। जैसे वेदों में इन्द्र-वृत्र के युद्ध का अनन्त वर्णन है, पर श० प० ब्रा० ने सबकी आखें खोल देने के लिए उक्त निष्कर्ष और कथन की पुष्टि करते हुए, वैदिक अहोरात्रवाद पर प्रकाश डालने के लिए लिखा है कि देवताओं की सृष्टि मुख से या पूर्वार्द्ध से हुई और असुरों की सृष्टि अवाङ् प्राण या उत्तरार्द्ध से। पूर्वार्द्ध दिन है, प्रकाशमय है, अतः देवता प्रकाश रूप ज्ञानरूप हैं, उत्तरार्द्ध तमोमय रात्रि है, अतः असुर तमोमय अज्ञानमय हैं। इन दोनों के संयोग के अहोरात्र से, देवासुर संग्राम से, प्रकाशान्धकार संघर्ष तो वैदिक मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक घटना रूप में कभी भी नहीं घटा है। परन्तु इतिहास में या लौकिक संसार में ऐसी घटनायें नित्य घटा करती हैं। उनका उपमान मात्र लेकर यहाँ पर उन्हें वैदिक दर्शन के रहस्यों का खोल बना लिया गया है।

१९—इन्द्रवृत्र युद्ध की पशुता

इसीलिए ऋषियों ने बार-बार कहा है कि हे इन्द्र! तुम कभी भी एक दिन भी नहीं लड़े, न हे मघवन! तुम्हारा कोई शत्रु ही है; वेदों में जिन युद्धों का वर्णन किया गया है, वे तो माया हैं अर्थात् दार्शनिक रहस्य के ऐसे सांकेतिक या काल्पनिक कथानक हैं, जो लोक में नित्य प्रति घटते रहते हैं, तब (उस वैदिककाल में भी)

घटे थे, अतः न तो तुम्हारा शत्रु आदि में कोई था, न तुम कभी भी पहिले लड़े। जैसे—

"स आस्येनैव देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त।...योऽयमवाङ्प्राणः। तेनासुरानसृजत...तम इवास।...तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत, इति हासे त्वत्ततोह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्–'न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुन्न नु पुरा युयुत्स'इति...तेअहोरात्रे॥"
(११-१-६—७, ८, ९, १०, ११, १२ श० प० ब्रा०)

यहां पर जो कथन उद्धृत किया गया है, वह श० प० ब्रा० की अपनी कोरी कल्पना नहीं है। इसमें ऋग्वेद की एक ऋचा भी उद्धृत है, पर इसी भाव को रखने वाली दो अन्य ऋचायें स्वयं वेदों में निहित मिलती हैं; जिनसे यह सन्देहहीन रूप से निश्चित हो जाता है कि वेदों के लौकिक आख्यान केवल वैदिक दर्शन के खोल हैं, खाल हैं, पशु हैं, कल्पना के आधार के लिए पशु कथानक हैं, जैसे ऋ० वे० १०-२७-३ लिखता है

२०—पशुता स्वयं वैदिक भावना है इसका प्रमाण

"नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून् समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत् समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति॥"

कि मैं उस व्यक्ति को नहीं समझ पाता जो यह कहता है कि इन्द्र ने अदेवयू, वृत्रादि असुरों को युद्ध में मारा। जब वह यह कहता है कि यह युद्ध तो व्यथ में बाहरी खोल है, अजागलस्तनवत् है, हां, तब वह सचमुच में एक समझदार की सी बातें करता है। दूसरी ऋचा कहती है

"यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥"
(ऋ० वे० १०-५४-२)

कि जब वेदों में यह कहा जाता है कि इन्द्र शत्रुओं की अनन्त सेना को नष्ट करने के लिए अपने शरीर को इतना बढ़ा देता है, (कि वे सब नष्ट हो जाते हैं) तब यह समझना चाहिए कि यह सब माया का वर्णन है, अर्थात् काल्पनिक कथा है। इन्द्र का न कोई शत्रु आदि से रहा है, न उसने कभी शत्रु को देखा या समझा ही, उसके युद्धों का वर्णन तो केवल रूपक या दार्शनिक रहस्य के सांकेतिक या काल्पनिक कथानक हैं, जिन्हें इनके ऐसे कल्पशास्त्र से समझना आवश्यक है।

समस्त वेदों को और अखिल सृष्टि को वैदिक आर्यों ने वृक्ष का रूपक दिया है। कुछ दिनों पश्चात् यह साधारण वृक्ष, वट या पिपल का वृक्ष—बड़े होने के कारण कहलाने लगा। हमारा समस्त वैदिक वाङ्मय जब एक वृक्ष या महान् वृक्ष है या अश्वत्थादि वृक्ष है, तभी वेदों के विभेद ऋग्यजुःसामाथर्व तथा इनके सब प्रभेद अब तक

२१—सृष्टि वृक्ष रूप पशुता

शाखायें कहलाती हैं, इनके छन्द उस वृक्ष या शाखाओं के पर्ण कहलाते हैं। उधर जब अखिल ब्रह्माण्ड एक वृक्ष है तो उसका मूल ऊपर को है, शिर नीचे को, उसके क्रमिक विकास, शाखायें हैं, ये क्रमिक विकास, देवता या तत्त्व रूपी हैं, इसका प्रथम पर्ण भौतिकता का प्रथम आभास और द्वितीय पर्ण पूर्ण भौतिकता है। इन दोनों को चक्षु (वृक्ष की अङ्कुर उगाने वाली आँख) से उत्पन्न सुपर्ण या प्रथम दो पत्ते कहते हैं। इन्हीं को दो सुपर्ण रूप पक्षी भी कहते हैं। इसका वर्णन ऋग्वेद में दो स्थलों में आया है। ऋ० वे० १०-३१-७ और १०-८१-४

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
सन्तस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त ॥"

इसी भाव को अथर्ववेद ने कई शब्दान्तरों में एक नये ढंग से कहा है, जो सर्वोपनिषद् प्रसिद्ध है।

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त साकं वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति ॥"

(ये अस्य गोपा महतो बभूवुः—चतुर्थ चरण का पाठान्तर अथर्व १०-८-९में) कठ, श्वेत, मुण्डक और बृहदारण्यक (२-२-३) में यह उक्त रूप में मिलता है। गीता ने इसको इस प्रकार बदल दिया है।

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद् ॥" (१५-१)

गीता ने तो यहां पर यह भी शर्त रख दी है कि वही वेदविद् या वेदवेत्ता कहला सकता है जो इस वेद वृक्ष या देव वृक्ष को जानता है, अन्य नहीं। अस्तु! हमारा प्रश्न यह है। क्या सृष्टि या वेद वृक्ष हैं ? या कुछ और ? क्या यह काल्पनिक सुन्दर आकर्षक रूपक नहीं ? तब क्या वृक्ष को वेद कहेंगे या सृष्टि कहेंगे ? या इसके उलटे सृष्टि की व्याख्या एक वृक्ष से की गई कहेंगे। सृष्टिदेव या वेददेव की यह वृक्ष रूप वर्णना कोरी कल्पना है, पशु है, इसकी हिंसा से ही वेदों या देवों का उचित ज्ञान या भान होगा। इसी प्रकार शब्दब्रह्म, वाग्ब्रह्म या अक्षर-ब्रह्म वर्णना भी पशुवत् वर्णना है। ब्रह्म तो मधुमयी विद्युत् का व्याप्तिमय, एकमय, सूक्ष्मतम हिरण्यगर्भ या सुवर्णाण्ड है, जिसमें अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड उगा, पनपा और स्थिर है। उसकी मधुमती लहरियों को–जिन्हें ज्ञानमय, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय या आनन्दमय कहते हैं—शब्दब्रह्म या वाग्ब्रह्म या अक्षरब्रह्म कहते हैं। ये आध्यात्मिक और भौतिक दो प्रकार के ऋत और सत्य शरों से युक्त हैं, दोनों अनादि, अनन्त और नित्य हैं। हां, स्थूल भौतिकता में इनका स्वरूप परिवर्तनशील हो जाता है तो ये फिर भी अनित्य नहीं होते, एक का परिणाम दूसरे में हो जाता है। एक स्थल की लहरी दूसरे स्थल में व्याप्त हो जाती है, कोई लहरी कभी नष्ट नहीं होती, सब नित्य हैं, स्वरूप बदलना अनित्यता नहीं है, परिवर्तन तो परम्परा-क्रम है। शब्द या वाग् की लहरियाँ इतनी सूक्ष्म होती हैं कि इनका अनुभव

मात्र हो सकता है। जिसे लोग अनित्य शब्द कहते हैं उसकी स्मृति मूर्ति तो जीवनभर या सृष्टिपर्यन्त बनी रहती है और परिवर्तित भी होती है, सर्प चलते हुए जैसे अपनी गति की लकीर छोड़ जाता है, वह इतना स्थूल भी यहां अपने सूक्ष्म रूप में रहता ही है। शब्द ब्रह्म की गति तो और भी निराली है। इसी प्रकार ब्रह्म का समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष (पंच या सप्त) रूपों की वर्णना सब पशुवाद हैं। ये कल्पना के महल रूप कथानक हैं, ब्रह्म की विशद या यथार्थ चित्रमयी व्याख्यायें हैं, अतः पशुवाद हैं। इनके भीतरी रहस्य के रस को चूस कर शेष को फेंक देना ही वेदों की विद्वत्ता कहलाती है। गीता ने इसी भाव को मन में रख कर लिख भी दिया था।

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥" (२-४६)

जिस प्रकार चारों ओर फैले हुए पानी में से प्यासे को अपनी प्यास बुझाने मात्र से सम्बन्ध रहता है, (शेष को देख कर केवल अवाक् रह जाना पड़ता है) वैसे ही नाना प्रकार की कथारूप कल्पनारूप वैदिक साहित्य सागर के पास जाकर ज्ञानी ब्राह्मण या ब्रह्मज्ञान के प्यासे को ब्रह्मज्ञान पीने मात्र से (उसके मीठे रस को अपनी तृप्ति के अनुकूल पीने मात्र से) सम्बन्ध रखना है, उसे उन कथानकों की अनन्तता में नहीं डूबना चाहिए। जो यहां डूबा, वह कहीं नहीं उतर सकता। अतः वेदों का पशुवाद इतना अधिक महत्त्व पूर्ण है कि इसे जाने समझे बिना किसी को भी वेदों का अर्थ नहीं लग सकता। जो इसे समझ गया, उसके लिये वेद हस्तामलकवत् स्वयं दृश्य है।

२२—पशुवाद में कितना ग्राह्य है कितना त्याज्य

अध्याय ९

'पञ्चपर्वा-विद्या'

आजकल तो वैदिक 'पञ्चपर्वा-विद्या का लोप हो चुका है। पर हमारी सारी संस्कृति, संस्कार, धार्मिक भावनायें और मार्मिक धार्मिक कृत्य सब उसी पञ्चपर्वा-विद्या की प्राचीन भावनाओं के प्रतिविम्ब रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं। इसके नाम से तो प्रायः सभी परिचित हैं, पर इनका विषय अवगत नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने इस विद्या का स्पष्ट उल्लेख और पूर्ण विवेचन निम्न मंत्र से दे रखा है :—

१—पञ्चपर्वा विद्या किसे कहते हैं ?

"पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥"

इस पञ्चपर्वा के पाँच पर्वों की गिनती के कई मार्ग हैं, जिनमें से पञ्चनद्यः, पञ्चपशवः, पञ्चर्तवः, पञ्चप्राणाः, पञ्चबुद्धयः, पञ्चचितयः, पञ्चाग्नयः, पञ्चसमुद्राः, पञ्चपर्वताः, और पञ्चवृक्षाः मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक पञ्चक में पूरे-पूरे ५० तत्त्व हैं। प्रत्येक पर्व विद्या में पाँच-पाँच पर्व या गाँठ हैं। प्रत्येक पर्व या गाँठ में दस-दस तत्त्व आते हैं। इनकी गिनती में अङ्गुलिसरणि के दस-दस तत्त्वों के गुच्छे होते हैं। पाँच गुच्छे मिलकर 'ऋतं बृहत्' का पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। ब्रह्म को प्राण, चिति, अग्नि, ऋतु, ज्ञान, अश्म, अश्रु, समुद्र आदि नामों से पुकारा गया है। अश्मवाद पर्वत विद्या में, ऋतुवाद ऋतुओं में, अग्निवाद अग्नियों में, अश्रुवाद नदीवाद में, समुद्रवाद समुद्रों में, ओषधिवाद वृक्षों में, पशुवाद और प्राणवाद प्राणियों में या पुरुषवाद में, ज्ञानवाद बुद्धिवाद में परिणत करके, एक ब्रह्म की व्याख्या को पाँच-पाँच पर्वों में विभक्त करके उक्त पञ्चपर्वा विद्या की नाना रूपों में सृष्टि की गई है।

उक्त सब पर्वत, नदी, वृक्ष, ओषधि और प्राणादिकों की पञ्चपर्वीय सृष्टि उस आदि ब्रह्म से ही मानी गई है, जिसके सैकड़ों प्रमाण हैं। जैसे—

"अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।" (मुण्डक)

२—पञ्चपर्वा का विषय

"तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति॥" (ऋ. वे. १-१६४-४२)

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत॥

अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥"
(ऋ० वे० १०-१९०-१,२,३)

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः ॥"
(ऋ० वे० १०-५-१)

"अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥"
(ऋ० वे० १०-६८-११)

ब्रह्मणस्पति और इन्द्र को पर्वत भेत्ता उक्त और निम्न तथा कई अन्य मन्त्रों में बतलाया है। इन्द्रापर्वतौ नामक देवता तो इन्द्र और पर्वतों का तादात्म्य भी करता है (ऋ० वे० ३-५३)। अतः पर्वत इन्द्र के समान आध्यात्मिक तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। "त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्" (ऋ० वे० ८-९६-२) "त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये।" (ऋ० वे० १०-६४-८) "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद् वसुमन्तं वि पर्वतम्।" (ऋ० वे० २-२४-२) में पर्वतों का भेत्ता ब्रह्मणस्पति भी है। नदियों का भेत्ता इन्द्र है "इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुः" (३-३३-६)। सर्वादेवता सोम को भी समुद्र नाम से पुकारा गया है "त्वं समुद्रिया अपो" (ऋ० वे० ९-६२-२६) "त्वं समुद्रो असि विश्ववित्" (ऋ० वे० ९-८६-२९) अश्विनी की तीन नदियाँ बतलाई हैं "त्रिरश्विना सिन्धुभिः" (ऋ० वे० १-३४-८)। "त्वं सिन्धूँरवासृजो" (१०-१३३-२) मन्त्र तो नदियों के सर्जनहार को ब्रह्म ही बतलाता है। इसका समर्थन ऐ० उप० (१-१) ने—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापोऽदो···शिश्नाद्रेतः रेतस आपः" वाक्य से, छान्दोग्य (६-१०) ने "इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह।" वाक्य से—और बृह० उप० (३-८-९) ने "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां-यां च दिश मनु एति एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः-प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः।" वाक्य से की है।

हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ० वे० १०-१२९-४) ने इसीलिए हिमवान् पर्वत को ब्रह्म का अपना पर्वत बतलाते हुए कहा है "यस्येमे हिमवन्तोः"। शेष उद्धरण अष्टचक्र, सप्तचक्र, षड्चक्र, पञ्चचक्र, चतुश्चक्र और त्रिचक्र वर्णन में पहिले देखें। मैत्रायणी संहिता ने तो पर्वतों को प्रजापति का सबसे ज्येष्ठ पुत्र बतलाया है (मै० सं० १-१०-१३)।

उक्त सब प्रमाण यह सिद्ध कर देते हैं कि वेदों में वर्णित नदी, पर्वत, वृक्ष, वनस्पति, समुद्र, पशु, नाग, ग्रावाण आदि सब वैदिक विश्वदर्शन के मौलिक तत्त्व हैं, इनका विकास वैदिक दर्शन के तत्त्वों का विकास क्रम देता है। इनके ही आधार पर दुर्ग या दुर्गा का शाक्त सिद्धान्त भी स्थापित हुआ था। 'शाक्त' शब्द मण्डूक सूक्त में आता है। दुर्ग का विवेचन निम्न प्रसिद्ध ऋचा देती है

३—दुर्ग और दुर्गा गंगादि की पञ्च-पर्वा विद्या

"जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥"
(ऋ० वे० १-९९-१)

इसी को गीता (अध्या० १८) "मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।" कहती है।

ये दुर्ग वही तत्त्व रूप पर्व या तत्त्व हैं। इन पञ्चपर्वा विद्या के तत्त्वों की गिनती दशाङ्गुलि सरणि से, पुरुष सूक्त या 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' की व्याख्या, 'पुरुष' शीर्षक और प्रथम ऋचाभाष्य में वर्णित रूप से तथा पीछे पञ्चचक्रों के वर्णन में दिये गये उद्धरणों और उदाहरणों के आधार पर 'पञ्चदशेन' (५×१०) की जाती रही। वहाँ पढ़ लें। पञ्चचक्रवाद को इसके साथ पढ़ना समझने के लिए बहुत आवश्यक है। यहाँ पर एक बड़े महत्त्वपूर्ण विषय पर संकेत करना आवश्यक है। हमारी संस्कृति में गंगा नदी के नाम विष्णुपदी, सुरसरी और भागीरथी हैं। यह विष्णुपदी क्यों कहलाती है? विष्णु के तीन पद तो त्रिपादामृत हैं, सप्तकों के तीन पद रूप पूर्वार्द्ध के २३ तत्त्व हैं जिसमें सब देवताओं का क्रमिक विकास होता है। और भग उत्तरार्द्ध का तत्त्व है, रथ पूरा दर्शन है। अतः गंगा नदी जिसको विष्णुपदी, सुरसरी या सुरसरिता या भागीरथी (भग+रथ, तयोर्जाता) कहते हैं; वह निश्चय पूर्वक हमारे दर्शन की तत्त्वविकास-धारारूप नदी है। इसी प्रकार यमुना को आदित्य-पुत्री, और यम की स्वसा कहते हैं। आदित्य और यम दर्शन के तत्त्व हैं, अतः यह यमुना २० वें तत्त्व से प्रारम्भ होनेवाले आदित्यों का विकास बतलाती है, आदित्यों में एक आदित्य यम भी है, अतः यम की स्वसा भी कहलाती है। इसी प्रकार सरस्वती को पूष्णा और वृत्रघ्नी नाम दिया गया है। अतः सरस्वती पूषा तत्त्व (२४ वें) से उत्पन्न होती है; २६ वें में गंगा, यमुना सरस्वती तीनों की त्रिवेणी होती है, जहाँ वृत्रवध होता है। इस भारत की गंगा, यमुना, सरस्वती नदियाँ तो उक्त दार्शनिक तत्त्व विकासधारारूप नदियों के वर्णन की प्रतीक मात्र हैं। उक्त दार्शनिक नदियों का प्रत्येक तत्त्व में विकास ही 'तीर्थ' कहलाता है। अतः लौकिक तीर्थः भी प्रायः नदी, समुद्र; पर्वत और वृक्षादिकों के किनारे या पास ही माने गये हैं, यह अब स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

पञ्चपर्वा विद्या की प्राचीन युग में इतनी अधिक मान्यता थी कि वे इस

विद्या के तत्त्वों के नामों का प्रयोग तर्पण में करते थे, जिस प्रणाली को हम भी आजतक उसी रूप में तर्पण और श्राद्ध में प्रयोग करते हुए भी यह नहीं समझ पाते हैं कि हम क्या कर रहे हैं या कह रहे हैं ? तर्पण में वैदिक कहते थे, हम भी लीक को पीटते हुए कहते जाते हैं।

४—पञ्चपर्वा की महत्ता

"ॐ ब्रह्मा तृप्यताम् ॐ विष्णुस्तृप्यताम् ॐ रुद्रस्तृप्यताम् ॐ प्रजापतिस्तृप्यताम् ॐ देवास्तृप्यन्ताम् ॐ छन्दांसि तृप्यन्ताम् ॐ वेदास्तृप्यन्ताम् ॐ ऋषयस्तृप्यन्ताम् ॐ पुराणाचार्यास्तृप्यन्ताम् ॐ गन्धर्वास्तृप्यन्ताम् ॐ इतराचार्यास्तृप्यन्ताम् ॐ संवत्सरः सावयवस्तृप्यताम् ॐ देव्यस्तृप्यन्ताम् ॐ अप्सरस स्तृप्यन्ताम् ॐ देवानुगा स्तृप्यन्ताम् ॐ नागास्तृप्यन्ताम् ॐ सागरास्तृप्यन्ताम्, ॐ पर्वतास्तृप्यन्ताम् ॐ सरितस्तृप्यन्ताम् ॐ मनुष्या (चतुर्थसप्तक) स्तृप्यन्ताम् ॐ यक्षांसि तृप्यन्ताम् ॐ पिशाचास्तृप्यन्ताम् ॐ सुपर्णास्तृप्यन्ताम् ॐ भूतानि तृप्यन्ताम् ॐ पशवस्तृप्यन्ताम् ॐ वनस्पतयस्तृप्यन्ताम् ॐ ओषधयस्तृप्यन्ताम् ॐ भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम् ।।" (तर्पण और श्राद्धविधिः)।

यहाँ पर जिन-जिनको जलाञ्जलि देने की प्रस्तावना की गई है, वे सब के सब वही और केवल वही वैदिक दर्शन के मौलिक तत्त्व हैं जिनसे यह प्रस्तुत अखिल ब्रह्माण्ड इस स्वरूप को क्रमिक विकासों द्वारा पहिले विवर्तरूप परमाणु तदनन्तर भुवन, लोक और 'जातमिदं जनित्वं' रूप द्वारा प्राप्त हुआ है। इनमें से कोई एक भी इस दृश्य ब्रह्माण्ड की वस्तु या विकृतरूप नहीं है। सब के सब सृष्ट्यादि के मौलिक तत्त्व हैं। इसीलिए इनकी स्मृति का उद्बोधन करने के लिए या वैदिक विश्वदर्शन के तत्त्वों को अमर बनाने के लिए ही इस तर्पण या श्राद्धविधि का आयोजन किया गया था। आज हमारा इतना बड़ाभारी पतन हो गया है कि हम उक्त तत्त्वों के नामों के विषयों को व्यक्त ब्रह्माण्ड या व्यक्त प्रकृति के गहरे कुँए में देखने की चेष्टा में अपने को उस (कुँए) में डूबे पाते हैं। खुली बात है, उसी नदी या सागर के जल से उसी नदी या सागर का तर्पण क्या माने रख सकता है ? पर्वतों, पशुओं, वनस्पतियों के तर्पण का पितरों के तर्पण से क्या सम्बन्ध ? यक्ष और राक्षसों के तर्पण से क्या मतलब है ? इस पर तो कोई सोच भी नहीं देता। यह प्रश्न अवश्य ही युक्ति संगत सा लगता है कि श्राद्ध या पिण्ड पितरों को कैसे पहुंचता होगा। पर पहिले यह तो विदित हो कि श्राद्ध किसे कहते हैं, किस लिए करते हैं ? दूसरे ढंग से क्यों नहीं करते ? जो यह नहीं जानता उसे श्राद्ध या श्राद्धविधि के बारे में बोलने का अधिकार ही नहीं हो सकता। पहिले समझें, तब प्रश्न करें ! संक्षेप में श्राद्धविधि मानव सृष्टि की शैली है। कुश के तीन ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा प्रथम तीन सप्तक के मुख्य ब्रह्मों के प्रतीक हैं, वैश्वदेव चतुर्थ सप्तक के दिव्य शरीर का प्रतिनिधि है। इन्हीं के संकेतक पिण्ड भी बनाये जाते हैं। ये वैयक्तिक हिरण्यगर्भ के प्रतीक हैं। ऋ० वे० १-१०४-

६, ७. में श्रद् नाम तृतीय सप्तक का है, तृतीय सप्तक प्राणाग्नियों का है, वही इन्द्र का भी है, जो श्रद नामक प्राणों को धारण करता है वह श्रद्ध या श्रद्धा या वाक् या दिव्य शरीर, भौतिक पिण्ड या अणु है। जो व्यक्ति इस श्रद् 'श्रद्ध' या श्रद्धा (वाणी रूप) दिव्य शरीर का ज्ञान रखता है या रखना चाहता है या इसका अभिनय करता है उसका या उस क्रिया का नाम श्राद्ध है। अतः श्राद्ध तो वैदिकों का दुधारू और दुधारी दर्शन है, इससे अपने निजी पूर्वजों की स्मृति के साथ, आदि कालीन वैदिक ऋषियों के ज्ञान और विज्ञान दोनों की दिव्य ज्योति भी मिलती है। (शेष 'श्रद् , श्रद्धा, श्राद्ध' शीर्षक में देखें)। इसीलिए ब्रह्म का नाम पिता, ५० तत्त्वों का नाम पितर है जिनका कई प्रकार का विभाजन है (पितर शीर्षक देखें)। यही पिता क्रमशः पुत्र रूप में प्रस्तुत होता है 'सः पिता सः पुत्रः' और इसी पिता को पञ्चपदी कहा गया है।

५—पञ्चपर्वा के पञ्चपर्व

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव
आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं
सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१२)

इन्हीं पञ्चपादों को पञ्चारचक्र के नाम से पुकारा गया है
"पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥"

(ऋ० वे० १-१६४-१३ अथर्व ९-९-११) अन्यत्र इनको केवल पञ्चपदानि नाम से पुकारते हुए लिखा है।

"पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि॥"
(ऋ० वे० १०-१३-३ अथर्व १८-३-४०)

यहाँ पर सबसे बड़ी बात जो कही गई है वह है 'अक्षरेण प्रति मिम' कि पञ्चपदी या चतुष्पदी का निर्धारण छन्दों के अक्षरों से किया जाय जैसा कि ऐ० ब्रा० (३-२-२२) लिखता है "देवता अक्षरभाजः करोत्यक्षरमक्षरमेव तद्देवता"। छन्दों का प्रत्येक अक्षर एक देवता का प्रतीक है। जिसको यहाँ पर पञ्चपादं, पञ्चपदानि या पञ्चार चक्र नाम से पुकारा गया है, उन्हीं का एक नाम पञ्चजनाः भी है। पञ्चजनाः पञ्चमसप्तक और आर्यों की पाँच जातियों के भी नाम हैं, पर यहाँ पर नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण अदिति पञ्चजनाः रूप में पञ्चपर्वा विद्या रूपिणी भी है। इस अदिति के दो मुख्य भाग भी हैं, अदिति, दिति (पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध) या 'अदिति' और 'अदिति, दिति'। दोनों अदिति अदिति ही हैं। क्योंकि पूर्वार्द्ध की अदिति से २४ वां तत्त्व दक्ष उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न होने वाले आगे के सभी शेष तत्त्व भी इसी अदिति के नाम से पुकारे जाते हैं, 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' (ऋ० वे० १०-७२-४) इसका इतना ही सीधा अर्थ है।

दक्ष से आगे की अदिति का नाम दिति भी है "आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे आदितिं दितिं च ।।" (ऋ० वे० ५-६२-८) 'दितिं च रास्वादितिमुरुष्य' (ऋ० वे० ४-२-११) । प्रथम मन्त्र में वरुण और मित्र नामक २४ वें तत्त्व से प्रार्थना की गई है कि तुम गर्त नामक या विषुवद् रेखा वाची २५ वें २६ वें तत्त्व पर आरोहण करो वहां से तुम दोनों अर्द्धों को या पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के पूरे पूरे तत्त्वों को या अदिति और अदिति-दिति को देख सकोगे। द्वितीय में 'दिति भौतिक है, अतः उसे दूर करो, अभौतिक ब्रह्म को हृदयंगम करो' कहा है। व्याख्याकारों और अनुवादकों में से किसी की भी समझ में यह अदिति नहीं आई है। अदिति माने 'केवलम्' 'एकम्' अन्नमय-रस ब्रह्म या अग्निमय ब्रह्म आदि है। इसी से अग्नि, अन्न, आदित्य, अतिथि, अत्रि, अजा आदि वैदिक शब्द भी सम्पन्न हुए हैं। अदिति का नाम ऋग्वेद में ८० बार और दिति का केवल तीन बार आता है।

चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या के अवसर पर यह स्पष्टतया निर्णीत किया जा चुका है कि जिसे यहां पञ्चपदं, पञ्चपादं या पञ्चार या पञ्चपर्वा कहा जा रहा है उसी को दूसरे प्रकार की विद्याओं में सप्तचक्रं, सप्तसप्तकं, सप्तधामानि, सप्तपुरुषं या ब्रह्म को मिला कर अन्य विद्याओं में अष्टचक्रं, अष्टधाम, अष्टौलोकाः आदि भी कहा है। और प्रथम चार सप्तकों या गायत्रीपादों को क्रम से पिता, पितामह, पुत्र और पौत्र नाम से पुकारा गया है "तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते" (श० प० ब्रा० ६-१-२-१३) और विकास परम्परा में "स एष पिता पुत्रः" (श० प० ब्रा० ६-१-२-२६) को प्रायः जानते सब हैं, पर उसका अर्थ लौकिक या दृश्य सृष्टि में लगा कर भूल करते हैं। यहां तो आदि सृष्टि की बात है, पौत्र दिव्य शरीर रूप प्रथम भौतिक अणु का प्रथमोदय मात्र है। इनका विशद विवेचन वहीं देखें। प्राचीन काल में कर्मकाण्ड कोई भी हो, वह ज्ञान काण्ड को समझाने के लिए किया जाता रहा। इसका प्रमाण भी ऋग्वेद ही से लीजिए—

"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ॥
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥"
(८-५८-१, २)

इसमें सचेतसो, 'अनूचानो' 'ब्राह्मणो' 'युक्तः' और 'संविद्' शब्द ध्यान देने योग्य हैं कि कर्मकाण्ड खुली आखों से या ज्ञान चक्षुओं से होता रहा, उसे अनूचान युक्त ब्राह्मण (दार्शनिक) ही कराते रहे, उसका फल 'संवित्' परम ज्ञान ही होता था; उसका कुछ रूप दूसरी ऋचा में दिया गया है 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'। इसीलिए यज्ञों की सफलता तब तक नहीं समझी जाती रही जब तक उसका संचालक कोई अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण न होता था, यह तो प्रथम खण्ड में विस्तार पूर्वक बताया जा चुका है

पर्व विद्या हमारे जीवन के पर्वों का भी निर्धारण करती है। जितने तत्त्व हैं उतने वर्ष में मनुष्य का ज्ञान परिपक्व होता है। अतः जनश्रुति चली आती है कि वेदों का ज्ञान बारह-बारह वर्ष प्रत्येक वेद के अध्ययन से ४८ वर्ष में हो सकता है। इस ज्ञान में पर्व या स्तर हैं। प्रथम आठ वर्ष ब्रह्म के हैं, एकमय के हैं, उन्हें हम 'अबोध' काल या बाल कहते हैं। नवम वर्ष में जीवात्मा का स्फुरण होता है तो कहते हैं, अब चेतना आने लगी। इस समय बालक पितामह के बीजों को पुष्ट करता है, पन्द्रहवें वर्ष में बालक प्रौढ़ या तेज युक्त होने लगता है। तब उसमें अपने देह (पुत्र) के अंगों का विस्फुरण होने लगता है; २३ वें वर्ष में वह परिपक्व हो जाता है, २४ वें में सांसारिक और २५ वें में एक के दो होने की, २६ वें में तीन की, पौत्र प्राप्ति की इच्छा करता है। यह सब स्वाभाविक प्रवाह है। अन्तर इतना है। स्त्री में स्त्रीत्व भावना नवें वर्ष में जाग्रत हो जाती है तो पुरुष में २० वें, प्रथम आदित्य के उदीयमान वर्ष में। राजघरानों में कई वंश निर्वंश इसलिए हो जाते हैं कि उनकी सन्तानें २० वर्ष से पहिले ही उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी सन्तानों के पिता में 'पुत्र' तत्त्व को प्रौढ़ता नहीं मिलती, अतः उसके बीज कमजोर होने से गर्भ में नहीं जम सकते। क्योंकि वे उगने योग्य होने से पूर्व ही बोये जाते हैं। जिन साधारण घरानों में लड़की छोटी अवस्था में गर्भवती होती है, उसके पुत्रों में भी सन्तान कमजोर ही रहते हैं। अतः वे भी निर्वंश हो जाते हैं।

६—पञ्चपर्वा और हमारे पर्व

यह पर्व विद्या जीवन की दूसरी पहेली को भी सुलझाती है। मनुष्य का शरीर आधा या तिहाई पर्व है, उसकी पूर्णता स्त्री तथा सोम (वनस्पति-खाद्य पेय) से ही हो सकती है। स्त्री को हमारे यहां इसी लिए ईश्वरीय संयोग माना जाता है, विवाह को धार्मिकता की मोहर लगाते हैं। स्त्री-पुरुष संयोग ही अर्द्धनारीश्वर है। इसी लिए वर के स्वागत में हमारे यहां कहा जाता है "अथ वरं वृणीते" इत्यादि। यहां पार्थक्य से एकत्व की ओर–आश्रम से समाज की ओर–आने का आह्वान है। और यहां का कर्मकाण्डीय 'वर' तो विष्णु या सविता है, उससे कन्या को सम्बद्ध कर देने से या दोनों के सम्मिलन से सोम या चन्द्र या दिव्य शरीर की अर्द्ध-नारीश्वरीय एक रूपता का सच्चा नाटक खेला जाता है।

७—पञ्चपर्वा और स्त्री

समस्त हिन्दू समाज, सारी हिन्दू संस्कृति, और सारी हिन्दू विचार धारा, इसी महती पर्वा विद्या के पर्वों से बड़ी जटिलता से जकड़ी हुई है। हमारा सबसे बड़ा पर्व तो अर्द्ध-कुम्भ है, फिर कुम्भ, तदनन्तर चन्द्र और सूर्य पर्व, तदनन्तर दर्श पूर्णमास, और नवरात्र, फिर प्रत्येक तिथि जिनमें प्रतिपद्, पञ्चमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी मुख्य हैं। अर्द्ध कुम्भ और कुम्भ क्या हैं, यह तो अब सब भूल गये हैं और गंगा किनारे कहीं मुख्य स्थान में नहाने के माने यह माना और समझा जाता है। पर्वविद्या के कई अंग हैं

८—पञ्चपर्वा और हमारे मेले त्यौहार

जिसमें एक नदी विद्या है। ब्रह्म को गंगा नदी माना गया है। गंगा माने 'गच्छन्ती गायतीति' वा 'गच्छन्त्यो गावो वा' 'गायत्री रूपेण इमांल्लोकान् गच्छतीति वा' 'गोरूपेण इमान् लोकान् गच्छतीति वा' है, जिसे अब सब भूल गये हैं। फलतः गंगा शब्दमय संगीतमय शब्द ब्रह्म है, उसके तीर्थ ब्रह्म विकास की सीढ़ियाँ हैं। अर्द्धकुम्भ २५ वें तत्त्व में प्रस्तुत होता है। २५ वें तत्त्व का नाम द्रोण कलश भी है जिसका अभिनय कर्मकाण्ड में कलश स्थापना द्वारा भी किया जाता है। उसी का बृहत्स्वरूप अर्द्धकुम्भ स्नान है। अर्द्धकुम्भ-ज्ञान दिव्यशरीर का ज्ञान है। पूर्णकुम्भ पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड है, ५० वाँ तत्त्व है। प्रथम में ब्रह्म या बृहस्पति 'चित्रामघा' या सिंह में रहता है द्वितीय में उत्तरा या कुम्भ में। आजकल भौतिक बृहस्पति से भौतिक कुम्भ मनाये जा रहे हैं, उनमें उस आध्यात्मिकता का लवलेश भी नहीं जिसे लेकर इनकी अवतारणा की गई थी; चन्द्र-सूर्य-पर्व को हम लोग देखने के आदी हैं, ठीक यही स्थिति तब उत्पन्न हुई थी जिस स्थिति के वर्णन में ऋषियों ने इन्द्र-वृत्र के युद्ध का वर्णन किया है। जब सृष्टि अपने २५ वें तत्त्व पर थी, उस समय सूर्यपर्व सा हुआ था। बृहदारण्यक का वाक्य है। "तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताँ समभवत् ततो मनुष्या अजायन्त।" (१-१-४-३) तिलक महोदय ने पर्वविद्या के ज्ञान के अभाव में वेद के उक्त आध्यात्मिक सूर्य ग्रहण के वर्णन को भौतिक सूर्य ग्रहण समझ कर वेदों के समय को निर्धारण करने की जो चेष्टा की थी उसे गणित से भी डा० तारापोरेवाला ने खण्डित कर ही दिया है, पर बात यह है, यह गणित ठीक बैठ ही कैसे सकता था ? यहाँ तो आध्यात्मिक विवेचन हो रहा है कि ब्राह्म मण्डल भौतिक मण्डल से आच्छादित सा दीखता है, है नहीं, ग्रहण की तरह। यहाँ उपमा अनुपम है।

"यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्य न्ये अशक्नुवन्॥"
(ऋ० वे० ५-४०-९)

यहाँ अत्रयः २४ वें तत्त्व हैं, शुद्ध ब्रह्म हैं।

पर्वविद्या का सम्बन्ध जब तिथि, मास, वार, अयन, ऋतु आदि से रहता है तब उसका तात्पर्य संवत्सर ब्रह्म विद्या की व्याख्या होताहै। दर्शयाग, पितृयाग

९—पञ्चपर्वा तथा संवत्सर ब्रह्म के यज्ञ

पूर्णमास याग में कुल ३३ देवों की और साथ पितरों की उपासना होती है, इसी के दो अन्य भेद राजसूय और वाजपेय भी हैं। पौर्णमासी प्रथम और २६ वां तत्त्व है; दर्शमास २६ वें से ४८ वें तक*। रुद्र नवमी है; सविता या विष्णु एकादशी (२६ वाँ), वही आठवाँ आदित्य है 'आदित्यानामहंविष्णुः' (गीता १०)।

---

*'अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू' शीर्षक देखें। †यमुना माने 'यमेन ऊना यमुना' है अर्थात् जो यम से छोटी बहन है, वह यमुना है।

अतः कृष्ण जन्म अष्टमी अर्द्धरात्रि रोहिणी नक्षत्र में, सब २६ वें में मिलते हैं। दुर्गा या सरस्वती के पर्व शब्द ब्रह्म के 'वाणी' रूप के पर्व या विकास हैं। वे भी ५० ही हैं। जितने देव उतनी देवियाँ, स्वतन्त्र भी साथ भी। वाणी का आदि नाम 'श्री' है। अन्य नाम उसकी व्याख्यायें करते हैं। अहोरात्र मार्ग भी पर्व विद्या है, नक्षत्र विद्या भी पर्व विद्या है, इसका वर्णन 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या-वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्' (यजु० ३१-२२) इत्यादि में स्पष्ट मिलता है। अयनवाद ५० तत्त्वों को दो भागों में विभक्त करता है। पूर्वार्द्ध के २५ तत्त्व उत्तरायण और शुक्लपक्ष कहलाते हैं। उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्व दक्षिणायन और कृष्णपक्ष कहलाते हैं। गीता ने आठवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों में इन्हीं का वर्णन दिया है "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्......धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्......(८-२४-२५-२६)। प्रत्येक अयन में २७ नक्षत्र होते हैं। २५ वाँ तत्त्व अश्विनौ है। इससे उलटे-सुलटे नक्षत्रों की स्थापना तत्त्व संख्याक्रमानुसार की जाती है, 'पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ' का यही अर्थ है। ऋतुओं में शिशिर से, मासों में माघ से सम्वत्सर ब्रह्म का विकास माना जाता है, वसन्त प्रथम, ग्रीष्म द्वितीय सप्तक है, वर्षा तृतीय, शरद् हवि रूप चतुर्थ सप्तक या चतुर्थ ऋतु है। क्योंकि वेदों में सात तक ऋतुयें मानी गई हैं। मास दोनों अयनों में बारह बारह हैं, अधिमास मिलाकर तेरह भी होते हैं, कुल बारह भी, क्योंकि अहोरात्र सिद्धान्त दो प्रकार का है। एक मत में पूर्वार्द्ध में ३६० दिन होते हैं, उत्तरार्द्ध में ३६० रात्रि। दूसरे मत में दोनों अर्द्धों में कुल ७२० दिन-रात होते हैं। पर एक साथ सम्मिलित। तिलक महोदय ने उक्त तत्त्वों के अयन वृत्त वाची छह-छह महीने की दिन रातों के वर्णन के आधार पर 'ओरायाँ' नामक ग्रन्थ में वैदिक आर्यों के आदि निवास की कल्पना उत्तरी ध्रुव प्रदेश की है। क्योंकि वहाँ सदा छह-छह महीने के दिन-रात होते हैं। उत्तरीध्रुव का ज्ञान हमारे आर्यों को रहा होगा इसमें सन्देह नहीं। पर यहाँ तो तत्त्वों का विभाजन है, सृष्ट्यादि के तत्त्वों का विभाजन है, जिनसे अन्त में केवल एक परमाणु बनता है। ऐसे परमाणु निर्माणकर्त्ता तत्त्वों के अयनों का हमारे लौकिक अयनों या उत्तरीध्रुव के छह-छह महीने की दिन-रात से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं।

देवताओं का एक नाम 'सुपर्वाणः' इसी पर्वविद्या के आधार पर पड़ा है, "चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः" (ऋ० वे० १०-७९-७) 'पर्वशश्चकर्त गामिवासिः' (ऋ० वे० १०-७९-६)। सृष्टि वृक्ष के ५० तत्त्वों में प्रत्येक एक पर्व या गांठ है, वही तत्त्व एक देवता के नाम से भी पुकारा जाता है। अतः उन तत्त्व रूप देवताओं को सुपर्वाणः कहते हैं। इस पर्वविद्या का महत्त्व वैदिक स्वयं नहीं छिपा सके। वे कह गये हैं।

१०—पञ्चपर्वा और पर्वत

"न तद्दिवा न पृथिव्यानु मन्ये न यज्ञेन नोत शमीभिराभिः। उब्जन्तु तं सुभ्वः पर्वतासो नि हीयतामतियाजस्य यष्टा।" (ऋ० वे० ६–५२–१) कि वैदिक दर्शन की व्याख्या जितनी गम्भीरतया पर्वत विद्या से की जा सकती है वह यज्ञ, पृथिवी, दिव आदि विभाजनों द्वारा नहीं हो सकती। प्रत्येक पर्व एक पर्वत है, प्रत्येक सप्तक एक पर्वत श्रेणी है। प्रत्येक पर्वत श्रेणी से एक-एक मुख्या नदी (वाक्) का उद्गम होता है। पर्वतों और सोम को ग्रावाण देवता के नाम से पुकारा गया है। प्रत्येक पर्वत श्रेणी में दस-दस तत्त्वों का संकेत करती हुई यह ऋचा कितनी स्पष्ट है।

"दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥"
(ऋ० वे० १०-९४-७)

यहां पर 'अवनि' माने अङ्गुलि है। और प्रथम 'दशावनिभ्यो' शब्द तत्त्वों की संख्या या क्रम अङ्गुलि शरणि से देने की सूचना देता है। अंगुली शरणि में दस-दस तत्त्वों के गुच्छे होते हैं। आगे अधिक स्पष्टतया लिखा है कि प्रत्येक पर्वत दस तत्त्वों का है जैसे—

"ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम्।
ते ऊ सुतस्य सोम्यस्यान्धसोंऽशोः पीयूषं प्रथमस्य भेजिरे॥"
(ऋ० वे० १०-९४-८)

कि प्रत्येक पर्वत दस तत्त्वों का है, और इन्हीं पर्वतों ने प्रथम या आदि ब्रह्म के अमृत रूप सोम को सबसे पहिले पान करने का श्रेय लिया। सबसे प्रथम पर्व या पर्वत हेमाद्रि पर्वत है। उसकी ऋतु शिशिर और अधिष्ठाता देव या तत्त्व बृहस्पति है, जिसके वर्णन में ऋग्वेद लिखता है।

"हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥"
(१०-६८-१०)

"बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥"
(ऋ० वे० १०-६८-७)

हेमाद्रि के हिम से अग्नि की उत्पत्ति बतलाते हुए निम्न ऋचा कहती है।
"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।"
(ऋ० वे० १-११६-८)

इसी को हिरण्यगर्भ सूक्त में 'यस्येमे हिमवन्तो' 'जिसके हिमालय पर्वत हैं' लिखा है। यह हेमाद्रि पर्वत १० तत्त्वों तक है, १० से २० तक के तत्त्व 'रत्नसानु' कहलाते हैं, जिसे ऋग्वेद की प्रथम ऋचा 'रत्नधातमम्' नाम से पुकारती है। इन्द्र इसी पर्वत का वासी है। वह इन्हीं से विपाट्, शुतुद्री नदियों की सृष्टि करता

है 'इन्द्रो अस्म अरदद्वज्रबाहुः' इत्यादि देखें (३-३३-६)। २० वें तत्त्व से ३० वें तक सुमेरु पर्वत है। इन्हीं के मध्य २५ वें तत्त्व में सूर्य नामक तत्त्व का उदय होता है, २६ वें में चन्द्र नामक तत्त्व का। ३० वें से ४० तक १० तत्त्वों का मेरु पर्वत है, और ४० वें से ५० वें तक सुरालय नाम का पर्वत। जहां पर सप्त पर्वतों की चर्चा आती है वहां ये सात पर्वत सात सप्तकों या अष्ट चक्रों या षडष्टकों के सूचक होते हैं।

११—पञ्चपर्वा और वृक्ष, नदी, सागर

इसी प्रकार पाँच वृक्ष, पाँच नदियों और पाँच सागरों का विभाजन है। पाँच वृक्ष क्रम से मन्दार (१०) पारिजातक (परिजात वेदाग्नि द्वितीय सप्तक है, उसी से पारिजातक नाम पड़ा); (१०) सन्तानः (तृतीय-चतुर्थ सप्तक पुत्र और पौत्र के हैं। अतः इसका नाम सन्तान वृक्ष पड़ा)। (१०); कल्प वृक्ष (पञ्चम, षष्ठ सप्तक सहस्रशीर्षा और विराट् पुरुष); (१०) हरिचन्दन ४० वें से ५० वें तक के तत्त्वों का नाम है। इसी प्रकार पाँच सागर-क्षीर सागर (१०) पीत सागर (१०) मधु सागर (१०) सोम सागर (१०) कृष्ण सागर हैं; पाँच नदियाँ—गंगा, यमुना, सरस्वती, विपाट्, शुतुद्री हैं। गंगा प्रथम १० या विष्णु के प्रथम पद से निकलती है, यमुना आदित्य पुत्री है। अतः २० वें में प्रकट होती हैं; सरस्वती को पूष्णा कहते हैं; अतः २४ वें में उत्पन्न होती है, तब क्रम से विपाट् और शुतुद्री। "पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित्।" (यजु. ३४-११) जहाँ सात नदी, सागर, वृक्षादि का वर्णन आता है वहाँ वे सब सात सप्तकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह ध्यान रहे कि प्राकृतेय नदी, पर्वत, वृक्ष, सागर आदि तो केवल रहस्य के आधारभूत प्रतीक मात्र हैं। इसीलिए लोगों को इस लोक में न तो सुमेरु और मेरु मिलते हैं, न त्रिवेणियों में सरस्वती, मन्दारादि वृक्ष और क्षीरादि सागर।

१२—पञ्चपर्वा और कूटस्थ

ब्रह्म का नाम 'कूटस्थ' है, यह नाम पर्वत विद्या का है। मै० सं० १-१०-१३ में पर्वतों के उड़ने और इन्द्र द्वारा उनके पर काटने की कथा देते हुए पर्वतों को प्रजापति का सबसे ज्येष्ठ पुत्र कहा है। ब्रह्म हेमाद्रि हेम ही हिम है, अतः हिमाच्छादित है, हिरण्यगर्भ है, और अनन्त चोटियों वाला या अनन्त मुख है, विश्वरूप धारी है; अतः ब्रह्म को कूटस्थ चोटी का तत्त्व तथा हमारे लिए अविद्या रूप हिम से आच्छादित सा माना गया है, वहीं से दर्शन की सहस्रों धारायें स्वभावतः प्रस्फुटित होती बतलाई गई हैं। यही 'कूटस्थ' 'अक्षर' ब्रह्म कहलाता है, 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' 'अक्षरं ब्रह्म परमं' (गीता)। इसीलिए मुण्डक और नारायण उपनिषद् लिख गये हैं "अतः समुद्रा गिरयश्चसर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।" एक बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ भौगोलिक नदियाँ समुद्र में गिरती हैं वहाँ ये दार्शनिक नदियाँ ब्रह्म रूप समुद्र से निकलती हैं, प्रलय में ही इनका जल उलटे समुद्र में बहता है। इन्हीं नदियों को श्वेताश्वतर 'पञ्चस्रोतोऽम्बुम्' नाम से

पुकारता है। 'पञ्चयोनि' में 'पुरुष पशु, गौ, अश्व, अवि, अजा' हैं, पञ्चावर्त पञ्च समुद्र हैं, पञ्चप्राण-प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान हैं, येही पञ्चबुद्धियाँ हैं, 'पञ्चदुःखौघ' पञ्चवृक्ष या सन्तान मार्ग हैं। ये सब के सब ५०,५० प्रकार के हैं।

उक्त पर्वों के दो मुख्य भाग किये गये हैं, प्राचीन पर्वत और अधराचीन पर्वत जैसे "स प्राचीनान्पर्वताँ दृंहदोजसाधराचीनमकृणोदपामपः।" (ऋ० वे० २-१७-५)। ये भाग वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध हैं। उत्तरार्द्ध २६ वें वृत्र से 'अप तद् ववार' कहा गया है। वही यहाँ पुष्ट किया गया है। इन पर्वतों का भेत्ता आदि में ब्रह्मणस्पति कहा गया है; फिर इन्द्र। "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद वसुमन्तं वि पर्वतम्" (ऋ० वे० २-२४-२)। उसी पर्वत के अश्म से अग्नि का भी विकास किया गया। वही पुरोहित भी कहलाता है; "ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्।" "सः सन्नयः स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः" (ऋ० वे० २-२४-७,९)। इसी ने नदी, समुद्र भी रचे, जैसे "अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्। तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्" (२-२४-४)।

१३—पञ्चपर्वा और पर्वतों के दो प्रकार

अन्त में यह निश्चय पूर्वक जान लीजिए कि हमारी संस्कृति का कम से कम आधा भाग इन्हीं पञ्चपर्वा विद्याओं की मूल भित्ति पर आधारित है। हमारी मूर्त्त पूजा का मूल आधार भी यही है। सुमेरु और पर्वत की स्फटिक शिला ही ग्रावाण देवता हैं; उसी से प्रस्तर मूर्त्ति मान्य हुई।

———

अध्याय १०

अष्टौ लोकाः

वैदिक दर्शन के तत्त्वों के निर्णय के तुरन्त पश्चात् 'अष्टौ लोकाः' के भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् और ब्रह्म के क्रमिक स्थान का निर्धारण करना परम आवश्यक है।

१—अष्टलोक कौन हैं?

'अष्टौ लोकाः' वेही आठ लोक हैं जिन्हें अष्टचक्रवाद में आठचक्र या सप्तचक्रवाद में ब्रह्म को मिलाकर (सात+१) आठ चक्र कहा गया है। इन लोकों में से प्रत्येक के सैकड़ों नाम हैं जिन्हें उन्हीं के व्याख्यान में वहीं विस्तार पूर्वक सोद्धरण दिया जा चुका है। इन नामों में से 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' और आदि ब्रह्म नामक आठ लोकों के नाम सर्व-प्रसिद्ध हैं। इनमें से, आजकल की वैदिक विद्वन्मण्डली 'भूः' लोक को यह हमारी मिट्टी की पृथिवी, भुवः को मध्याकाश, स्वः को ऊर्ध्वाकाश और महः, जनः आदि को क्रम से ऊपर-ऊपर मानती आ रही है, यह भूल है।

२—सृष्टिवृक्ष का स्वरूप

वैदिक आर्यों ने अपने दर्शन या ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में सृष्टि को एक कल्पवृक्ष के रूप में प्रतिपादित किया है। यह सृष्टिवृक्ष, हमारी इस मिट्टी की पृथिवी में उगे वृक्ष से एकदम उलटे उगा है। अतः इसे 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' या 'तिर्य्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' या 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' कहते हैं। अतः जिस भूमि में यह सृष्टि का कल्पवृक्ष उगा है, वह भूमि हमारे पावों तले न होकर हमारे सिर की ओर ऊपर या ऊर्ध्व की ओर है। मनुष्य का शरीर भी 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' ही है। हमारा सिर, हमारा मूल या जड़ है, हमारे पाँव हमारे उस शरीर वृक्ष की शाखायें हैं। ऋ० वे० ने इस सृष्टि वृक्ष की चर्चा दो स्थलों (१०-३१-७ और १०-८१-४) में निम्न ऋचा से की है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। सन्तस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त।" कि वह कौन वन था और कौन वृक्ष था जिससे द्यावाभूमी या दर्शन के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध की रचना की गई थी……। यही वेद वृक्ष भी है, ब्रह्म वृक्ष भी है। अतः वेदों की भी शाखाप्रशाखायें हैं, सृष्टि वृक्ष के विकास की शाखा प्रशाखायें भी हैं। अब प्रश्न उठता है कि इस वृक्ष को उगाने वाली भूमि कौन सी हो सकती है? जब हम समस्त वैदिक वाङ्मय को इसी सृष्टि कल्पवृक्ष के रूप में प्रतिपादित पाते हैं और सृष्टि का आरम्भ ब्रह्म से करते हैं तो इस सृष्टि कल्पवृक्ष को उगाने या उगने का स्थान केवल ब्रह्म या

अक्षर ब्रह्म ही हो सकता है। और वही ब्रह्म या अक्षरब्रह्म ही इस सृष्टि के कल्पवृक्ष की 'भूः' या भूर्लोक है। इसीलिए उस लोक का नाम भूर्लोक रखा भी है कि सृष्टिवृक्ष उगने की समासोक्ति पूर्णता प्राप्त कर सके।

दूसरी बात जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है, यह है कि वैदिकों ने पृथिवी, भूमि, उर्वी, भूः आदि शब्दों का प्रयोग भी हमारी इस मिट्टी की पृथिवी के अर्थ में नहीं किया है। भूः शब्द तो केवल ब्रह्म और सप्तक है, और पृथिवी आदि शब्द सदा ही चतुर्थ सप्तक या चतुर्थ सप्तक से आरम्भ होनेवाले उत्तरार्द्ध के ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे द्यावाभूमी, द्यावापृथिवी इत्यादि में द्यावा पूर्वार्द्ध है, पृथिवी या भूमि उत्तरार्द्ध। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त (अध्याय १२) इसी उत्तरार्द्धीय दर्शन चक्र की व्याख्या देता है।

३—वेदों में भूर्भुवः, स्वः प्रथम शब्दों के प्रयोग किस लोक के लिए हैं ?

एक और बात देखने में आती है जिस प्रकार द्यावापृथिवी पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के जोड़े के प्रतिनिधि हैं वैसे ही 'भूर्भुवः' ये दो शब्द भी दर्शन चक्र के उन्हीं विख्यात पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के सूचक हैं, जिससे 'भूः' लोक का स्थान नितान्त ही पूर्वार्द्ध में ही रहता है। अवश्यमेव यहाँ पर 'भुवः' उत्तरार्द्ध का संकेतक हो जाता है; पर यह 'भूर्भुवः' जोड़े की वैसी ही पारिभाषिकता है जैसे द्यावापृथिवी के पृथिवी शब्द की। इनके प्रमाण ये हैं।

४—भूः और भुव

"भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥"
(ऋ० वे० १०-७२-४)

इसमें भूः पूर्वार्द्ध का वाचक है और भुवः उत्तरार्द्ध का। अतः भूः को उत्तानपद प्रथम चमस से उत्पन्न और भुवः तत्त्व आशा या दिक् रूप में उत्पन्न हुआ कहा है। दिशा का जन्म उत्तरार्द्ध में पुरुष के पादों से चतुर्थपाद में होता है; "पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्" (पुरुष सूक्त)। और उक्त ऋचा की पहिली ऋचा भी पूर्वार्द्ध के असत् नामक तत्त्व से उत्तरार्द्ध के सत् नामक तत्त्व की उत्पत्ति बतलाते हुए उसी से 'आशा' तत्त्व का उद्भव बतलाते हुए कहती है "देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत। तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥" (ऋ० वे० १०-७२-३)। इस 'भुवः' तत्त्व के बारे में अन्य भी प्रमाण मिलते हैं जैसे—

"भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः॥
"भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्॥"
(ऋ० वे० १०-८-५,६)।

इन ऋचाओं में जिन तत्त्वों को भुवः का प्रतिनिधि बतलाया है वे सब के सब या तो चतुर्थ सप्तक या उत्तरार्द्ध के प्रथम सप्तक के हैं या उत्तरार्द्ध मात्र के; जैसे चक्षुः, महः, वरुणः, यज्ञः, रजः इत्यादि। और इस भुवः को दिव नामक

तृतीय सप्तक को सिर में रखने वाला भी कहा है, तथा अग्नि की जिह्वा भी बतलाया है। ये सब 'भूर्भुवः' को द्यावापृथिवी के समान दर्शन के दो भागों में, या पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में स्पष्टतः बाँटते हैं। यहाँ भी ये शब्द पारिभाषिक ही हैं; लोक वाची से कुछ भिन्न हैं, पर हैं उसी मार्ग में। इन दो भागों में चतुर्थ सप्तक मध्य-वर्ती है और भूर्भुवः, स्वः पूर्वार्द्ध में; जनः, तपः, सत्यम् उत्तरार्द्ध में। अतः 'त्रिपूर्वान् त्रिरुत्तरान्' कहा है। संवत्सर ब्रह्म देखें। यह भी लिखा है कि दोनों भागों में बराबर लोक हैं; जैसे 'यावन्त इमे लोका ऊर्ध्वास्तावम्तस्तिर्यञ्चः' (ताण्ड्य १८-६-३)

परन्तु दर्शन के क्षेत्र में सप्तलोकों या अष्टलोकों के वर्णन में भूर्भुवः, स्वः, महः' ये चार लोक तो क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पद या सप्तक के ही लिए सर्वत्र प्रयुक्त किये गये हैं। इनमें सर्वप्रथम लोक

५—भूर्लोक ब्रह्मलोक है

ब्रह्मलोक के पश्चात् भूर्लोक ही आता है; तदनन्तर क्रम से भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् आदि। सबसे पहिले श० प० ब्रा० (११-१-६-३) ने स्पष्ट लिखा है कि सर्वप्रथम भू तत्त्व उत्पन्न हुआ वही पृथिवी कहलाया, तदन्तर भुवः, वह अन्तरिक्ष हुआ, फिर स्वः जो दिव हुआ। यही क्रम सप्तकों या पदों का भी है। जैसे—"स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत्सेयं पृथिव्यभवद्भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत्स्वरिति सासौ द्यौः।" इस उद्धरण में भूः के बदले पृथिवी शब्द प्रथम सप्तक ही के लिए आया है न कि हमारी मिट्टी की पृथिवी के लिए इसका निर्णय निम्नलिखित तीन उद्धरण स्वयं कर देंगे। सबसे पहिले तैत्तिरी उप० (१-५) का उद्धरण लीजिए—

"भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः[१] तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। महाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः[२]। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः[३]। मह इत्यादित्यः[४]। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः[५]। भुव इति वायुः[६]। सुवरित्यादित्यः[७]। मह इति चन्द्रमाः[८]। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म[९]। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्[१०]। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः॥"

इस उद्धरण में प्राण, अपान, व्यान और अन्न तथा ऋग्यजुःसाम ब्रह्म नामक भेद तथा महर्लोक के लिए ॐ, सूर्य (आदित्य) ब्रह्म, (अत्रि) अन्न, चन्द्रमा आदि नाम प्रत्यक्ष रूप से प्रथम चार सप्तकों के क्रम को अवि-

६—षडुर्वी कौन हैं ?

च्छिन्न रूप से दे रहे हैं। बात तो यहाँ तक आगे बढ़ी हुई है कि वैदिकों ने प्रत्येक सप्तक या षडष्टक को षड्चक्र व्याख्या में षडुर्वी कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक लोक सृष्टि वृक्ष की

---

[१] व्याजिहीर्षत्। [२] ब्रह्मलोकः। [३] दिवः। [४] सूर्यः। [५] ब्रह्म। [६] द्वितीय सप्तक। [७] सूर्यः तृतीयोत्पन्न। [८] सोम। [९] अत्रिः। [१०] सोम।

भूः भूमिः, पृथिवी या उर्वी है जिसमें वह "काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि' क्रम से क्रमशः आगे-आगे उगता, बढ़ता फैलता-फूलता चला जाता है। जैसे इनको ऋग्वेद षडष्टकों में विभक्त करते हुए षडुर्वी नाम से पुकारता है "त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत्" (१०-१४-१६) 'षड् भाराँ एको अचरन्बिभर्त्यृतम्' (३-५६-२) तिस्रोभूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून्' (२-२७-८)। अथर्व भी लिखता है।

"षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षड् सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥
(८-५-९-१६)

कहीं-कहीं इन्हें नवभूमी भी कहा गया है "नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेधि श्रिता दिवः।" (अथर्व ११-४-१४) षड् चक्रवाद देखें। अतः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः, सत्यं सब लोक सृष्टि वृक्ष की उत्पत्ति की क्रमिक भूमियां हैं जिनमें सर्व प्रथम भूः है फिर भुवः आदि।

७—सृष्टि वृक्ष में भूर्भुवः, स्वः आदि का स्थान

पिछले दो उद्धरणों में दिये हुए इस भूमिबुध्न, ऊर्ध्वमूल, अधःशाखम् सृष्टि वृक्ष को भूर्भुवः, स्वः, महः आदि भागों में नामतः स्पष्टतया वर्णन करने का श्रेय बृहदारण्यक उपनिषद् ने इस प्रकार लिया है।

"य एष एतस्मिन्मण्डले[1] पुरुषस्तस्य भूरितिशिरः। एकं शिर एकमेतदक्षरं, भुवः इति बाहू[2]। द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे, स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे, तस्योपनिषदहरिति[3]। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद। योऽयं दक्षिणे ऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः एकं शिर एकमेतदक्षरं, भुव इति बाहू। द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे, स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे। तस्योपनिषदहमिति। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥" (५-५-३,४)

इसमें सृष्टि वृक्ष के ऊर्ध्वमूल को शिर तथा उस शिर को 'भूः' नाम से पुकारा है, बाहु वायु रूप द्वितीय सप्तक है; उसे 'भुवः' तथा 'स्वः' को प्रतिष्ठा, जहां वृक्ष की जड़ जमी है उसको स्वः कहा है। यह तृतीय सप्तक है, यह स्पष्ट है। 'ऋग्यजुः-साम' नामक तत्त्व प्रत्यक्ष मंत्र रूप ग्रन्थ नहीं हैं अपितु 'प्राण' रूप तत्त्व हैं या वाणी के विकास रूप 'स्वर, अन्तःस्थ, ऊष्माण' हैं। इस बात की सूचना उक्त उपनिषद् "उक्थं प्राणो वै, यजुः प्राणो वै, सामः प्राणो वै" कह कर स्पष्ट कर देता है (५-५-१२,१६, १४), यहां उक्थं माने ऋग् या स्वर हैं।

८—भूः और पृथिवी

जिसको तैत्तिरीय ब्राह्मण ने 'भूः' के स्थान में पृथिवी कहा है उसी को ऐतरेय ब्राह्मण भी 'पृथिवी' कहता है। 'पृथिवी' नाम भी 'भूः' तत्त्व का ही है, जो सर्वादि तत्त्व का संकेतक है।

प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्त्स्यामिति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेमाँल्लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम् ताँल्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि

---

[1] सृष्टि चक्रे। [2] द्वितीय सप्तक। [3] पूर्वार्द्ध के सप्तक जहाँ से उषा द्वारा दिन का आरम्भ होता है।

ज्योतींष्यजायन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत, वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्तान्वेदानभ्यतपत्तेभ्यो ऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदो ३ मिति। तस्मादोमोमिति प्रणौत्योमिति वै स्वर्गो लोक ओमित्यसौ योऽसौ तपति। स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत। तमाहरत्तेनायजत स ऋचैव होत्रमकरोद्यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं। यदेतत् त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमकरोत्स प्रजापतिर्यज्ञं देवेभ्यः सम्प्रायच्छत्ते देवा यज्ञमतन्वत तमाहरन्त तेनायजन्त इत्यादि ॥" (ऐ० ब्रा० ५-५-३२)

इस उद्धरण में 'भूः' का सम्बन्ध ऋग् और अ से, भुवः का सम्बन्ध यजुः और उ से तथा स्वः का सम्बन्ध साम और म् से, तथा इन्हीं को क्रम से अग्नि (प्रथम नृम्णाग्नि ब्रह्म) वायु (द्वितीय सप्तक) और आदित्य (तृतीय सप्तक) से जोड़ कर, भूः को आदि तत्त्व का और भुवः, स्वः को उसके क्रमिक विकास बतलाने में बिलकुल स्पष्ट उज्वलता है। इसी क्रम की पुष्टि पुनः यही ब्राह्मण इस अगले उद्धरण से इस प्रकार देता है।

"भूरिति ब्रह्मा प्रातःसवने ब्रूयादिन्द्रवन्तः स्तुध्वमिति, भुव इति माध्यन्दिने सवने ब्रूयादिन्द्रवन्तः स्तुध्वमिति स्वरिति तृतीयसवने ब्रूयादिन्द्रवन्तः स्तुध्वमिति ॥" (५-५-३४)

इसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय सवन, प्रथम, द्वितीय, तृतीय सप्तकों के देवों के लिए हैं। इसमें सन्देह करने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। अब अन्त में शतपथ ब्राह्मण के नितान्त स्पष्ट और उज्वल उद्धरण से पूर्वोक्त सब अवतरणों के वक्तव्य की पूर्णतया पुष्टि कीजिए।

९—भूः प्रजापतिः

"तदाहुः। यन्नर्चा न साम्ना न यजुषाग्निराधीयतेऽथ केनाधीयतऽइति ब्रह्मणो हैवैष ब्रह्मणाऽधीयते वाग्वै ब्रह्म तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म ता वाऽएताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति तदस्य सत्येनैवाधीयते ॥१०॥ भूरिति वै प्रजापतिः। ब्रह्माजनयत भुव इति क्षत्रं स्वरिति विशमेतावद्वा इदं सर्वं यावद्ब्रह्मक्षत्रं विट सर्वेणैवाधीयते ॥१२॥ भूरिति वै प्रजापतिः। आत्मानमजनयत भुव इति प्रजां स्वरिति पशूनेतावद्वाऽइदं सर्वं यावदात्मा प्रजा पशवः सर्वेणैवाधीयते ॥१३॥ स वै भूर्भुव इति। एतावतैव गार्हपत्यमादधात्यथ यत्सर्वैरादध्यात्केनाहवनीयमादध्याद्द्वेऽअक्षरे परिशिनष्टि तेनो एतान्ययातयामानि भवन्ति तैः सर्वैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति भूर्भुवः स्वरिति तान्यष्टावक्षराणि सम्पद्यन्तेऽष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते ॥१४॥" (२-१-४-१०,१२ से १४ तक)

(साथ में गायत्री ब्रह्मसूत्र में दिये बृहदारण्यक उपनिषद् के अष्टावक्षराणि के उद्धरण को भी देखने की कृपा करें)। जब मनु लिखते हैं—आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः

पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माता पृथिव्या मूर्तिस्तु" तब वे यही संकेत करते हैं कि ब्रह्म प्राण रूप है, प्रजापति जनक रूप है, भूः या आपः (मिट्टी नहीं) माता के समान है।

उक्त उद्धरणों में भूर्भुवः, स्वः इत्यादि का जो क्रम दिया हुआ मिलता है उसका आशय तबतक ठीक नहीं बैठ सकता जबतक हम उन्हें पूर्व निर्णीत लोकों के अनुसार या सप्तकों या पदों के अनुकूल व्याख्या न करें। प्रथम चार सप्तकों या पादों की व्याख्या में प्रथम पद या पाद या सप्तक को ब्राह्मण, द्वितीय को राजन्य या बाहु, तृतीय को ऊरू या विश्, चतुर्थ को पाद या शूद्र बतलाने वाली "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" ऋचा को यहाँ पर उचित रूप से बिठलाया है और भूः को प्रजापति तथा ब्रह्म या ब्राह्मण बतलाकर इसका स्थान सात लोकों में सर्वोच्च कहा है। इस क्रम की पुष्टि ऐ० ब्रा० के उद्धरण ने इन लोकों का तादात्म्य ऋग्यजुः, सामादि से करके इसमें प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है। होम में भी सर्व प्रथम व्याहृति भूः है; उसे अग्नि (ब्रह्म) या प्रजापति का समकक्ष, भुवः को वायु या द्वितीय सप्तक का समानान्तर, स्वः को इन्द्र या सूर्य के समान तृतीय या तृतीपद या पादस्थित तत्त्व बतला कर उक्त तथ्य की सर्वतो पुष्टि भी अबतक सब क्यों करते आ रहे हैं ? जैसे—"भूः स्वाहा इदमग्नये (प्रजापतये वा), भुवः स्वाहा इदं वायवे, स्वः स्वाहा इदमिन्द्राय (सूर्याय वा)।" अतः कर्मकाण्ड तक में अब तक उक्त महाव्याहृति रूप सप्तलोकों का क्रम ठीक वैदिक युग के समान बरतता चला आ रहा है। यहाँ ये शब्द सब पारिभाषिक हैं, लौकिक नहीं।

१०—देवलोक और देववर्णों का तादात्म्य

ऋ० वे० (९-७०-१) ने उक्त सात लोकों को भुवन नाम से पुकारते हुए प्रथम तीन को उनके प्रसिद्ध नाम त्रिःसप्त या त्रिपादामृत कहकर, भूर्भुवः, स्वः को तो त्रिपाद्ब्रह्म या त्रिपाद्पुरुष या त्रिपादामृत घोषित कर दिया है जैसे "त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे सत्यमाशिरं पूर्व्ये व्योमनि। चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धतः॥" यहाँ पर भूर्भुवः, स्वः नामक तीन भुवनों को पूर्व्ये व्योमनि या दर्शन चक्र के पूर्वार्द्ध में बतला दिया है जिससे इन पारिभाषिक भूर्भुवः, स्वः शब्दों के स्थानों को लौकिक पृथिवी, मध्याकाश और ऊर्ध्वाकाश में विभक्त समझने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यहाँ अन्य चार लोकों या भुवनों को चारूणि या चरुरूप या भौतिकात्मा रूप बतलाकर उनका स्थान उत्तरार्द्ध में स्वयं फेंक दिया है जिससे सारी समस्या स्वयं सुलझ जाती है।

११—ऋग्वेद में सात भुवन

अन्त में छान्दोग्य उपनिषद् के एक उस प्रसिद्ध उद्धरण को सामने रख दिया जाता है जो इस सृष्टिचक्र को कल्पवृक्ष के रूप में वर्णित करते हुए इसके प्रथम चार लोकों को प्राणः (ब्रह्म) भूर्भुवः, स्वः को क्रम से आदि से वर्णित करके रहे—सहे सन्देह को धो—पोंछ कर साफ कर देता है जैसे—

१२—सृष्टि कल्पवृक्ष में लोकों का स्थान

"अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति। दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम् ॥ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् ॥१॥ तस्य प्राची दिग् जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदमरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राणं प्रपद्येऽमुना ऽमुना ऽमुना भूः प्रपद्ये ऽमुना ऽमुना ऽमुना भुवः प्रपद्ये ऽमुना ऽमुना ऽमुना स्वः प्रपद्ये ऽमुना ऽमुना ऽमुना। स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्स्यथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचमथ, यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचमथ, यदवोचं स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥" (३-१५)

इसमें इस सृष्टि कल्पवृक्ष की जन्म भूमि को द्यौ तथा उसके उदर को अन्तरिक्ष और जड़ भूमिबुध्न कहा है जिसमें अखिल ब्रह्माण्ड पूर्णरूप से आधारित बतलाया है। इसके चार लोक या भुवन हैं। प्राणः (ब्रह्मलोक), भूः, भुवः, स्वः जिनका तादात्म्य क्रम से पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव; अग्नि, वायु, दिव और ऋग्यजुसाम से करके, सम्पूर्ण अर्थ जल समान तरल और स्वच्छ कर दिया है। जिसको यह भूमिबुध्न कहता है वही ऊर्ध्वमूलमगधःशाखा या तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न या अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न है। इसने इस बिल को स्वयं 'द्यौ' या शुचिषद् बतलाया है। उसकी भूमि भूः है जिसमें उसका बुध्न है। अतः उसे भूमिबुध्न कहा है। अस्तु, इन्हीं सात या आठ लोकों को 'सप्तधामानि' भी कहते हैं। इन लोकों या भुवनों या धामों में प्रत्येक में ७,७ या ८,८ या किसी में ७ किसी में ८ तत्त्व हैं। यह अष्टचक्रवाद तथा सप्तचक्रवाद में पहिले तत्त्व निर्णयावसर पर बतलाया जा चुका है "सप्त धामानि सप्त च" "सप्त सप्त" इत्यादि। बृह० उप० (३-९-२६) ने इन्हें 'अष्टौ लोकाः' कहा है। इसका पूर्ण समर्थन निम्न उद्धरण करते हैं। (१) त्रयो वै देवलोकाः (पूर्वार्द्ध) (गो० उ० १-१) 'सप्त वै देवलोकाः' (ऐ० २-१७) 'सप्त देवलोकाः' (श० प० ९-५-२-८) 'एषएकविंशति देवलोकाः' (पूर्वार्द्ध) (तै० ३-८-१०-३) 'देवलोको वा एष यद्विषुवान्' (ताण्ड्य ४-६-२) इत्यादि।

अध्याय ११

अष्टौ पुरुषाः–अष्टौ प्रजापतयः

वेदों में प्रजापतियों का वर्णन एक दूसरे ढंग से दिया हुआ मिलता है और पुराणों, स्मृतियों, महाभारतादि धर्म ग्रन्थों में इनका वर्णन कुछ दूसरे ढंग से दिया गया है। वास्तव में इन दोनों में तादात्म्य है, परन्तु बहुत बड़ा रूपान्तर है। वेदों में प्रजापतियों का वर्णन समासोक्ति द्वारा होते हुए भी पूर्णतः दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा तात्त्विक है, और उनमें ऐतिहासिकता का आभास कम मिलता है। पुराणों ने इनकी इस कमी की पूर्ति के लिए वैज्ञानिकता और तात्त्विकता को पृष्ठ भूमि में ढकेल कर उनकी ऐतिहासिकता पर अधिक बल देते हुए भी उनमें कुछ-कुछ दार्शनिकता, वैज्ञानिकता और तात्त्विकता के आभास की पर्याप्त समानान्तर भूमिका भी प्रतिष्ठित कर रखी है। फिर भी उनकी उस बहुमूल्य आवश्यक तात्त्विक वर्णना के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण को कुछ देर के लिए एकदम भुला ही देना पड़ता है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि पुराणादिकों में केवल वैदिक ऋषि रूप को प्रजापति माना गया है। इनमें उन्हें प्रजापति नहीं कहा गया है जिन्हें वेदों में देवता या तत्त्व कहा गया है, उनमें से केवल 'ब्रह्मा' का नाम इन ग्रन्थों में प्रजापति कहा गया है। पर वेदों में तो प्रत्येक तत्त्व ब्रह्मा या ब्रह्म है। इन दोनों भेदों का विवेचन अगले परिच्छेद में दिया जाता है। 'प्रजापति र्वै सर्वा देवता' है। (तै० ३-३-७-३) 'सर्वं वै प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० १-३-५-१०)

१–वैदिक और पौराणिक प्रजापतियों में अन्तर

वेदों में प्रजापति का पुराना नाम विशाम्पति या विश्पति है। प्रजापति या विश्पति दोनों का एक ही अर्थ है। विश् माने प्रजा, प्रजा माने विश् है, दोनों के माने सन्तान, विकास, परिणाम, परिवर्तित या विकसित उद्भूत या उत्पन्न होना है, उनका पति या पाता या पूर्वज या पूर्व रूप या मूल रूप प्रजापति कहलाता है या प्रत्येक तत्त्व प्रजा है जैसे 'संवत्सरं हि प्रजाः पशवो' अर्द्धमासो हि प्रजाः पशव ओजो बलं पुष्यन्ति' (श० प० ३-७-२-८; ताण्ड १०-१-६) आदित्यों का नाम भी प्रजा है 'आदित्या वा इमाः प्रजाः' (ताण्ड १८-८-१२) 'वैश्वदेव्यो वै प्रजाः' विश्वेदेवा भी प्रजा हैं (तै० १-६-२-५) 'अयास्य (अङ्गिरस) भी प्रजा है' आदित्य और अङ्गिरस भी प्रजा हैं (श० प० ब्रा० ३-५-१-१३, १३-३-४-५, तै० ३-९-११-४)। आद्य प्रजा विश् है 'आद्या हीमाः प्रजाः विशः' (श० प० ब्रा० ४-२-१-१७) प्रजापति के पुराने नाम विश्पति, विशाम्पति के प्रमाण ये हैं।

२–विश्पति या प्रजापति का स्थान

"विशां कविं विश्पतिं शश्वतीनाम्" (ऋ० वे० ६-१-८, तै० ब्रा० ३-६-१०-३); विशां कविं विश्पतिं मानुषीणाम्" (ऋ० वे० ५-४-३) "विशां कविं विश्पतिं मानुषीरिषः" (ऋ० वे० ३-२-१०) "विशां गोपा अस्य चरन्ति" (ऋ० वे० १-९४-५) "विशां राजानमद्भुतम्" (ऋ० वे ८-४३-२४)।

प्रत्येक तत्त्व का नाम विश् है जैसे "विशोविश ईड्यमध्वरेषु" (ऋ० वे० ६-४९-२) "विशोविशो वो अतिथिम्" (ऋ० वे० ८-७४-१) 'विशामासामभयानाम्' (ऋ० वे० १०-९२-१४) "विशो यदह्वे नृभिः" (ऋ० वे० १-६९-६)। कहीं-कहीं विश्पति नाम केवल तृतीय सप्तक के वैश्य नामक तत्त्वों के मुख्य ब्रह्म अतिथि ब्रह्म (१६ वें) के लिए भी प्रायः आता है, इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए, और इस सप्तक के तत्त्व तो प्रायः विश् ही कहलाते हैं जैसे "विशोविशो वो अतिथिम्"(ऋ० वे० ८-७४-१) "विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः" (ऋ० वे० ३-३-८)। प्रजा नाम पशुओं और अर्द्धमासों का भी है, तथा निम्नलिखित कई स्थलों में कई तत्त्वों को प्रजापति के नाम से घोषित किया है जैसे हिरण्यगर्भ के लिए—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।" (ऋ० वे० १०-१२१-१० अथर्व ७-७९-४; ७-८०-३; यजु० १०-२०; २३-३५; तै० से० १-८-१४-२; ३-२-५-६; तै० ब्रा० २-८-१-२; ३-५-७-१) सोम के लिए—"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।" (ऋ० वे० १०-१६९-४)। इन्दु या चन्द्रमा के लिए'–'इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः।" (ऋ० वे० ९-५-९)। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने भी हिरण्यगर्भ को प्रजापति लिखा है "प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वमेति" (५-५-१-२)। हिरण्यगर्भ का नाम कः प्रजापति है और उसे 'भूतस्य जातः पतिः' कहा है अर्थात् यह ब्रह्म से उत्पन्न तत्त्व रूप प्रथम तत्त्व है और अग्रिम विकास पाने वालों के बीजों का संरक्षक या पति या मूल बीज है। इसका विवेचन हिरण्यगर्भ शीर्षक में विस्तार पूर्वक दिया गया है।

३–प्रजापति शब्द का प्रयोग

ब्राह्मण ग्रन्थों ने निम्न लिखित तत्त्वों को प्रजापति नाम से पुकारा है। सबसे पहिले 'संवत्सर ब्रह्म' या पूर्ण दर्शन के ५० तत्त्वों वाले संवत्सर ब्रह्म को प्रजापति नाम से कई स्थलों में कई प्रकार से घोषित करते हुए लिखा है "प्रजापतिर्वा अग्निः। संवत्सरो वै प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० २-३-१-१८) "संवत्सरो वै प्रजापतिः। अग्निरु सर्वे कामाः सोऽयं संवत्सरः प्रजापतिरकामयताग्निं सर्वान्कामानात्मानमभिसंचिन्वीयेति···" (श० प० ब्रा० १०-२-४-१) "संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः" (श० प० ब्रा० १०-४-२-१) "एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति···एष उऽएवान्तकः" (श० प० ब्रा० १०-४-३-१-२) "संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः। तस्यैतद्द्वारं यदमावास्या चन्द्रमा एव द्वारपिधानः" (श० प० ब्रा० ११-१-१-१)

४—ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति शब्द किनके लिए आया है ?

'प्रजापतिः स उ देवेन्द्रः' (तै० १-२-२-५) 'एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्' श० प० ब्रा० १४-८-४-२) 'यः प्रजापतिस्तन्मनः' (श० प० ब्रा० ४-१-७-२२) 'प्रजापति वैं मनश्छन्दः' (यजु १५-४) 'प्रजापति वैं वाक्पतिः प्रजापति वैं वाचस्पतिः' (यजु ४-४, श० प० ब्रा० ५-१-१-१६) 'षोडशकलः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ७-२-२-१७) 'संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० १-५-१-१६); 'स वै यज्ञ एव प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० २-२-२-४); 'प्रजापतिरश्वमेधः' (श० प० ब्रा० १३-२-२-१३); 'प्रजापतिर्यद् विश्वजित्' (कौ० २५-११-१२-१५); 'यो ह्येव सविता स प्रजापतिः' (ताण्ड्य १६-५-१); 'प्राणः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ६-३-१-९); 'प्रजापति वैं मनुः' (श० प० ब्रा० ६-६-१-१९); 'प्रजापति वैं वशिष्ठः' (कौ० २५-२-२६-१५), 'प्रजापति वैं वराहो' (तै० ब्रा० १-१-३-६); 'प्रजापति वैं विश्वकर्मा' (यजुः १३-१६); सुपर्णो 'अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्' पूर्वो जातः (ऋ० वे० १०-१४९-३); 'प्रजापति वैं मूर्द्धा' (यजुः १४-९); 'सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ६-२-१-३०); 'पुरुषः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ६-२-१-२३); 'आत्मा वै प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ४-५-९-२); 'पितरः प्रजापतिः' (गो० उ० ६-१५); 'प्रजापति वैं भरतः' (यजुः १२-३४); 'ऋषयो वै पशूनां प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ५-२-५-१७); 'प्रजापति वैं बृहदुक्थः' (श० प० ब्रा० ४-४-१-१४); 'प्रजापति वैं विप्रः' (श० प० ब्रा० ६-३-१-१६); 'प्रजापति वैं नृम्णा' (यजुः १२-१८); 'प्रजापति वैं नृचक्षा' (यजुः १२-२०); 'प्रजापति वैं धाता' (श० प० ब्रा० ९-५-१-३८); 'प्रजापति वैं जमदग्निः' (श० प० ब्रा० १३-२-२-१५); 'भूतो वै प्रजापतिः' तै० ब्रा० २-२-३-५); प्रजापतिश्चतुर्होता' (तै० ब्रा० २-२-३-५); 'प्रजापतिर्दशहोता' (तै० ब्रा० २-२-१-१); 'द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ५-१-५-६); प्राजापति वाँ एकः' (तै० ब्रा० ३-८-१६-१); एको वै प्रजापतिः' (ताण्ड्य० १६-१६-४; ऐ० ब्रा० २-२३); 'अन्तो वै प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ५-१-३-१३); 'प्रजापत्यो वै वल्मीकः' (तै० ब्रा० ३-७-२-१); 'प्रजापते र्यदुदरं सदः' (ताण्ड्य० ६-७-११); 'प्रजापति वाँ अमृतः' (श० प० ब्रा० ६-३-१-१७); 'प्रजापतिं हिं स्वराज्यम्' (ताण्ड्य० १९-१३-३); 'एतद्वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षम्' (श० प० ब्रा० २-१-२-८); यावान्वै प्रजापतिरूर्ध्वस्तावाँस्तिर्यङ्' (ताण्ड० १८-६-२) ।

"ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् । स प्रजापतिः । तस्मादु संवत्सरऽएव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत स इदं हिरण्मयमाण्डं व्यरुजन्नाह तर्हि का चन प्रतिष्ठास तदेनमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेलासोत्तावद्बिभ्रत्पर्यप्लवत ॥२॥ स संवत्सरे व्याजिहीर्षत् । स भूरिति" (श० प० ब्रा० ११-१-६-२,३) "संवत्सरो यज्ञः······ऋतव ऋत्विजः—अर्द्धमासा हविष्पात्राणि······अहोरात्रे परिवेष्ट्री······ऋतमेव पूर्व आघारः सत्यमुत्तरो ऽव ह वा ऋतसत्ये रुन्धेथो····त्विषिरेव प्रथमः प्रयाजः । अपचितिर्द्वितीयो, यशस्तृतीयो ब्रह्मवर्चसंचतुर्थो ऽन्नाद्यं पञ्चमः ॥ भूतमेवपूर्व आज्यभागः । भविष्यदुत्तरो ऽव

ह वै भूतं च भविष्यच्च रुन्धेऽथो····इत्यादि (श० प० ब्रा० ११-२-७-१ से १३ तक)। "स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः (पुरुषः) (श० प० ब्रा० १४-४-३-२२,२३; बृहदारण्यक उप० ३-६-१४,१५)। ऐ० ब्रा० ४-२-१२,४-१-६ में वही वर्णन है जो यहाँ श० प० ब्रा० के ११-२-७-१ से १३ में दिया गया है।

संवत्सर ब्रह्म सम्बन्धी उक्त समस्त उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वास्तव में प्रजापति नाम का तत्त्व केवल संवत्सर ब्रह्म ही है। और इसी संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति को वर्णना भेद से कभी अग्नि नामक प्रजापति कहते हैं, कभी मृत्यु नामक प्रजापति, कभी अन्तक नामक प्रजापति, कभी यज्ञ नामक प्रजापति, कभी पुरुष नामक प्रजापति, कभी हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति, प्रजापति वै हिरण्यगर्भः (श० प० ब्रा० ६-२-२-५), कभी कः प्रजापति, कभी अन्य नामों से। कः प्रजापति के बारे में हिरण्यगर्भ शीर्षक में कई उद्धरण दिये जा चुके हैं जिनसे अतिरिक्त कुछ ये हैं "कोऽसि कतमोऽसीति" प्रजापति वै कः "कस्यासि को नामासी" ति प्रजापति वै को नाम" (श० प० ब्रा० ४-४-७-४; का० श० ४-६-३, यजुः ७-२९) "प्रजापति वै कः" (ऐ० ब्रा० २-४-२८)। संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति के अर्द्धमास, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, अहोरात्र, घटी, पल, विपल आदि भागों का नाम ही अक्षर है, इन्हीं अक्षरों से सृष्टि क्रमशः क्षरित होती है, अतः येही संवत्सर ब्रह्म नामी प्रजापति ही अक्षर ब्रह्म हैं। अक्षर ब्रह्म के इन संवत्सर ब्रह्म भागीय अक्षरों का विस्तृत विवेचन 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में दिया मिलेगा। यही अक्षर संवत्सर ब्रह्म की प्रजायें हैं, उन्हीं का यह पति है, अतः प्रजापति कहलाता भी है। फलतः प्रजापति नाम अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म का है। उसके अन्य नाम वर्णना भेद तथा तत्त्व भेद बतलाते हैं।

५—वास्तविक प्रजापति कौन है ?

इस संवत्सर ब्रह्म नामी प्रजापति (या अक्षर ब्रह्म) के कई विकासीय या विकसित मुख्य अङ्गों का नाम भी प्रजापति है, जैसा कि कई ब्राह्मण ग्रन्थों ने या वेदों ने इनको दर्शाया है, जैसे श० प० ब्रा० (३-७-२) में पूरे ब्राह्मण में नौ प्रजापतियों के नाम गिनाये हैं। "अग्नि वैं देवानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः"॥ "वाग्वै सरस्वती वाचैव तत्प्रजापतिः"; ॥ "अन्नं वै सोमो अन्नेनैव तत्प्रजापतिः"॥ "पशवो वै पूषा पशुभिरेव तत्प्रजापतिः"॥ "ब्रह्म वै बृहस्पति ब्रह्मणैवैतत्प्रजापतिः"॥ "सर्वं वै विश्वेदेवाः सर्वेणैव तत्प्रजापतिः"॥ "इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण तत्प्रजापतिः"॥ "विशो वै मरुतो भूमो वै विड्भूम्नैव तत्प्रजापतिः"॥ "तेजो वा अग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र उभाभ्यामेव तद्वीर्याभ्यां प्रजापतिः"। इसके अनुसार अग्नि, वाग्, सोम, पूषा, बृहस्पति, विश्वेदेवता, इन्द्र, मरुतः, और इन्द्राग्नी में नौ के नौ सब प्रजापति हैं। इसका समर्थन ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों में मिलता है। उदाहरण के लिए श० प० ब्रा० ८-४-३-३ से २० तक और ऐ. ब्रा. २-५-३८ का ब्राह्मण देखें। इनके अतिरिक्त कई अन्य तत्त्वों को भी प्रजापति

६—संवत्सर ब्रह्म के विकासीय तत्त्वों का नाम भी प्रजापति है

नाम से पुकारा है जैसे "प्रजापति वैं द्रोणकलशः" (श० प० ब्रा० ४-२-५-६) और "अथ द्रोण कलशम् । 'कोऽसि कतमोऽसीति प्रजापति वैं कः, "कस्यासि को नामासी" "ति प्रजापति वैं को नाम" (श० प० ब्रा० ४-४-७-४) "एष वै प्रजापति र्य एष यज्ञ-स्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाताः" (श० प० ब्रा० ४-४-७-१) "प्रजापति र्वा एष यदंशु सोऽस्यैष आत्मैवात्मा ह्ययं प्रजापतिः ।।" (श० प० ब्रा० ४-५-४-१) "अंशु र्बै नाम ग्रहः स प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० ४-१-१-१) ("प्राणो हवा अस्योपाशुः" वहीं) "प्रजापति र्ह वा ऐतेनाग्रे यज्ञेनेजे······स वै दक्षो नाम । तद्यदनेन सोऽग्रेऽयजत तस्माद्दाक्षायणयज्ञो नामोतैनमेके वशिष्ठयज्ञ इत्याचक्षत एष वै वशिष्ठ एतमेव तदन्वाचक्षते स एतेन यज्ञे नेजे ।।" (श० प० ब्रा० २-४-१-१,२) "दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणो-ऽभिगन्तैव ब्रह्मकर्ता क्षत्रियः ।" (श० प० ब्रा० ४-१-४-१) "भूरिति वै प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० २-१-४-११,१२,१३) । इन उद्धरणों के अनुसार द्रोण कलश, यज्ञ, अंशुः (प्राण ब्रह्म), दक्ष और 'भूः' सब के सब प्रजापति हैं। एक और प्रजापति हैं जिनका नाम कश्यप या कूर्म है (कूर्म की व्याख्या करोतीति कूर्म है)। "स यत्कूर्मो नाम एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः । कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति । स य स कूर्मोऽसौ स आदित्यः" श० प० ब्रा० (७-४-१-५,६) वृषा वै कूर्मो योषाऽषाढा; प्राणो वै कूर्मो वागाषाढा' (७-४-१-६-७)

उक्त प्रजापतियों का नामतः उल्लेख कर लेने पर भी ब्राह्मण ग्रन्थों को तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने तत्त्वों की क्रमिक संख्या से उस तत्त्व को प्रजापति कहा है।

७—तत्त्वों के क्रमिक संख्या से प्रजापति का संकेत

उदाहरणतः 'सप्तदशो वै प्रजापतिः' सत्रहवां तत्त्व प्रजापति है यह वाक्य अनेक स्थलों में बार-बार प्रयुक्त हुआ है, जैसे—'एष एव प्रजापतिः सप्तदशः' (श० प० ब्रा० १-३-२-१०) 'सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः' (श० प० ब्रा० ५-४-२-१९) इसी को पुरुष संवत्सर और प्रजापति नाम से एक साथ पुकारा है (श० प० ब्रा० ६-२-१-८-९)। इसी प्रकार ३४ वें को भी प्रजापति नाम से पुकारते हुए लिखा है "चतुस्त्रिंशोऽश्वः प्रजापतिः" (जै० ब्रा० २-१२९ ऋ० वे० १०-५५-३)। २४ वें तत्त्व को संवत्सर का आरम्भणीय प्रथम विन्दु बतलाते हुए इसे 'महाव्रत' नाम से पुकारा है (ऐ० ब्रा० ४-२-१३,१४)। इसी प्रकार २१ वें तत्त्व की महिमा भी गाई है (ऐ० ब्रा० ३-४-४१;४-३-१८)। ये सब एक ही नाम हैं। 'सप्तदश' माने बारह मास और पाँच ऋतु बराबर सत्रह या २४ वां तत्त्व है। २१ माने बारह मास, पाँच ऋतु, तीन लोक, आदित्य २४ वां ही है (चि० सप्त देखें)

कः प्रजापति की व्याख्या तो हिरण्यगर्भ नामक तत्त्व की पूरी व्याख्या में दी जा रही है। यह कः प्रजापति जैसा कि श० प० ब्रा० ११-२-७-१ से १३ तक के

८—कः प्रजापतिः

उद्धरण (पूर्वोद्धृत) से स्पष्ट है; वही संवत्सर ब्रह्म या संवत्सर प्रजापति है जिसका विवेचन 'संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्र शीर्षक में दिया गया है। यह दो प्रकार का प्रजापति है, (१) अनारम्भणीय (पूर्वार्द्धीय) संवत्सर प्रजापति या कः प्रजापति

और (२) आरम्भणीय (उत्तरार्द्धीय) संवत्सर प्रजापति या कम् प्रजापति या शम् प्रजापति। इन तीनों का विवेचन ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है। श० प० ब्रा० ४-४-७-४ और यजु ७-२९ ने "कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि" की व्याख्या में 'प्रजापतिर्वै कः, को वै प्रजापतिः, लिखा ही है। इसी प्रकार 'को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन' इत्यादि अनेक ऋचायें (हिरण्यगर्भ में उद्धृत) इसी कः प्रजापति की व्याख्या करती हैं। कः प्रजापति शब्द ब्रह्म के अक्षरों का प्रतीकी पूर्वार्द्धीय तत्त्व का प्रतिनिधि रूप वह देखता है जिसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। ऐ० ब्रा० (६-४-२१) ने कः और कम् नामक दो प्रजापतियों की व्याख्या और अन्तर बतलाने के लिए (ऋ० ७-३२-१४) की ऋचा का वर्णन किया।

'कस्तमिन्द्र त्वा वसुंन्कंनव्यो अतसीनां, कदू न्वस्या कृतम्' को उद्धृत करके इस ऋचा में दिये कः और कम् प्रजापतियों में से 'कम्' को आरम्भणीय या उत्तरार्द्धीय कम् प्रजापति सूचित करते हुए लिखा है:—"इति कद्वन्तः प्रगाथा आरम्भणीया अहरहः शस्यन्ते को वै प्रजापतिः प्रजापतेराप्त्यै यदेव कद्वन्ता३ः। अन्नं वै कमन्नाद्यस्यावरुध्यै। यद्वेव कद्वन्ताः अहरहर्वा एते शान्तान्यहीन सूक्तान्युपयुञ्जाना यन्ति तानि कद्वद्भिः प्रगाथैः शमयन्ति तान्येभ्यः शान्तानि कं भवन्ति। तान्येनाच्छान्तानि स्वर्गं लोकमभिवहन्ति। त्रिष्टुभः सूक्तप्रतिपदः शंसेयुस्ता हैके पुरस्तात्प्रगाथानां शंसन्ति।'

*इसी प्रकार का वर्णन श० प० ब्रा० ६-२-१-५ से १२ तक में दिया है। वह इसे संवत्सर प्रजापति बतलाता है। 'को वै प्रजापतिः' तो 'अनारम्भणीय कः प्रजापति' है और 'अन्नं वै कम् प्रजापतिः' आरम्भणीय है। इसी की प्राप्ति को बताने से इस सूक्त की महिमा बड़ी है। यह स्वर्ग लोक या अनारम्भणीय पूर्वार्द्धीय कः प्रजापति को वहन करता है या धारण या विकसित करता है, जिनका वर्णन ऋ० वे० १-१६६-५ और १०-८१-२ में दिया है। और इनका वर्णन ब्रह्म संवत्सर अहोरात्र में पहिले दिया जा चुका है।

श० प० ब्रा० ने २-४-३-१; और २-४-३-५ में कम् और शम् नामक दोनों प्रजापतियों को वैश्वदेव प्रजापति या उत्तरार्द्धीय प्रजापति बतलाते हुए दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध, दोनों को दो वेदी और दो अग्नियाँ बतलाया है जैसे—

९—कम् या शम् प्रजापति

"वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्ट्वा वरुणस्य यवान् जक्षुः।" "तद्यद् द्वे वेदी द्वावग्नी भवतस्तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः॥" अब कम् और शम् प्रजापतियों के बारे में

---

*संवत्सरः प्रजापति कद्वत्यो याज्यानुवाक्याः को हि प्रजापतिः (श० प० ब्रा० ६-२-१-५,१२) कः प्रजापति शब्द ब्रह्म के अक्षरों का प्रतीक पूर्वार्द्धीय है, कम् और शम् पूर्वार्द्ध की शान्ताग्नि रूप और आपोब्रह्म उत्तरार्द्धीय हैं।

लिखा है "तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कम्वैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते। तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति। शं वै प्रजापतिः शमीपलाशैरकुरुत शम्वैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते॥" (२-४-३-११,१२)

ये दोनों कम् और शम् शब्द आपः या जल अर्थ के शब्द हैं। ये चतुर्थ सप्तक की आपोमय सृष्टि (उत्तरार्द्ध के प्रथम सप्तक) या समुद्रमय महो नामक तत्त्वों के निर्देशक हैं। कर्मकाण्ड में इनका अभिनय करीर और शमीपलाश पत्रों से किया जाता था। बृहदारण्यक ने आरम्भ में ही 'कम्' की व्याख्या दे दी है। शम् का सम्बन्ध आपोदेवियों से बतलाने वाली प्रसिद्ध ऋचा सबको विदित होगी "शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।" (ऋ० वे० १०-९-४) शमी का उल्लेख श० प० ब्रा० (१-१-५-१७) ने पुनः दिया है। कम् प्रजापति का जन्म चतुर्थ सप्तक के आपो देवियों से होता है। इसका पक्का प्रमाण ऋ०वे० १०।८२-५ की यह ऋचा है।

"परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥"

जितने भी उद्धरण पहिले दिये जा चुके हैं, उनसे दो बातें स्पष्ट हो चुकी हैं। (१) प्रजापति नाम संवत्सर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म का है। प्रजापति के अन्य सब नाम इसी संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति के उपनाम हैं। (२) इस संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति के दो भेद हैं, पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय जिनको क्रम से अनारम्भणीय और आरम्भणीय; कः और कम् या शम् दो प्रकार से पुकारा जाता है। पूर्वार्द्ध आध्यात्मिक संवत्सर ब्रह्म रूप प्रजापति है, उत्तरार्द्ध भौतिकात्मा का विकास कारक भौतिक प्रजापति।

१०—नामतः उल्लिखित प्रजापतियों का तत्तत् संख्या से तादात्म्य

कः नामक प्रजापति पूर्वार्द्धीय है, पर हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति कः भी है; कम् भी है, वह पूर्वार्द्ध में कः है, उत्तरार्द्ध में कम्। इन दोनों कः और कम् के लिए हिरण्यगर्भ सूक्त ने 'कस्मै' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया है कि 'कस्मै' शब्द दोनों को एक रूपता में ले आता है। 'किम्' शब्द के जितने भी रूप हैं वे सब कः प्रजापति या हिरण्यगर्भ प्रजापति के ही नाम हैं जैसे "कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि" (यजुः ७-२९) में प्रत्येक रूप हिरण्यगर्भ को ही सम्बोधित कर रहा है। वह 'सम्प्रश्न' या नानारूपधरः है। अतः सब रूप उसके नाम है जिसके प्रमाण ("एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या" (ऋ० वे० १०-८२-३) सर्वाणि रूपाणि "पृश्निः" (ऐ० ब्रा० ५-३-२३) हैं। यज्ञ नामक प्रजापति प्रत्येक तत्त्व है, प्रत्येक तत्त्व एक यज्ञ या विकास है (यज्ञ पुरुष देखें)। पर क्रतु नामक प्रजापति जिसका नाम पुराणों में प्रजापति रूप में आता है वह 'वरुण' का नाम है, २४ वाँ तत्त्व है (मित्रावरुण और दक्षक्रतू शीर्षक देखें)। पुरुष नामक प्रजापति भी यज्ञ की तरह प्रत्येक तत्त्व रूप प्रजापति है, जिसे कभी-कभी 'यज्ञपुरुष' नाम से भी पुकार लेते हैं। (यज्ञ पुरुष देखें)। दक्ष नाम का प्रजापति मित्र नामक २४ वां तत्त्व है। हिरण्यगर्भ सूक्त में ही इस दक्ष और यज्ञ को हिरण्यगर्भ ने उत्पन्न किया है

जैसे "दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्" (ऋ० वे० १०-१२१-८)। इस ऋचा का यज्ञ शब्द क्रतु वाचक है। दक्षक्रतू से भौतिक सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। अतः ये उत्तरार्द्धीय कम् प्रजापति के भेद हैं और इनका स्थान चतुर्थ सप्तक भी है। चन्द्रमा को प्रजापति कहा गया है। वह तो २६ वां तत्त्व है, अतः सीधे उत्तरार्द्ध में आता है। यही एकदैवत्य सोम प्रजापति का स्थान भी है। पर सर्वा-देवता सोम पूरा संवत्सर ब्रह्म प्रजापति का प्रतिनिधि है (सोम देखें)। अग्नि प्रजापति तो दोनों हैं। पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय, क्योंकि यह भी उभयदेवता या सर्वादेवता है, स्वयं संवत्सर ब्रह्म रूप प्रजापति है। यही बात मृत्यु नामक संवत्सर में घटित होती है। संवत्सर प्रजापति के दो भागों के कई नये नाम यहाँ उपलब्ध हुए हैं (१) अहोरात्रे या परिवेष्ट्री, ऋतं सत्यम्, भूतम् भविष्यत् (येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतम्, यजुः)। वाग्प्रजापति को सरस्वती नाम से पुकारा गया तो परावाग् का संकेतक होता है, अतः उत्तरार्द्ध का सूचक है। परन्तु वाग् मानसी भी होती है, वह सर्वादेवता और पूर्वार्द्धीय ही है। पूषा उत्तरार्द्धीय चतुर्थ सप्तकीय भौतिक प्रजापति है। बृहस्पति तो ब्रह्मणा प्रजापति है; अतः पूर्वार्द्धीय है, इन्द्र प्रजापति इन्द्रिय या भौतिक रसतत्त्व से है, अतः यह भी उत्तरार्द्धीय ही है। मरुत विड्भूम्ना प्रजापति है। विश् गणों का नाम है और तृतीय सप्तक का भी, अतः यह उभय प्रजापति है। इन्द्राग्नी प्रजापति उभय प्रजापति है, इसी प्रकार विश्वेदेवता सर्वादेवता होने से उभय प्रजापति हैं। द्रोण कलश को तो स्वयं कः प्रजापति बताया ही है, अंशु प्रजापति, कम् प्रजापति या भौतिकात्मा रूप प्राण है। भूः नामक प्रजापति कः प्रजापति है। यह पूर्वार्द्धीय संवत्सर ब्रह्म रूप प्रजापति है। कश्यप नामक प्रजापति तो पूर्ण भौतिक प्रजापति है। क्योंकि इसी से सब प्रजा या भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई है, ठीक उसी तरह जिस तरह वृत्ररूप भौतिकाणु समस्त प्रजा को उत्पन्न करता है ('यदासुर्यमास तेनेमाः सर्वाः प्रजाः' श० प० ब्रा० १-५-२-१७)। 'कम् शमाप्नोतीति कश्यपः' यह इसकी व्युत्पत्ति है। कूर्म भी इसी का नाम है; करोतीति कूर्म इसकी व्युत्पत्ति दे दी गई है। सत्रहवाँ प्रजापति भी इन्द्राग्नी है, २४ वां तत्त्व अत्रि, पूषा, दक्षक्रतू आदि का संकेतक है। ३४ वां प्रजापति 'अज' नामक तत्त्व तथा कश्यप नामक प्रजापति है। २१ वां तत्त्व २४ वां ही है यह ऋतुवादी संवत्सर में बताया जा चुका है।

उक्त अनेक प्रजापतियों में जो पूर्वार्द्धीय प्रजापति हैं उन्हें अनिरुक्त या अनुच्चारणीय, मौन या तूष्णीम् वाग् रूप प्रजापति या शब्द ब्रह्म कहते हैं, और जो उत्तरार्द्धीय हैं उन्हें निरुक्त या परा वाग्। पूर्वार्द्ध के अपरिमित असीम हैं; उत्तरार्द्ध के परिमित या सीमित जैसे "प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च" (श० प० ब्रा० ६-५-३-७) और "तूष्णीमिव हीदं मूलम्" (श० प० ब्रा० १-३-६-१०) शेष 'वाग्' शीर्षक में देखें।

११–अनिरुक्त और निरुक्त प्रजापतिः

पुराण, महाभारत और धर्म ग्रन्थों में जिनको प्रजापति कहा गया है, उनमें से अब तक केवल एक दो ही के नाम आ पाये हैं, अन्य प्रजापतियों का क्या हुआ ? क्या वे प्रजापति हैं या नहीं ? इस विषय पर विस्तार पूर्वक विचार करने का अवसर अभी मिल पाया है। पिछले परिच्छेदों में एक प्रजापति पुरुष या यज्ञ या यज्ञ पुरुष नाम से आया है। आदि ब्रह्म ही प्राण रूप है। ऋषि नाम इच्छा का है। आदि ब्रह्म की प्राणरूपता की यह प्रथम इच्छा कि मैं सृष्टि रचना करूं 'ऋषि' नामक प्राण या इच्छा रूप प्राण नाम से पुकारी जाती है। यह प्राण रूप ब्रह्म या ऋषि रूप प्राण आदि ही से त्रिवृत् (मनोवाग्प्राणानां त्रिवृत्) होता है। इसका मध्यम प्राण इन्द्रिय रूपता से मध्य के प्राणों को इद्ध या दीप्त करके ऋषि रूप प्राणों को सृष्टि क्रम के लिए प्रस्तुत करता है। अतः इस कारण वह इद्ध, इन्ध या इन्द्र कहलाता है। इसी से सात नाना पुरुष या सात नाना प्राण रूप पुरुषों की उत्पत्ति होती है। वे सब एक साथ सम्मिलित एक पुरुष रूप में ही प्रस्तुत होते हैं। उनमें दीप्ति रूप शरीर प्रस्तुत हो जाता है। उसी सप्तपुरुष क्रम से सात ऋषि या महर्षि कहलाते हैं और सात प्रजापति भी बनते हैं। इनमें से प्रत्येक एक-एक सप्तक का प्रथम मुख्य ब्रह्म कहलाता है जिनमें से प्रथम चारों को चार आत्मायें और शेष तीन में से दो को दो पक्ष और तीसरे को पुच्छ या अन्तिम कहते हैं। यह आशय निम्न उद्धरण में प्राप्त होगा।

१२—वैदिक और पुराणों के प्रजापतियों का मूलस्रोत

"असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः ॥१॥ स योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो हवैतमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तऽइद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥२॥ तेऽब्रुवन् न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुमिमान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतांत्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुष पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत् ॥३॥ अथ यै तेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः। यो रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवत् यच्छ्रियं समुदौहंस्तस्माच्छिरस्तस्मिन्नेतस्मिन्प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वेवैतच्छिरोऽथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियोऽथ यत्सर्वस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम् ॥४॥ स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः सः पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते ॥५॥ स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि ॥" (श० प० ब्रा० ६-१-१-१ से ६ तक)

इसका अन्तिम वाक्य इस श० प० ब्रा० में अनेक बार दुहराया गया है, यहीं पर दो बार कहा है, अन्यत्र भी। इन सप्त पुरुषों का विवेचन पुनः "यान्वै तान्त्सप्तपुरुषान्" वाक्य से श० प० ब्रा० १०-२-२-१ ने एक पूरा ब्राह्मण दिया है। यजुर्वेद (१५-१०) ने भी इन ऋषियों को देवताओं में प्रथमोत्पन्न

बतलाते हुए लिखा है "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु" और श० प० ब्रा० (८-६-१-५) ने इनकी व्याख्या में "प्राणा वा ऋषयः प्रथमजा तद्धि ब्रह्म प्रथमजं" लिखकर उक्त कथन की पूर्ण पुष्टि कर दी है। यही भाव ऋ० वे० १-१६४-१५ की ऋचा का है जैसे—"साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति। तेषामिष्टानि विहितानि धामशः॥" इन ऋषियों का विकास क्रम से प्रत्येक सप्तक में हुआ। यह इसी ऋचा में 'धामशः, रेजन्ते' पदों से स्वयं स्पष्ट है। और ऋ० वे० १०-८२-२ में विश्वकर्मा को 'सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः' कहा है। यह विश्वकर्मा उक्त सप्त ऋषियों से पृथक् और परे है, क्योंकि प्रथमोक्त ऋषियों को इसी सूक्त के चौथे मन्त्र में 'पूर्वे ऋषयः' कहा है। अतः ये पर के ऋषयः या उत्तरार्द्ध के अङ्गिरस ऋषि हैं। इनका स्थान चतुर्थ सप्तक है, विश्वकर्मा इनका शीर्षण्य ऋषि है, ये सब 'परे' या उत्तरार्द्ध के हैं।

सप्त चक्र वाद की व्याख्या में विस्तार पूर्वक बतलाया जा चुका है कि यह ऋषिवाद वैदिक आर्यों के वैदिक दर्शन की मुख्य और मूल भित्ति है। तथा ऋषयः शीर्षक में इनका अलग विवेचन दिया जा रहा है।

१३—ऋषिरूप प्रजापति श० प० ब्रा० (८-१-१-१ और २) में तथा यजुर्वेद (१३-५४, ५५, ५६, ५७ और ५८) में इन ऋषियों का तादात्म्य सृष्टि पुरुष के अङ्गों से निम्न प्रकार से किया हुआ मिलता है। 'वशिष्ठ ऋषिरिति प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनोऽ एव वसिष्ठः" कि प्राण ही वशिष्ठ हैं, श्रेष्ठ प्राण वशिष्ठ हैं। वह निवसित होकर रहता है, इस लिए भी वशिष्ठ है। श० प० ब्रा० या बृह० उप० में इन्द्रियों के परस्पर द्वन्द्व में प्राणों को सर्वश्रेष्ठ ठहरा कर उन्हें वशी वशिष्ठ कहा है (श० प० ब्रा० १४-९-२-१४ बृह० उप० ९-२-१४); और अन्त में प्राणों को सम्राट् परम ब्रह्म नाम से घोषित कर दिया है "प्राणो वै सम्राट् परम ब्रह्म" (श० प० ब्रा० १४-६-१०-३ बृह० ६-९-३) और भरद्वाज ऋषि को 'मनः' नाम से पुकारते हुए लिखा है "भरद्वाज ऋषिरिति मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः" कि वाक् माने अन्न या सोम या भौतिकात्मा है, जो मन को धारण करता है वह भौतिकात्मा को धारण करता है। अतः उसे भरद्वाज ऋषि कहते हैं। जमदग्नि ऋषि को 'चक्षु' नाम से पुकारा है 'चक्षुर्वै जमदग्नि र्ऋषि' यदेनेन जगत्पश्यति···तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। इस जमदग्नि नामक चक्षु रूपता से प्रत्येक इस ब्रह्माण्ड को जानता या देखता है। विश्वामित्र को श्रोत्र नाम से पुकारा है। इसी से अखिल ब्रह्माण्ड को सुना या जाना जाता है। "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषि र्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यस्मै सर्वतो मित्रं भवति"। विश्वामित्र माने, इसलिए, वह तत्त्व है जो सबका मित्र है, किसी का शत्रु नहीं। विश्वकर्मा ऋषि को जिसके ऋ० वे० १०-८१ और १०-८२ दो स्वतन्त्र सूक्त हैं 'वाग्' नाम से पुकारा है "वाग्वै विश्वकर्मर्षिर्वाचाहीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः" क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि वाणी से होती है। अतः उसे विश्वकर्मर्षि नाम से पुकारते

हैं। इसीलिए वाग् को कई स्थलों में प्रजापति कहा है जैसा कि बताया जा चुका है "वाग्वै प्रजापतिः प्रजापति वै वाग्" (श० प० ब्रा० ५-१-५-६)। यह ऋषि और वाग् उत्तरार्द्ध के हैं। इसीलिए इसे सात पूर्व ऋषियों से परे 'सप्तऋषीन्पर एकमाहुः' कहा है*। भगवद्गीता ने भी इन सात महर्षियों को 'मद्भावा' और 'मानसा जाता' मुझसे (ब्रह्म से) उत्पन्न तथा मन से उत्पन्न बतलाया है, जैसे "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥" गीता ने यहाँ पर अन्त में यह लिख कर कि इस ब्रह्माण्ड की अखिल सम्पत्ति या उत्पत्ति इन्हीं से हुई, अतः इनकी ही प्रजा है, यह भी सिद्धकर दिया है। ये सप्तर्षि प्रजापति हैं, और यह इन सप्तर्षियों को 'पूर्वे' विशेषण से सर्वादिकालीन भी घोषित कर रही है। इसमें जिन चार मनुओं की चर्चा की गई है वे भी तात्त्विक ही हैं। मानव सृष्टिवाद में प्रथम चार सप्तकों के मुख्य ब्रह्मों को ही चार मनु कहा है। यही 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा' के या चतुष्पाद्ब्रह्म के क्रम से चार शृङ्ग या चार पाद भी हैं (मनु शीर्षक देखें)। श्वेताश्वतर उपनिषद् रुद्र को भी महर्षि नाम से पुकारता है (३-४;४-१२)। यहाँ इसे तो हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखने वाला महर्षि भी बतलाया है। ब्रह्मा को तो वेद निर्माता महर्षि सब मानते हैं। दुर्गासप्तशती 'ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र' ऋषि संकल्प से तीनों को ऋषि कहती है। ये सब प्रजापति रूप पुरुष या ऋषि हैं।

१४—पुराणों के प्रजापतियों का वैदिक प्रजापतियों से तादात्म्य

पौराणिकों ने उक्त वर्णित ऋषियों में से दक्ष और वसिष्ठ को छोड़ अन्यों को नामान्तर से स्वीकार किया है। जैसे मारुत प्रजापति के लिए मरीचि; 'मरीचिर्मरुतामस्मि' (गीता १०.), यज्ञ या पुरुष के लिए क्रतु। दक्षक्रतू २४ वें तत्त्व के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध हैं जिन्हें मित्रावरुण भी कहते हैं। अङ्गिरस तथा भृगु को बार्हस्पत्य प्रजापति तथा भरद्वाज के लिए भृगु तो वरुण की प्रजा है "भृगुर्वै वारुणिः" (ऐ० ब्रा० ३-३-३४)। पुलस्त्य को विश्वामित्र के स्थान में, अत्रि को जमदग्नि के लिए, इत्यादि, और नारद को अधिक जोड़ा गया है। इनके नाम श्रीमद्भागवत (३-१२-२२,२३,२४) के अनुसार उनके उत्पत्ति स्थान सहित ये हैं।

"मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥
उत्संगान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत्॥"

---

*'सप्तऋषीन्पर एकमाहुः' (ऋ० वे० १०-८२-२) के सप्त ऋषि प्रजापतिरूप सप्त ऋषि या पुरुष नहीं हैं वरन् सात अङ्गिरस ऋषि हैं जिनका स्थान चतुर्थ सप्तक है। उनसे यह विश्वकर्मा परे और एक है।

इसका यह स्पष्ट तात्पर्य है कि पुराणों ने सृष्टि विवरण में विशेष कर प्रजापति वर्णन में वेदों का ही अनुसरण किया है। और इस वर्णना का यह भी स्पष्ट तात्पर्य है कि ये प्रजापति, दर्शन पुरुष के अध्यात्म अंग रूप वाक्, मनः चक्षुः, श्रोत्र, प्राण, त्वक्, हस्त, पाद, हृदय और शिर के प्रतिनिधि रूप तत्त्व हैं; जिनका विशिष्ट वर्णन उपनिषदों में आता है, ये ही वास्तविक प्रजापति हैं या इनके देवता। इनके नामान्तर करने में एक बड़ी विशेषता यह है कि ये सृष्टि को विशेषकर मानव सृष्टि को ऐतिहासिकता प्रदान करते हैं। इस भूलोक का सर्वप्रथम मानव मनु देव हैं, उन्हें ये स्वयम्भू कहते हैं। उक्त नाम के प्रजापति उनकी प्रजा या प्रथम मानव सन्तान हैं। इन्हीं से मानव सृष्टि हुई। आर्यों के दश दल भी थे; उनके पूर्वज दश प्रजापति के नाम से पुकारे गये हैं तो यह रीति एक साथ दो काम करती है (१) वैदिक दर्शन का तद्वत् (वेदों के अनुसार) वर्णन देते हुए (२) मानव सृष्टि की प्रथम भूमिका सत्यरूप में प्रस्तुत करना। और मनु का प्रथम आर्य मानव रूप में वर्णन तो वेदों में आता ही है, शेष इतिहास की आर्य लुप्त श्रुतियों का संकलन कर इन्होंने वैदिक पुराणों का भी उद्धार किया है (मनु की व्याख्या देखें)। यह भी चतुर पौराणिकों की कृतियों और उदात्त लक्ष्यों में एक बड़ा रहस्य है।

———

अध्याय १२

अव्यय कल्प वृत्त (अक्षर ब्रह्म)

अखिल ब्रह्माण्ड ऐसे गोलों का एक बृहत् वृत्त सा है जिनके रूपाकार नाना प्रकार की स्थितियाँ तथा गतियाँ एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

१–विश्व ब्रह्माण्ड का आदि मूल विन्दु

वैदिक दर्शन का अन्तिम ५० वाँ तत्त्व तो केवल एक परमाणु का निर्माण करता है। तब प्रश्न उठता है कि इतने से छोटे परमाणु से इतने अनन्त गोल, उतनी विभिन्नताओं, और अपरिमित आकार प्रकारों में कैसे, किस प्रकार प्रस्तुत हो सके होंगे? साथ में लगा हुआ नानाजात प्राणिवर्ग की, ओषधिवर्ग की असाध्य समस्या भी है। आजकल के दार्शनिक उक्त प्रश्न के उत्तर में तैत्तिरीय ब्राह्मण उपनिषद् के वाक्य "तस्माद्वा एतस्मादादात्मनआकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" से यह समझते हैं कि ब्रह्म से एकदम आजकल दीखने वाला आकाश उत्पन्न हुआ, उससे क्रमशः वायु, अग्नि, आपः और हमारी पृथिवी जैसी दीखती है वैसी ही झट निकल पड़ी। इन लोगों की दृष्टि में केवल एक ही सौर मण्डल है, पृथिवी जैसा गोल केवल यही हमारा अपना है। थोड़े से लोग ७ ग्रहों (दस हैं) को भी पृथिवी सा मान लेते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण उपनिषद् का वाक्य तो देखने में आने वाले आकाश वायु आदि की बात तो दूर रही, परमाणु की भी बात नहीं करता, वह तो केवल परमाणु बनने के मौलिक क्रम के मौलिक आकाश, वायु, अग्नि, आपः, पृथिवी की ही बात करता है, ऐसे ही मौलिक स्वरूप का विकास उस आदि ब्रह्म से हो भी सकता है। पारमाणविक आकाश का आरम्भ तो ५० वें तत्त्व में प्रथम परमाणु निर्माण से होता है। जब इसका विकास दो परमाणुओं में होता है तब उसका रूप (आकाश+) वायु हो जाता है, जब वह तीन परमाणुओं में वृद्धि पाता है, तब वह (आकाश+वायु+) अग्नि हो जाता है, चार परमाणु बनने पर (आकाश+वायु+अग्नि+) आपः हो जाता है, और पाँच परमाणुओं में विकसित हो जाने पर (आकाश+वायु+अग्नि+आपः+) पृथिवी नाम से पुकारा जाता है। पूर्व-पूर्व वालों के गुण और द्रव्य, उत्तर-उत्तर वालों में क्रमशः विद्यमान् रहते हैं जिनमें अपना गुण और द्रव्य प्रधान और पूर्ववर्तियों के गुण और द्रव्य अप्रधान रहते हैं, पर रहते अवश्य हैं। और ब्रह्माण्ड में आजकल के वैज्ञानिकों ने कम से कम एक अरब सौरमण्डलों को देख लिया है जिनके सूर्य हमारे सूर्य से करोड़ों गुने बड़े बतलाये जाते हैं।

२—भौतिक ब्रह्माण्ड का मध्य मूल विन्दु

अस्तु, परमाणु ५० वें तत्त्व में प्रस्तुत होता है, यह मुख्यतया भौतिक है, पर इसमें आध्यात्मिक सब तत्त्व विद्यमान हैं, इसमें पञ्चात्मायें, पञ्च मौलिक तत्त्वों का एक साथ समावेश है।

इसकी भौतिकता का प्रथम सूत्रपात २५ वें तत्त्व में 'रेणु' रूप में होता है जिसे तात्त्विक सूर्य या सूर्योदय के नाम से पुकारा गया है।

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥
यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूल्हमा सूर्यमजभर्तन॥"
(ऋ० वे० १०-७२-६,७)

अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि के बीजभूत इस 'रेणु' और परमाणु में केवल एक ही भाग नहीं है। केवल रेणु में ही कम से कम ४३,२०,०००००० भाग हैं और इसे बनने में ४३,२०,०००००० वर्ष भी लगते हैं। परमाणु बनने में फिर ४३,२०,००० वर्ष अधिक लगते हैं। फलतः इस परमाणु के बनने में ८६,४०,०००००० वर्ष लगते हैं, और उसमें इतने ही भाग (८६,४०,०००००००) होते हैं। यह योनियों और वनस्पतियों के मौलिक बीजों का सार है। पार्थिव परमाणु बनने तक ८६,४०,००००००×५=४,३२,००,०००००० भाग और उपजातियाँ बन जाती हैं। इतने ही वर्ष लगते हैं। अब बना भौतिक ब्रह्माण्ड का पूर्ण बीज रूप पञ्चपारमाणविक पार्थिव परमाणु। ये तो इसके खण्डित होने वाले भाग हैं, इसमें पाँच अखण्ड आत्मायें भी हैं, जो प्रत्येक खण्ड में भी अखण्ड रूप से व्याप्त रहती हैं (संख्याओं को 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में विदित करें)। उन्हीं आत्माओं की गुहा में यह परमाणु स्थित है, वह निराधार नहीं है (ब्रह्म व्याख्या देखें)। यह परमाणु पुरुष है। इसमें तीन तत्त्व मुख्य हैं, द्रष्टा या आधार (पञ्चात्मा) भोजन और भोक्ता, जो भोजन है वही भोक्ता है, इन्हें वैदिक लोग अन्न और अन्नाद कहते थे जिसे आजकल के विद्वान् जड़ और चेतन कहते हैं। वैदिकों का अर्द्धनारीश्वर आध्यात्मिक और भौतिकता का सम्मिश्रण है। और 'पुरुष एवेदं सर्वं······यदन्नेनातिरोहति' (पु० सू० २) ने जिसको अन्न से विकास पाने वाला बतलाया है वह अन्न प्रथम 'रेणु' है। यही तब अन्नाद कहलाता है जब यह विकास पाने लगता है, बिना अन्नाद हुए विकास सम्भव ही नहीं। अन्नाद सृष्टि आसुरी है, समस्त सृष्टि आसुरी है, समस्त विकास असुर या आसुर हैं। इनके दैव भाग भी हैं, प्रत्येक में दैव भाग या सौम्य भाग या सोम भाग या वही आध्यात्मिक (पञ्चविध) भाग भी हैं। इन्हीं दोनों प्रकार के भागों के सम्मिश्रण से बना हुआ यह परमाणु है। यह है सर्व बीजात्मक सर्वशक्तिमान् सृष्टिकारक ५० वाँ ब्रह्म। इसका वैदिक नाम है 'विवर्तः' जैसे "विवर्तो ऽष्टाचत्वारिंशत्"* कि ४८ वाँ 'विवर्त' नामक ब्रह्म है। इसमें आदि और मध्य ब्रह्म को जोड़ें तो यह ५० वाँ ही होता है, अतः प्रथम परमाणु ५० वाँ आकाश या खं ब्रह्म प्रथम विवर्त है। अब चल पड़ा विवर्त आगे। विवर्त, माने विशिष्ट रूप

*'ऋचो अक्षरे' में श० प० ब्रा० का उद्धरण देखें।

से व्यावृत करने वाला (आकृष्णेन रजसा वर्तमानो; वृणीते वृत्रः इत्यादि) या विकास पाने वाला है।

अव्यय कल्पवृक्ष का आदि मूल न तो रेणु ही है न परमाणु। ये तो क्रम से २५ वें और ५० वें तत्त्व हैं। इसका मूल तत्त्व है अक्षरब्रह्म (ब्रह्म) जिसमें ८६,२०,०००००० या ४,३२,००,०००००० या इससे अनन्त संख्या के अक्षर या अन्न अन्नादों के मूल बीज सार भूत या विद्युच्छर स्वरूप या ऋतसत्यशरसंघातरूप या पञ्चात्म संघात में ब्रह्ममय एकमय होकर रहते हैं, वे हैं तो अनन्त, पर एकमय एकात्म्य ब्रह्मरूप होने से 'एक' नाम से पुकारे जाते हैं, फिर भी वैदिकों का आदेश है कि कहना यही चाहिए कि बहुत हैं, एक नहीं, 'बहवः इति वक्तव्यम्' (ब्रह्मविषयक संकेतावली देखें)। इसीलिए आदि सांख्यकार ने 'अनन्ताः पुरुषाः' कह दिया था। वृक्ष जितना बड़ा बाहर दिखलाई पड़ता है, प्रायः उतना ही गहरा नीचे भूमि के अन्तर्गत होता है। सृष्टि वृक्ष के मूल में भूमि के अन्तर्गत भाग में २४ तत्त्व आते हैं। यह वृक्ष उलटा है, इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं, तना टहनियाँ शाखायें नीचे की ओर। अतः कहा है "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।" (अथर्व) "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥" (गीता १५-१) जिनका मूलस्रोत ऋग्वेद में इस प्रकार मिलता है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः" (१०-३१-७; १०-८१-४)। इस ऊर्ध्वबुध्न वृक्ष में विश्वरूप यशः या भौतिक तत्त्वों का सार निहित है। यशः नाम सूर्य, चन्द्रमा आदि भौतिक तत्त्वों का है। इस वृक्ष के पर्णानि पत्ते वही हैं जिनकी गिनती ८६,४०,०००००० व्रतों, वर्षों या योनियों की जातियों में की गई हैं, जिनको सरलतया या संक्षेपतया व्याख्यात करने के लिए विभिन्न अक्षर संख्या के छन्दों के पुञ्जों या वैदिक मन्त्रों का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न साथ में यह भी उठता है कि यह वृक्ष उग किस भूमि में है? अज्ञ भी इस वृक्ष की उत्पत्ति की भूमि ब्रह्म को ही बतलायेगा। हमारे यहाँ अष्टौ लोकाः, अष्टौ धामानि, अष्टौ पुरुषाः, अष्टौ चक्राणि प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक के अष्टकों के अलग-अलग नाम हैं, अष्टौ लोकाः ये हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं और आदि का ब्रह्म। इनमें से प्रथम तीन लोक 'भूर्भुवः, स्वः' इस वृक्ष के मूल में हैं। इन्हीं की भूमि के अन्तर्गत ब्रह्म वृक्ष का मूल है। इसी मूल को गायत्री ब्रह्म (२४ तत्त्वों का) कहा जाता है, इसी को गुहा या गुहावासी कहा जाता है। इसीलिए गायत्री मन्त्र में 'भूर्भुवः, स्वः' को आदि में अनिवार्यतया उच्चरित भी किया जाता है।

३—पुरुष या अक्षर ब्रह्म एक है या अनेक? और सृष्टि कल्पवृक्ष

वैदिकों ने अपने दर्शन में जिस अलौकिक अद्भुत तथा सरलतम वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया है, उसे देख सभी को बड़ा ही आश्चर्य होगा। वृक्ष का अंकुर जब भूमि को चीर कर बाहर फूटता है तो वह केवल एक पर्ण या सुपर्ण

रूप में सुकोमल पर्णरूप में निकलता है। दूसरे दिन आप उसे देखने जावेंगे तो उसमें आप एक से दो पर्ण बने पायेंगे। बस, वृक्ष के तने शाखा प्रशाखा आदि बनने का तब श्रीगणेश आरम्भ हो जाता है। सृष्टि वृक्ष की विकास व्याख्या में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते" (ऋ० वे० १-१६४-२०) के दो सुपर्ण, येही दो पर्ण या पत्ते हैं, प्रथम पर्ण रेणु है और द्वितीय पर्ण सोम। यहाँ से भौतिक और आध्यात्मिक सम्मिश्रित सृष्टि रूप वृक्ष पनपने लगता है। सुपर्ण शब्द की व्याख्या 'सोम' शीर्षक में देखें। वैसे पर्ण माने पूर्ण (ब्रह्माण्ड) रूप पत्ता है, सुपर्ण=प्राण रूप पूर्ण ब्रह्माण्ड (पृणातीति पूर्णायते इति पर्णः)। हंस विद्या में सुपर्ण माने प्राणरूप 'पक्ष' या 'पर' वाला पक्षी होता है। यहाँ से सृष्टिवृक्ष एक-एक बाल की खाल के बराबर २५ काण्डों, पर्वों या परुषों में क्रमशः ४३२०, ०००००० विकास पाकर अन्त में परमाणु रूप तने के रूप में प्रस्तुत होता है, "काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि" और जब यह तना शाखा प्रशाखाओं द्वारा अनन्तता की ओर झुकता है; तब कहते हैं "एवा नो दूर्वा प्रतनु सहस्रेण शतेन च।" दूर्वा नाम 'धूर्वा'* का संक्षेप है; धूर्वा इसी परमाणु रूप ५० वें विवर्त ब्रह्म का नाम है (श० प० ब्रा० ७-३-२-१२)। धूर्वा का सीधा अर्थ है 'धुरं वहतीति धूर्वा'। जो आदि धुरी है वही धूर्वा या दूर्वा या परमाणु है, विवर्तीय ब्रह्म है। यह सब सृष्टि अव्यक्त सृष्टि है। व्यक्त सृष्टि का आरम्भ परमाणु नामक विवर्तीय ब्रह्म से होता है। पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्व अव्यक्ततर हैं, आदि ब्रह्म अव्यक्ततम।

४—सुपर्ण और द्वा सुपर्णा

व्यक्त अव्यय कल्प वृक्ष ज्यों-ज्यों आगे पनपता जाता है, त्यों-त्यों उसके विकास योग्य परिस्थितियाँ साथ-साथ बनती जाती हैं, जैसे गर्भ में बालक की उत्पत्ति के साथ-साथ माता के स्तन में दूध के बनने का क्रम चल पड़ता है, जिससे बालक का जन्म होते ही जीने और विकास पाने का मौलिक अन्न मिल जाता है। प्रत्येक विकास अपने विकास की पूर्वापर योजना के साथ चलता है। जिस प्रकार अव्यक्त सृष्टि के सात सप्तक या षडष्टक हैं, उसी क्रम से व्यक्त सृष्टि के भी सप्तलोक या षडष्टकीय लोक हैं। ब्रह्म अष्टम है। येही इस व्यक्त ब्रह्माण्ड के अष्टचक्र भी हैं, वैयक्तिक ब्रह्माण्ड भी अखिल ब्रह्माण्ड का एक संक्षिप्त नमूना है। उसमें (हमारे जैसे लोगों में) भी वही अष्टचक्र हैं। पारिवारिक ब्रह्माण्ड (सौरमण्डलादिक) भी इसी प्रकार अष्टचक्रीय हैं। इन अष्टचक्रों में से [१]श्रीः, वसु, [२]रुद्र, [३]आदित्य-विश्वेदेव-मरुतः, [४]असुर, [५]सिद्ध-साध्य, [६]"यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नक्षत्र," [७]अश्विनौ, [८]सूर्य, ग्रह-मण्डल, चन्द्रमा, अन्न, अन्नाद हैं। इनके विशद वर्णन का क्षेत्र सांख्ययोग दर्शन है। लेखक के सांख्ययोग के १८ वें अध्याय को देखें। वेदों में जो ३३ देवता हैं वे तो मौलिक तत्त्व हैं; उनसे ३३ करोड़ देवता (पुराणों के) येही विकास हैं। इन्हीं को वस्तु

५—व्यक्त ब्रह्माण्ड का विकास

*श० प० ब्रा० ७-३-२-१२

या आधार बनाकर मौलिक तत्त्वों का रहस्य वर्णित किया गया है। जिस प्रकार अश्वत्थ या वट धीरे-धीरे उतना बड़ा विशाल रूप केवल एक क्षुद्र बीज मात्र से धारण करता है उसी प्रकार परमाणु रूप बीज से व्यक्त कल्पवृक्ष धीरे-धीरे इतने बड़े विशाल ब्रह्माण्ड का स्वरूप धारण कर लेता है। परमाणु में ८६,४०,०००००० पर्ण हैं, उतने ही तने या शाखायें, उनसे पुनः शाखा प्रशाखायें फूट कर चार अरब बत्तीस करोड़ बन जाती हैं। एक कल्प इतने ही वर्षों का होता है, इसमें दो अरब बत्तीस करोड़ अन्न या गोल या फल या पुष्प हैं, जिनमें इतनी ही अन्नाद जातियाँ भी हैं। तब कल्पवृक्ष पूरा होता है, यह है अव्यय कल्पवृक्ष।

६—व्यक्त या परमाणु से क्रमिक विवर्त

वैज्ञानिक दृष्टि कोण से वह प्रथम विवर्तीय परमाणु सर्व प्रथम एक अणुबम के समान था। उसका विकास उसमें एक बृहद्विस्फोट को ले आया, जिससे उसके ८६४०००० तत्त्व सूक्ष्म रूप से चारों ओर इस प्रकार फैल गये जैसे अतिशबाजी के गोले के परिमित उज्वल कण। वेही तत्त्व एक से दो, दो से चार, चार से सोलह, सोलह के दो सौ छप्पन की वर्गाकार शैली में चार अरब बत्तीस करोड़ पिण्डों का क्रमिक निर्माण करने में समर्थ हुए। परमाणु विस्फोट विकास क्रम को देख कर यह सरणि सरलता से विदित हो सकेगी। आज का परमाणु तो एक सेन्टीमीटर का १०००००००००००० वां अंश है। एक ही तत्त्व का इतना छोटा अंश है, वह अणु तो समस्त ब्रह्माण्ड के अखिल बीजों का सारमय पिण्ड था। अतः जितनी शक्ति आधुनिक परमाणुबम में है वह उसके सामने कम से कम चार अरब बत्तीस करोड़वें अंश के समान भी नहीं हो सकती, फिर भी यह इतना बली प्रभावशाली और प्रलयंकारी है। इस अणुबम में प्रलयकारिता है तो उस अणुबम में रचनात्मकता, सृष्टिकारिता और मधुरता थी। दोनों में इस प्रकार आकाश-पाताल का अन्तर है। एक प्राण हारक है, दूसरा प्राणमय प्राणदायक। दोनों का साम्य अणुता और उसके विस्फोट एक बार नहीं क्रमशः सहस्रों बार होते रहने में है; जब तक कि 'यथापूर्वमकल्पयत्' के लिए उचित परिस्थित या मौलिक परिस्थिति उपस्थित न हो सकी। यह सब क्रिया वैद्युतीय अणुओं के पुञ्जों के रूप में छः सप्तकों के बनने तक चलती रही। छठा सप्तक सूर्यों का है, आकाश गंगा की अन्तिम छोर है। इनसे भारी परिमाण के पुञ्ज ठोस रूप से बढ़कर पहिले शुण्डाकार फिर दश विभिन्न ग्रहों के स्वरूप में प्रस्तुत हुए। इनमें सबसे बड़ा (गुरु) ग्रह बृहस्पति है, जो अपने बड़प्पन के कारण गुरु भी कहलाता है। इसके अगल बगल के क्रमिक ग्रह क्रमशः छोटे और क्रमशः बराबर की दूरी में, पर सूर्य से क्रमशः बड़े-बड़े अयनवृत्त वाले हैं। यही सप्तम सप्तक या चक्र है। आदि चक्र परमाणु विवर्त है।

यह सारी सृष्टि पाञ्चभौतिक सृष्टि है, पञ्चात्मीय सृष्टि का भौतिक स्वरूप है, केवल अन्न सृष्टि है, जिसे वास्तव में आसुरी सृष्टि की पराकाष्ठा कहना चाहिए।

इनका जीवन जलना जलाना, तेली के बैल की तरह एक धुरी के चारों ओर चक्कर काटना मात्र है, यन्त्र की तरह तन्त्र में बंधकर चक्की पीसना जैसा ही है। जब

७—स्थूल सृष्टि का प्रारम्भिक स्वरूप

ग्रहों में शीतलता अपने स्वस्थ वृत्त पर आती है, तब अन्नाद सृष्टि का आरम्भ होता है। तारों में पञ्चात्मायें आनन्द से रहती हैं उनका मुख ही अग्नि है 'अग्नि वैं देवानां मुखं' अग्नि ही उनका भोजन भी है। पर ग्रही प्राणी में पञ्चतत्त्व परिमित अनुपात से रहते हैं। वह हिरण्यगर्भ है, अखिल ब्रह्माण्ड का एक दिव्य नमूना है। वह एक अन्नाद है, दूसरों का अन्न भी। इनकी आत्मायें अग्नि स्वरूप में ही इन ग्रहों में पुञ्जीभूत हुई हैं। वेही पार्थिव गर्भाशय पाकर प्राणी रूप में स्वयं प्रस्तुत हो गये। पहिला प्राणी दिव्य प्राणी होगा, प्रत्येक जाति का दिव्य प्राणी होगा, चाहे वृक्ष हो या जीव। आजकल के वैज्ञानिकों की विकास शैली कि मछली, मेंढक आदि से होते-होते बन्दर, तब मनुष्य बनने की कल्पना, अवैज्ञानिक तो है ही अदार्शनिक भी है। ऐसा होता तो अब भी ऐसा होते देखने में आ सकता। जिस प्रकार प्रथम मछली बनने की ठीक कल्पना है उसी प्रकार मनुष्य की कल्पना भी जल मनुष्य रूप में हो सकती है, नाना प्राणी, पक्षी आदि वृक्षादि का मूल स्रोत कोई ऐसी ही स्थली रही होगी जो जलमय रही हो। जलचर का स्थलचर बनना कोई अस्वाभाविक नहीं लगता। सृष्टि चालू होने से मतलब है। हमारे पुराणों की बालमुकुन्द की पीपल के पत्ते की नाव में सोकर समुद्र में तैरते रहने की कथा व्यक्त ब्रह्माण्ड के इस मानव सृष्टि के प्रथम पहलू का विवेचन रहस्य द्वारा देती हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अव्यक्त सृष्टि विवेचन में यह वर्णन 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' का वर्णन देता है। भौतिकता का आरम्भ भी इन्हीं सुपर्णों से होता है, प्राणिसृष्टि (वृक्ष और जीव) को भी व्यक्त ब्रह्माण्ड में येही सुपर्ण करते हैं। यह हमारे वैदिकों की अद्भुत प्रतिभा की महिमा है जो एक ही वाक्य में कई प्रकार के रहस्यों को कूट-कूट कर भर सकी है।

एक दूसरा भी रहस्य है। सूर्य से जब ग्रह बनने लगे, तब क्या उस समय ग्रहों का पार्थिव भाग बन गया होगा? कदापि नहीं। उस सूर्य से तो भार रूप

८—ग्रह निर्माण, इस पृथिवी का प्रकट होना और आर्यों का आदि स्थान

अग्नि की ज्वाला रूप में ही ग्रहों की धार निकली होगी। अग्नि के प्रवाह का विकास जल होता है। अतः ग्रहों का द्वितीय स्वरूप तो जलमय ही होना चाहिए। जल का विकास पृथिवी रूप में होता है। इसीलिये प्रत्येक ग्रह में जल की मात्रा स्थल मात्रा से लगभग तिगुनी है। उससे जितनी पृथिवी बन सकी वेही पर्वत, मैदान आदि बने। यह अधिक संभव है कि कई लाख वर्ष तक सब ग्रह जलमग्न रहें होंगे, जीव भी इसी में रमते रहे होंगे, ज्यों-ज्यों पृथिवी का भाग दृश्य होने लगा, प्राणी भी स्थलचर बनते चले। सम्भवतः सर्व प्रथम पृथिवी का दर्शन हेमाद्रि (हिमालय पर्वत) के रूप में हुआ होगा। यही भूमि आर्यों की सर्व प्रथम निवास की

देव भूमि भी है। कैलास के मानस सरोवर में रुद्र रूप जीवात्मा का निवास इसी ओर संकेत करता है। "अन्तर्हृदा मनसाः पूयमानाः···। तस्मिन सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः" (नारा० उप०)। पुराणों की मत्स्यावतार-कथा का रहस्य भी यही प्रतीत होता है कि पहिले मनुष्य जलवासी था और शतपथ ब्राह्मण (१-६-३) के उल्लेख से इस बात की पुष्टि होती है। मनु का आरम्भ प्रातः या सूर्योदय से होता है। वह अपने को जलप्लाव या विप्लव में या चतुर्थ सप्तक में पाता है। उसे मछली रूप नाव मिलती है, उस नाव को वह सृष्टि वृक्ष पर, आदि गिरि पर बांधता है। यहां पर आदि प्राण रूप मनु है। पर यहां प्रत्यक्ष लौकिक मानव सृष्टि का भी मुख्य संकेत है कि मानव की आदि सृष्टि या इस कल्प की आदि सृष्टि उत्तर गिरि या हेमाद्रि से ही प्रारम्भ हुई, जब कि इस पर्वत तक समुद्र था। यह स्थिति कब थी, चन्द्रमा के विस्फोट के समय या किसी भयंकर ज्वाला मुखी के फटने के बाद में, कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। पर इतना निश्चित है कि वर्तमान जीव सृष्टि हेमाद्रि से ही आरम्भ हुई। मानव सृष्टि उक्त विस्फोट से पहिले भी अवश्य रही होगी, जिनमें से मनु और श्रद्धा किसी बड़ी मछली की नाव में बैठकर जीवित रह सके। कथानक में भूमि का भी संकेत दिया है, (श० प० ब्रा० १-६-३-६)

"अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद्यावद्यावदुदकं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति"।

पुराणों में वराहावतार द्वारा पृथिवी को समुद्रतल से उद्धृत करने की बात कही गई है। यह आख्यान, उक्त व्याख्यान की पुष्टि करता है। वराह नाम वेदों में रुद्र का है। रुद्र को 'दिवो वराहमरुषं कपर्दिनम्' (ऋ० वे० १-११४-५) कहा है और (श० प० ब्रा० ५-३-५-१९) ने वराह की उत्पत्ति घृत रूप अग्नि अर्थात् चतुर्थ सप्तक से मानी है। यह सप्तक महादेव रुद्र का ही है। अतः वराहावतार की कथा सीधे-सीधे पृथिवी का प्रकट होना, वह भी हेमाद्रि रूप में ही स्वयं सिद्ध कर देता है, "अग्नौ ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयां-चक्रुस्ततो वराहः सम्बभूव तस्माद्वराहो मेदुरो घृताद्धि संभूतस्तस्माद्वराहे गावः संजानते" इत्यादि)। 'चत्वारिश्रृंगा' नाम की ऋचा में महादेव नामक सोम चतुर्थ सप्तकीय ही वराह कहलाता है, वहां यह सत् या भौतिक या पृथिवी का संकेतक है,

"महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन्"
(ऋ० वे० ९-९७-७)।

अतः यह पुष्ट मत प्रतीत होता है। त्रिविष्टप् नाम का—जो त्रिपाद् ब्रह्म का पारिभाषिक संकेतक है—आधार भी यही त्रिविष्टप (तिब्बत) प्रतीत होता है (ऋ० वे० ८-९१-५)। अतः प्रथम मानव सृष्टि इसी (हिमालय) हेमाद्रि की गोद में कैलास मानस सरोवर के ही आस-पास से हुई प्रतीत होती है। तब हेमाद्रि में

हिम नहीं रहा होगा और भूगर्भ शास्त्रियों का मत भी इस मत की पुष्टि करता है। यह अधिक सम्भावना भरा विचार प्रतीत होता है। समुद्र धीरे-धीरे आगे बढ़ा और हिमालय से ही आर्य जाति भारत में और विदेशों में बिखरी। चीन में एक और ऊँची चोटी है, उसके पास से मंगोल पीली जाति का अभ्युदय हुआ होगा। आर्य लोग नदियों के घाटियों के साथ-साथ भारत में या पश्चिमी तुर्किस्तान आये होंगे। पारसीक आर्य भारत से सिन्धु पार कर गये होंगे। इसी-लिये उनके जिन्दावेस्ता में वेदों की छाप है, जिन्दावेस्ता की छाप वेदों में बिलकुल नहीं मिलती। जिन्दावेस्ता की भाषा, हमारी वैदिक भाषा से अधिक बिगड़ी और अपभ्रंश रूप में हैं, मौलिक रूप में नहीं। अभी नहीं कहा जा सकता कि कहीं ये पारसीक आर्य वहीं द्रुह्यु वंश के आर्य तो नहीं हैं जिन्हें दाशराज्ञ युद्ध में ध्वस्त कर भारत से बाहर खदेड़ दिया गया था। क्यों कि बड़े ऐतिहासिकों ने हमारी वैदिक संस्कृति के सच्चे स्वरूप का ज्ञान न होने से, कुछ विपरीत मत प्रगट कर आर्यों की जन्म भूमि मध्य एशिया से नार्वे और उत्तरी ध्रुव तक खींच डाली है, इससे उनके जातीय गौरव को प्रतिष्ठा मिलती है। आर्य जन्म भूमि भारत त्रिविष्टप मानने पर उनके जातीय गौरव को धक्का लगता है।

९—आर्य और शूद्र

पाश्चात्यों ने आर्यों के भारत में विदेश से आने की भूमिका बाँधते हुए यह तर्क भी दिया है कि वेदों के शूद्र उनके मत से भारत के आदि वासी कोल, भील, द्रविड़ जातियों के थे। पर खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वेदों में अङ्कित शूद्र या दास वर्ण कोई अनार्य जाति नहीं थी। ये शूद्र या दास वर्ण सब आर्यों के ही सम्प्रदाय के लोग थे। इनकी वृत्ति मात्र शूद्रों या दासों की थी। इसके प्रमाण में निम्नलिखित ऋचायें दी जाती हैं जिनमें दास वर्ण को स्पष्ट शब्दों में आर्य नाम से पुकारा गया है। "अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।" (ऋ० वे० १०-८६-१९) "हतोवृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती। हतो विश्वा अप द्विषः।" (६-६०-६ ऋ० वे०) इत्यादि। और 'दास' को वर्णों के अन्दर मानकर उन्हें आर्यों के खोल में ही समझा है अनार्य नहीं 'दासं वर्णमधरं गुहाकः" (२-१२-२)। वास्तव में शूद्र या दास चतुर्थ सप्तक के पूषा पशुओं का नाम है, यह नाम तत्त्वों का है; किसी जाति का नहीं। हां, आर्यों में दास या शूद्र वर्ण अवश्य था। इनका रंग ईष-त्कृष्णपिंगल (गोधूम) भी था। ये भौतिकता में अधिक सने शारीरिक श्रम जीवी थे। अतः पाश्चात्यों का उक्त तर्क निराधार सिद्ध हो जाता है।

१०—वेदवृक्ष

वैदिकों ने अपने दर्शन को वेदवृक्षदर्शन नाम से भी पुकारा है। इसी आधार पर वेदों की नाना प्रकार की विद्याओं की विवेचना करने वाली संहिताओं का नाम 'शाखा' पड़ा है। संहिता रूप शाखाओं के समाहार का नाम ही वेद या वेदवृक्ष है। इनके छन्दों का नाम पर्ण है। इनके मुख्य तने तीन ऋग्, यजु, साम हैं। पर दर्शन की व्याख्या के अवसर पर ये मुख्य तने, शाखायें और पर्ण सब वैदिक दर्शन के पृथक्-

पृथक् तत्त्वों के नाम हैं। इन्हें 'ऋचो अक्षरे' कहते हैं। जो इन्हें जानता है उसी को वेदविद् कहा जाता है। जो इन्हें नहीं जानता वह वेदों को छूकर क्या करेगा, यह वे वैदिक स्वयं कह गये हैं। 'ऋचो अक्षरे' की व्याख्या में इन तत्त्वों को और इन उद्धरणों को विस्तार से दे दिया है। इसी ओर संकेत करते हुए गीता में कई स्थलों में कहा है'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' 'यस्तं वेद स वेदवित्' इत्यादि। वेदवृक्ष दर्शन के तत्त्व वेही हैं जो अव्यय कल्पवृक्ष और 'ऋचो अक्षरे' में वर्णित किये जा चुके हैं।

अध्याय १३

ब्रह्मविषयक

वैदिक रहस्य की संकेतावली

वेदों में 'ब्रह्म' के संकेतक शब्द अनेक हैं, वेदों के बनने के पहिले ही वैदिकों ने अपने दर्शन के तत्त्वों के नाम नाना मार्गों के अनुसार ढाल लिए थे।

१—शाखानुसार ब्रह्म के भिन्न-भिन्न नाम

प्रत्येक वैदिक को दूसरे सब मार्गों के पारिभाषिक शब्द मान्य थे। इस प्रकार वेद नाना मतों का एक ठोस मतैक्य प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्म को अध्वर्यु लोग सबसे पहिले 'अग्नि' नाम से पुकारते थे। उस नाम को सबने स्वीकृत कर लिया। याजक लोग उसी ब्रह्म को यजु नाम से पुकारते थे, साम गायक 'साम' नाम से। यजु इसलिए कि वह सर्वत्र व्याप्त या युक्त रहता है, साम इसलिए कि वह सब में समान प्राणरूप में रहता है। 'ऋग्वेदी' या 'बह्वृच' लोग उस ब्रह्म को 'उक्थ' नाम से पुकारते थे; क्योंकि उसी ब्रह्म से सब सृष्टि उद्भूत होती है। यातुविद् लोग पराशर आदि (ऋ. वे. ७-१०४-२१) उसे 'यातु' नाम से पुकारते रहे, क्योंकि उससे समस्त ब्रह्माण्ड संयत रहता है। सर्प लोग उसे 'विष' नाम से पुकारते थे, क्योंकि वह ब्रह्म विष की तरह चिकित्सा या विचिकित्सा द्वारा आनन्द देने वाला है। रुद्र के कण्ठ का विष यही प्राणरूप विष है (खानेवाला, मारने वाला विष नहीं)। सर्पविद् लोग उसे सर्प या अहि नाम से या कीटाणुवाद रूप में मानते रहे। देवता लोग उस ब्रह्म को ऊर्क् या 'ऊर्ज' (प्राण) नाम से पुकारते हैं। देवता तो ३३ ही हैं जिनमें से २४ से ३३ वें तक के मनुष्य कहलाते हैं, २४ देवता या तत्त्व 'ऊर्ज' 'ऊर्क्' कहे जाते हैं। मनुष्य या २४ वें से ३३ तक के देव उस ब्रह्म को 'रा' 'रयि' या धन नाम से पुकारते हैं, उसी को असुर लोग माया या रहस्य नाम से पुकारते रहे। असुर देवों के सगे भाई भौतिकता प्रधान मात्र, वही तत्त्व कहलाते हैं जो देवता हैं। पितर उसे 'स्वधा' नाम से कहते हैं, देवजनविद् उसे 'देवजन' नाम देते हैं। गन्धर्व या नक्षत्र उस ब्रह्म को 'रूप' नाम से पुकारते हैं और अप्सरायें उसी ब्रह्म को गन्ध नाम से कहती हैं 'गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्' इत्यादि।

जैसे :—"तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगा एतस्मिन्हीदं सर्वं समानमुक्थमिति बह्वृचा एष हीदं सर्वमुत्थापयति यातुरिति यातुविद एतेन हीदं सर्वं यतम्। विषमिति सर्पाः सर्प इति सर्पविद ऊर्गिति देवाः रयिरिति मनुष्या मायेत्यसुराः स्वधेति पितरो देवजन इति देवजनविदो रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरसस्तं यथा यथोपासते तदेव भवति।" (श० प० ब्रा० १०-५-२-२०) (अर्थव ८-५-५)

जो जिस ढंग से माने उसे उसी प्रकार सिद्धि मिल जाती है। गीता ने इसी कथन को अपने दूसरे वचन में इस प्रकार कहा है "ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम् ॥" गीता ने तो ब्रह्म को 'भूत-प्रेतगण' इत्यादि नामों से भी उपासित किये जाने की बात कही है। ये भूत-प्रेत भी कोई दूसरी चीजें नहीं हैं। ये नाम और स्थान भेद के तत्त्व हैं जिनकी व्याख्या भी वेदों में दी गई है। तत्त्वों के अन्य नाम पर्ण, व्रत भी हैं; तत्त्व समूह व्रात हैं, सम्पूर्ण व्रत ८६४०००००० हैं। इनके समूह को 'व्रात्य' कहते हैं। अथर्व १५वें काण्ड में यही व्रात्य संवत्सर ब्रह्म है। अथर्व में ही व्रत माने तत्त्व सैकड़ों बार आया है।

अब 'हिरण्यगर्भ' शब्द के रहस्य को देखें। 'हिरण्य' नाम रुक्म या सुवर्ण का है। ऋग्वेदी लोगों की एक शाखा ब्रह्म को अग्नि कहती रही, दूसरी उक्थ तो तीसरी शाखा उसे 'रुक्म' या हिरण्य या सुवर्ण नाम से भी पुकारती रही। इस कथन की पुष्टि में कई उद्धरण मिलते हैं।

२—हिरण्यगर्भ शब्द या तत्त्व का रहस्य

(१) "स एष त्रीष्टकोऽग्निः। ऋगेका यजुरेका सामैका। तद्याङ्काश्चात्रऽर्चोपदधाति रुक्म एव तस्याऽऽयतनम्। अथ यां यजुषा पुरुष एव तस्या आयतनमथ यां साम्ना पुष्करपर्णमेव तस्या आयतनमेवन्त्रीष्टकः" ॥२१॥ "ते वा एते, उभे एष च रुक्म एतच्च पुष्करपर्णमेतम्पुरुषमपीत उभे ह्यृक्सामे यजुरपीत एवम्वेकेष्टकः ॥" (श० प० ब्रा० १०-५-२-२१,२२)।

जब ऋग्वेदी ब्रह्म को रुक्म, सुवर्ण या हिरण्य कहते हैं तब यजुर्वेदी उसे पुरुष और सामवेदी पुष्करपर्ण (कमलपत्र) कहते हैं। ये सब नाम ब्रह्मरूप अग्नि के हैं जिसे इस प्रकार त्रीष्टक या तीनों के तीन इष्ट कहते हैं। पुरुष नाम तो गायत्री ब्रह्म का और पुष्करपर्ण 'अष्टौचक्राः' विद्या का आधारस्तम्भ है। यहाँ हम हिरण्यगर्भ की व्याख्या कर रहे हैं। अतः इस विषय पर अन्य उद्धरण अधिक स्पष्टता लाने के लिए दिये जाते हैं। बृहदारण्यक (१-२-२६) ने 'सुवर्ण' शब्द की व्याख्या देते हुए लिखा है—

"तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद" और उक्त साम नामक सुवर्ण का ब्रह्म से अभेद करते हुए लिखा गया है कि (ब्रह्मणस्पति ब्रह्म वाग्) "एष उ एव साम, वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वं।" (१-२-२२) यह वाक्य पिछले परिच्छेद के 'सामेति छन्दोगा एतस्मिन्हीदं सर्वं समानम्' की पूर्ण पुष्टि करता है।

इस साम को स्व या स्वा नाम से भी पुकारा जाता है जिससे 'स्वाहा' शब्द भी बनता है। और इस स्व या स्वा का अर्थ भी स्वर या शब्द ब्रह्म ही है, यही अर्थ सुपर्ण या रुक्म या हिरण्य का भी है जैसे "तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत ॥" (१-२-२५)। इस प्रकार स्वं, स्वा, सुवर्ण, साम, हिरण्य और रुक्म ये सब नाम ब्रह्म के हैं और इनका अर्थ शब्द ब्रह्म है। हिरण्यगर्भ माने सुवर्ण गर्भ

या स्वरगर्भ, शब्दगर्भ, या शब्दब्रह्म हुआ या प्राणगर्भ। स्वं माने प्राण भी होता है। रुक्मगर्भ माने प्रकाश गर्भ या ज्ञानगर्भ 'रोचते इति रुक्म्' है। हिरण्य नाम रखने में एक और रहस्य भी है। हिरण्यगर्भ नाम ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति का है। बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति से पर्वतों का अभ्युदय होता है, वह स्वयं हिमालय पर्वत है। "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं वि पर्वतम् (ऋ० वे० २-२४-२)। उस पर्वत को वसुमान् वसुदेवता वाला या हिरण्यादि वसु या धन वाला या रत्न वाला माना गया है। अतः उसे हिरण्यगर्भ कहा गया है। और इस 'हिरण्य' माने भी प्रकाशमय, ज्ञानमय ही होता है "हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः" इत्यादि विशेषण इसी बात की पुष्टि करते हैं। गर्भ, नाम, द्यौ, अन्तरिक्ष, वेदि, दुरोण, नृषद् आदि सदों का है। हिरण्यगर्भ माने वह शब्दब्रह्म या प्रकाशमय, ज्ञानमय ब्रह्म है जो उक्त सप्त सदों में क्रम से निवास करता है। अथवा 'हि' निश्चयपूर्वक ही जो रणनशील या शब्दमय है वह है 'हिरण्य'। यह अपूर्व अव्ययीभाव समास 'सुवर्ण' पद के 'सुवर्णं स्वरः (शब्द) एव सुवर्णम्' के अनुरूप दार्शनिक व्युत्पत्ति है। ऐसा हिरण्य या शब्द जिसके गर्भ में है वह है हिरण्यगर्भः। तब लिखा है "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"। इस मन्त्र का पतिशब्द मिथुन में पतिपत्नी रूप तो है पर भूत तत्त्वों का 'संरक्षक' अर्थ रखता है, मिथुन, द्यौ इत्यादि का है, अतः हिरण्यगर्भ है। यह हिरण्यगर्भ अक्षर ब्रह्म है, विकासोन्मुख ब्रह्म है, इसमें द्यौ रूप आत्मीय प्राणीय भौतिकता है।

अक्षर ब्रह्म के अन्य नाम गिरि, नदी, सिन्धु भी यही अर्थ रखते हैं, 'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः' (मु०उप)। जो गिरा (या वाक्) है वही गिरि, गिर या ब्रह्म है, जैसा कि अथर्ववेद

३—ब्रह्म के पञ्चपर्वा विद्या परक नामों की व्युत्पत्ति

ने लिखा है 'गिर्दुरमण्य ऊर्जा मधुमती वाक्' (अथर्व १६-२-१) कि गिर्, दुर्, ऋ, मणि (मण्य) नाम मधुमती वाक् (ब्रह्म) के हैं। वदनशील, वाग्ब्रह्म स्त्री लिंग में स्पष्टता के लिए 'नदी' (वाक्) कहलाता है, नित्यनदनशीला वाग्ब्रह्म ही नदी है। 'सिम् स्वयं ध्वनतीति सिन्धुः' जो स्वयं शब्दमय है (वासस्तनुते सिमस्मै १-११५-२)। वही शब्द ब्रह्म सिन्धु है, (ऋ० वे० १-१६४-४२); 'तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति।' 'अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः' इत्यादि (य० वे० १३-३८)। 'पर्वणि पर्वणि जातः पर्वतः' ५० तत्त्व ५० पर्व हैं। जो इन पर्वों द्वारा विकसित होता है, वही पर्वत है "पर्वभिर्वावृधानः" "पर्वशश्चकर्त गामिवासिः" (ऋ० वे० १०-७९-६,७)। पञ्चपर्वा विद्या में अनेक उद्धरण दिये हैं, देखें। इसी प्रकार दुर्गं दुर्गं इति 'दुर्गाणि' (स नः पर्षदति दुर्गाणि इत्यादि)। जब ब्रह्म को मनः स्वरूप में वर्णित करते हैं, जैसे 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमित्यादि' में, तब उसे मानस सरोवर कहते हैं 'अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः' (यजुः १७-९४, १३-३८)। इसी प्रकार वृश्चतीति 'वृक्षः' सृष्टि वृक्ष भी ब्रह्म ही है। 'समुदेतीति समुद्रः' भी ब्रह्म ही है। मण्डूकादि चतुर्थ सप्तक के प्रतिनिधि हैं।

वर्तमान युग में हमारे न्याय और व्याकरण शास्त्रों के विद्वान् 'शब्द' पर विचार करते हैं। कोई 'शब्दोऽनित्यः' (न्याय) कहते हैं, कोई 'शब्दो नित्यः' (व्याकरण)। बड़ा आश्चर्य होता है कि ये किस 'शब्द' की चर्चा करते हैं। सम्भवतः कभी-कभी वैयाकरण लोग भर्तृहरि के 'स्फोट' नामक शब्द को नित्य कहते हैं। न्याय वालों के पक्ष में आधुनिक विज्ञान है। वह उच्चरित ध्वनि को अनित्य या क्षणिक मानता है। पर वैदिकों का शब्द या शब्द ब्रह्म न तो उच्चरित ध्वनि है, न स्फोट। स्फोट का सम्बन्ध भी उच्चरित ध्वनि के मौलिक रूप से ही है। यह मौलिक स्वरूप क्या है? इसकी तत्त्वतः विवेचना वाक्यपदीय भी नहीं दे सका है। हां, उसने इसका मूल स्वरूप ॐकार माना है। पर प्रश्न तो यह है कि यह ॐकार है क्या? इसकी चर्चा तो सभी उपनिषदों में मिलती है, पर इसकी तात्त्विक व्याख्या अबतक गहन अन्धकार में है। ॐकार का सम्बन्ध अक्षर ब्रह्म से है। अक्षर ब्रह्म की व्याख्या केवल प्रतिभादर्शन के विज्ञान मात्र से की जा सकती है। इसका सूत्रपात 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' आदि ऋचा करती है। यह वैदिकदर्शन की आधार शिला है। स्फोट तो परा या उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की अन्तिम श्रेणी के शब्द का स्वरूप है। उसके पहिले उत्तरार्द्ध के प्रथम २० तत्त्वों तथा पूर्वार्द्ध के अपरा के २४ वें तत्त्व और ॐ तक की बात को तो कोई कुछ भी नहीं जानता। इतना ध्यान रहे स्फोटवाद व्याकरण का विषय नहीं है। वैयाकरण तभी झट मीमांसक मत का आसरा लेते हैं। हमारे ऋषि, मुनि, योगी, यति, विद्वान्, कवि, अनूचान, आचार्य ब्रह्म को शब्द या वाक् या शब्द ब्रह्म कहते आये हैं, इसमें क्या रहस्य है? वैयाकरणों का विषय भी ब्रह्म परक शब्द नहीं है, स्फोट भी नहीं है। स्फोट तत्त्व तो प्रतिभा दर्शन या शिक्षा शास्त्र या भाषा तत्त्वशास्त्र का विषय है। न्याय वैशेषिक का विषय भी ब्रह्म विषयक शब्द नहीं है। इन दोनों के क्षेत्र तो बहुत स्थूल विषयों की व्याख्या करना है। व्याकरण को भाषा के शब्दरूप पढ़ाने हैं, न्याय वैशेषिक को परमाणु से आगे के तत्त्वों के गुण विकार विकासों की व्याख्या देना है। अतः उक्त सबने ब्रह्मपरक 'शब्द' पर विवाद करके केवल अनधिकार चेष्टा मात्र की है। 'आप्तवाक्यं शब्दः' वाक्यका एक और शब्द है जो मन्त्रात्मक वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् के वाक्यों को शब्द नाम से पुकारता है। मीमांसकों का 'शब्दः' यही 'शब्दः' या वेदरूप शब्द है। यह वेद रक्षा निमित्त मत है, इसे शास्त्रार्थ का विषय नहीं बनना चाहिए। वैयाकरण लोग घुमा-फिरा कर इसी 'शब्द' की दुहाई देकर कभी-कभी नैयायिकों को चुप भी कर लेते हैं। वास्तव में वेद नाम तो ब्रह्म का है, मन्त्रात्मक, ब्राह्मणात्मक, उपनिषदात्मक वाक्यों का नहीं, क्योंकि इनमें आदि से लेकर अन्त तक केवल अक्षर ब्रह्मरूप वेद (ज्ञानमय ब्रह्म) की व्याख्या है। अतः इन्हें भी वैसे ही वेद कहते हैं जैसे घरवाले के नाम से घर का नाम पड़ता है। वेद स्वयं शब्दब्रह्म है।

४—नैयायिक तथा वैयाकरणों का शब्द विग्रह

यह इस मन्त्र से स्पष्ट है "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः" (यजु २-२१)। शब्दब्रह्म तो अक्षरब्रह्म है। इसमें निर्ऋति, द्यौ, वेदि आदि के अक्षरों, या समिधों की अभौतिक भौतिकता है, आत्मीय भौतिकता है। ब्रह्म निर्विकार है, शुद्ध अभौतिक है।

भौतिकामृतयुक्त शुद्ध-बुद्ध-ब्रह्म पुरुषोत्तम, ईश्वर, परमात्मा, उत्तमः कहलाता है। यह अक्षरब्रह्म ८६४०००००० अक्षरों, पुरुषों, कलाओं और समिधों का एकत्वैकरूप है। "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" और "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"। यही ईश्वर है। वह शुद्ध बुद्ध ब्रह्म सद् तत्त्व सोमात्मा से बने भौतिक तत्त्वों के क्रम से सोम, तैजसात्मा, जीवात्मा और अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म में परिणत होकर, भौतिकता के लय की अन्तिम पराकाष्ठा है। यह शब्दब्रह्म या अक्षरब्रह्म भी निर्ऋति या द्यौ के रूप में शुद्ध ब्रह्म में एकाकार हो जाता है, इसी को अव्यक्त या परम गति कहते हैं, यही परम मुक्ति है, कैवल्य है, गीता अध्याय आठ देखें। अक्षर ब्रह्म का ही नाम पुरुष और शब्द ब्रह्म है, इसी का नाम स्वभाव है, इसी को अध्यात्म भी कहते हैं। इसके विकारों को क्षर-ब्रह्म या विसर्गब्रह्म नाम से पुकारते हैं। ये सबके सब क्षेत्र हैं, क्षेत्रज्ञ इनमें से केवल ब्रह्म है। अहोरात्र अक्षर ब्रह्म के हैं ८६४०००००० अक्षर, इसी अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के हैं, येही समिध हैं, येही सृष्टि वस्त्र के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के ऋक् यजु नाम के (४३२००००००+४३२००००००) ताने बाने भी हैं, यही आसन्दी है, येही व्रत, व्रात और व्रात्य भी हैं। अक्षर ब्रह्म ही बृहस्पति भी है, अनड्वान्, वृषभ, रुद्र, विष्णु आदि भी व्याख्या भेद से हैं। येही हेमाद्रि, गंगा आदि भी हैं। यही अव्यय कल्पवृक्ष भी है, आदि ब्रह्म इन सबसे पृथक् शुद्ध, बुद्ध; ज्ञान-प्रकाश-चेतनमय है।

शब्दब्रह्म की पूर्ण व्याख्या अन्यत्र दे दी गई है। यहाँ पर सिद्धान्त मात्र उद्धृत कर दिया जाता है। वैदिकों का अक्षर ब्रह्म परक 'शब्द' पद के बदले भौतिकी

५—शब्द ब्रह्म क्या है?

'वाक्' है। 'वाक्' प्रकाशमय प्रवाह का नाम है, एक है, एक मय है। यह वाक् अक्षर ब्रह्म रूप में केवल मधुविद्युत् के प्रकाश का एक ठोस पिण्ड है। अखिल ब्रह्माण्ड में यह एक ही ठोस पिण्ड है। इस मधुविद्युत् के ठोस पिण्ड का नाम 'गुहा' है जिसमें अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के अनन्त गोल समाये हुए हैं। इसी गुहा का नाम वाक् है जो अखिल गोलों की भ्रमण क्रिया से सतत् शब्दायमान सी रहती है। जिस प्रकार ईथर या मैगनेटिक लहरों का विश्वव्यापी एक ही पिण्ड है उसी प्रकार इस वाग्ब्रह्म या शब्दब्रह्म का एक ठोस पिण्ड है। यह शब्दब्रह्म पिण्ड आजकल के रेडियोधर्मी धूल से भी इतना अधिक सूक्ष्म और इतना अधिक मधुमय है कि न उसका यन्त्र-तन्त्र से अनुमान किया जा सकता है, न वह किसी के लिए हानिकर है। इस अखिल ब्रह्माण्ड में जो अणोरणीयान् या तरलतम मधुविद्युत् है वही अक्षर

ब्रह्म या वाग्ब्रह्म या शब्दब्रह्म है। ब्रह्म सृष्टि और प्रलय दोनों अवस्थाओं में निर्विकार और एकाकार रहता है। हाँ, जो भौतिक तत्त्व हैं वे भी प्रलय काल में उसी के समान होकर उसमें इस प्रकार घुल जाते हैं कि उनमें अभेद सा हो जाता है, पर फिर भी कुछ भेद तो अवश्य मानना ही पड़ता है। ऐसी ही स्थिति को द्यौ नाम से पुकारा जाता है जिनमें उस ब्रह्म के सो जाने की कल्पना की जाती है। सृष्टिकाल में जो विकास होते हैं वे द्यौ से या प्रलयकालीन या अनारम्भणीय स्वरूप ब्रह्म या वाग्ब्रह्म से ही होते हैं। ब्रह्म तो सदा अपाणिपाद अविकृत ही रहता है। इसीलिए गीता ने साफ लिखा है कि इस अखिल ब्रह्माण्ड या तत्त्वों में सब त्रिवृत् या त्रिगुण या त्रिपादी हैं। केवल ब्रह्म अगुण अवृत्, अपाद् है जैसे 'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्वं प्रकृतिजैर्युक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥" (१७-४०)। बृहस्पति आदि जितने देव हैं, सब त्रिवृत् 'मनोवाक् प्रणानां त्रिवृत्' हैं। यह है शब्दब्रह्म, नैयायिकों के परमाणु से ५० तत्त्व पीछे का शीर्षण्य मूर्धन्य तत्त्व। यही आदि ब्रह्म है। हमारे ऋषि, मुनि, योगी, यतियों ने उस मूर्धन्य तत्त्व को 'एक' अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' नाम वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर दिये हैं, यों ही नहीं। ब्रह्म तो बृहत् है। इतना बृहत् ज्ञानरूप है कि आज के प्रशस्त वैज्ञानिक युग में भी उसके व्यक्त भौतिक गोलों तथा उनकी चरम सीमाओं का ही पूरा पता नहीं लगाया जा सक रहा है। ये गोल-खगोल तो उस बृहत् अक्षर ब्रह्म के रस की बनी गुड़ की भेलियाँ या डालियाँ सी हैं, कितना बड़ा होगा वह ? इसका अनुमान किसी भी प्रमाण और परिमाण को 'अनन्त' नाम देकर ही किया जा सकता है। इसीलिए उसे अनन्त असीम भी कहना वैज्ञानिक ही है। अस्तु, वह प्रमाण परिमाण में भौतिक गोलों की दृष्टि से नापा जाता है, उसका अपना स्वरूप तो भौतिक है ही नहीं, शुद्ध अभौतिक है। अतः अभौतिकता वाले उस उतने अनन्त असीम को ही अपने आप महतोमहीयान् नाम से इस भौतिक दृष्टिकोण से पुकार लें। जो वस्तु अभौतिक होती है, उसमें प्रमाण, परिमाण रहता ही नहीं, तब महतोमहीयान् किससे ? कैसे ? जिसमें प्रमाण, परिमाण नहीं रहता वह वस्तु व्यापक कहलाती है। जो व्यापक है वह केवल 'एक' होती है। क्योंकि टुकड़े या भेद तो केवल उसके किये जा सकते हैं, जिसमें भौतिकता या प्रमाणपरिमाण हैं। जो एक है और व्यापक है उसे भौतिक दृष्टि से भले ही आप महतोमहीयान् कहते जाँय, वह वैसा न होकर व्यापकता और एकता के कारण सचमुच में अणोरणीयान् है। जो वस्तु इतनी सूक्ष्म है, जिसमें हम परिमाण प्रमाण नहीं आँक सकते, वह भी दूसरे ढंग से या सच्चे ढंग से व्यापक और एक ही है। भौतिक तत्त्व भी व्यापक होता है, जैसे ईथर मैग्नेटिक प्रवाह, रेडियोधर्मी विकिरण। उनका भी एक ठोस गोल, सीमित व्यापक गोल होता है; उन्हीं से रेडियो के समाचार तुरन्त तत्काल ग्राह्य होते हैं। यह उनकी व्यापकता के कारण होता है। ब्रह्म की अणोरणीयानता इन सबसे

भी कहीं अधिक सूक्ष्म है, उसकी व्यापकता इनसे अत्यन्त तरलतम सूक्ष्मतम और असीम है, यहाँ जो कुछ हो रहा है, वही सर्वत्र हो रहा है, ब्रह्म में जितनी भी जैसी भी चेतनता, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द आदि हमारे अंशगत भाग में हैं, वेही सर्वत्र हैं। जो अन्यत्र हैं, वे सब यहाँ हैं। सबके समाचार रेडियो समाचारगति से, अतितम तीव्र गति से या अगति से—या उसमें गति की आवश्यकता ही नहीं है, अणोरणीयान् तो ठहरा ही—जो हो रहा है सर्वत्र, नहीं हो रहा है तो सर्वत्र, जो कुछ है सर्वत्र है, चारों ओर है, उस विन्दु में ही है। उसमें इधर-उधर के भाग की कल्पना का भी स्थान नहीं है। अतः वह 'एक' अणोरणीयान् है, इतने विशाल भौतिक ब्रह्माण्ड को वह इतना सूक्ष्म अपने उदरस्थ रखता है। इसलिए उसे इस दृष्टिकोण से महतो महीयान् या बृहत् या 'ऋतं बृहत्' व्याप्त 'खोल सा बृहत्' कहते हैं तो बिलकुल ठीक ही है।

६—बृहस्पति शब्द ब्रह्म

बृहस्पति नाम शब्द ब्रह्म का है, शब्द ब्रह्म अक्षर ब्रह्म है। अक्षर ब्रह्म वाग्ब्रह्म है। बृहत् नाम ज्ञान रूप वाणी का है। 'बृहतां वाचां पतिर्बृहस्पतिः' (बृहदारण्यक)। वाणी के अक्षर शब्द ब्रह्म के असंख्य भेद हैं। इतने असंख्य हैं उन्हें 'बृहत्' नाम से पुकारना उपयुक्त है। वे बृहत्संख्या के अक्षर हैं। इसी को 'ऋतं बृहत्' नाम से पुकारा जाता है। इन अक्षरों की संख्या चार अरब बत्तीस करोड़ तक गिनी गई है ('ऋचो अक्षरे' शीर्षक देखें)। इन अक्षरों को व्रत या देवता या सूक्ष्म पल या वर्ष भी कहते हैं। अक्षरों के व्रतों या पुञ्जों; जैसे—अहोरात्र, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि को व्रात कहते हैं और तब शब्द ब्रह्म को 'व्रात्य' नाम से भी पुकारा जाता है। इन व्रातों की गिनती या मुख्य गिनती बृहती छन्द से भी की जाती है। बृहती में ३६ अक्षर होते हैं। इसके ८, ८ के पादों को ८, ८ प्राण कहा जाता है। २८ वें में ये बृहती के प्राण वृषभ कहलाते हैं। 'वृषभो रोरवीति' पद चाहे रुद्र या विष्णु या बृहस्पति या इन्द्र किसी के लिए भी कहें वह बृहती के इन्हीं २८ प्राणों या २८ तत्त्वों से सम्बन्ध रखता है। शुद्ध कैवल्य ब्रह्म में न वाग् है न अक्षर। वह केवल एक है। वाक् अनेकों प्रकाशमय किरणों की एक देह है। दोनों का जोड़ा वाग्ब्रह्म कहलाता है। बृहती नाम अक्षर रूप ज्ञानमयी का है, इसका पति बृहस्पति ज्ञानपति या ज्ञानमय ब्रह्म है, विद्यामय या त्रयीमय ब्रह्म है। यही बृहती मनोमयी भी है।

७—बृहस्पति और पञ्चपर्वा

बृहस्पति पर्व विद्या का भी प्रधान अंग है। पर्वत विद्या, पर्व पर्व की विवेचना करने वाली विद्या है। ये पर्व सूक्ष्मतया अक्षर हैं, स्थूलतया इनका विभाजन त्रिवाद, पंचवाद, षड्वाद, सप्तवाद, अष्टवाद, नववाद, एकादशवाद, सप्तदशवाद से होता है। पर्वविद्या मुख्यतया दशवादी है। जहां कहीं बृहस्पति का सूक्त मिलता है वहां 'बृहस्पतिः पर्वतानभिनत्' वाक्य प्रायः मिलता है। बृहस्पति ओषधियों का और सोम का जनक है 'या ओषधीः·····बृहस्पतिप्रसूताः' आदि।

इन ओषधियों और इस सोम को बृहस्पति तत्त्व के पर्वतों में उत्पन्न कहना तब सार्थक सा लगता है। सोम और ओषधियों का जन्म २६ वें (आदि से २७ वें) तत्त्व में होता है, तब तक उनकी उत्पत्ति की भूमिका बँधती है। इसीलिए उन लोगों की हँसी उड़ाते हुए जो सोम को जड़ी-बूटियों वा गेहूं, जौ से निकाली गई मदिरा समझते हैं, लिखा है कि "लोग ओषधियों को पीसकर सोम बन गया करके समझते हैं और उसको पीकर सोमपान कर लिया कहते हैं। जिसको ब्रह्म दर्शन में सोम कहते हैं उसे तो कोई सांसारिक मिट्टी का पुतला पी ही नहीं सकता। उसे तो बृहती के छन्दाक्षरों के गुप्त विधान या दार्शनिक तत्त्वों की संख्या को जानने से ही विदित किया जा सकता है, उसकी योजना या स्थापना या कल्पना दार्शनिक तत्त्वों से गुप्त या सुरक्षित रखी गई है, अर्थात् सोम को वही जान सकता है जो बृहस्पति तत्त्व को बृहती छन्दाक्षरों की तत्त्व रूप गणना से जानने का अभ्यस्त है। ये बेचारे ग्रावाण (पर्वत विद्या शब्द) को पत्थर समझते हैं। इस प्रकार के पत्थर में घोटा गया सोम, वास्तविक सोम नहीं है। उस सोम को तो कोई पी ही नहीं सकता" (ऋ० वे० १०-८५-३, ४) सोम तो दिव्य शरीर है। दिव्य शरीर पाना और उसका विकास होना ही सोम पान है ('सोम' शीर्षक देखें)। कुल पचास तत्त्व पांच मुख्य पवर्तों में विभक्त हैं। सोमादि तृतीय मेरु पर्वत में उत्पन्न होते हैं। गंगा आदिपर्वतरूप रुद्र की जटा से, जमुना द्वितीय पर्वत रत्नसानु (आदित्यों) से—जो इन्द्र का पर्वत है—उत्पन्न होती हैं। यहीं से विपाट्, शुतुद्री अपने को इन्द्र द्वारा उद्भिन्न बतलाती हैं। 'इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुः' इत्यादि। सरस्वती पूषा से उत्पन्न होती है, इसी प्रकार अन्य नदियां भी।

इन्हीं पर्वों की वाक् का नाम पार्वती है। पार्वती दो हैं, अभौतिक और भौतिक। पर्वत भी दो ही प्रकार के हैं, भौतिक और अभौतिक। अभौतिक पार्वती हेमाद्रि आदिपर्वत की पुत्री है जो रुद्राणी या रोदसी भी कहलाती है। भौतिक पार्वती दक्ष की कन्या २५ वें सत् तत्त्व की सती नाम्नी वाणी है। दक्षाध्वरविध्वंस, दक्ष २४ वें तत्त्व के क्रतु से विकास परम्परा द्वारा ३१ वें अज तक विकास पाने की कथा को दक्ष के शिर को काट कर उसमें 'अज' का शिर लगा देने की रोचक कथा है। गणेश तीन हैं। आदि गणेश तो ब्रह्मणस्पति है जो वसु, रुद्र, आदित्यों के गणों के (ब्रह्मणः) ब्रह्मों का पति है। द्वितीय गणेश भौतिक पार्वती का पुत्र है जिसका विकास पुरुष पशु है। इस पुरुष पशु का नाम शतपथ और अथर्व हस्ति देते हैं, अतः इसको गजानन कहते हैं (पुरुष पशु देखें)। शेष पर्व विद्या और 'पुरुष पशु' में देखें।

८—पर्व-पार्वती और दक्ष

ब्रह्म के बारे में निम्न लिखित अन्य श्रुतियां बिखरी मिलती हैं। इनका प्रयोग सन्दर्भ के अनुसार किया जाना चाहिए। 'ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति' सब

नाम ब्रह्म के ही हैं (श० प० १४-४-४-१) वाक् ही ब्रह्म है, 'वाग्ब्रह्म' (गो० पू० २-१०, ११)। 'वाग्वै ब्रह्म', 'वाग्घि ब्रह्म' 'वागिति ब्रह्म' 'सा या सा वाग्ब्रह्मैव तत्' 'ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम' 'तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म' (ऐ० ६-३; २-१५; जै० उ० २-६-६, २-१३-१२; तै० ३-६-५-५, श० प० २-१-४-१०; १४-८-५-१० क्रम से)। 'ब्रह्म वा ऋतम्' (श० प० ४-१-४-१०) ब्रह्म ही ऋत है। मन ही ब्रह्म है 'मनो ब्रह्म' (गो० पू० २-१०, ११)। 'मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म'। 'हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म' 'चक्षुर्ब्रह्मः' 'श्रोत्रं सम्राट् परमं ब्रह्म' कि हृदय, चक्षुः, और श्रोत्र ब्रह्म हैं, सम्राट् हैं, परमं ब्रह्म हैं (श० प० १४-६-१०-१५,१८,८, १२; गो० पू० २-१०,११; ऐ० २-४०)। गायत्री ब्रह्म है, प्रणव ब्रह्म है 'ब्रह्म वै गायत्री,' 'ब्रह्म गायत्री ब्रह्म हि गायत्री,' 'ब्रह्म वै प्रणवः,' 'ब्रह्म ह वै प्रणवः' (ऐ० ४-११; ता० ११-११-९, श० प० ४-४-१-१८, कौ० ११-१८ गो० उ० ३-११)। ब्रह्म ने भू नामक प्रजापति को जन्म दिया, प्रजापति ने सर्व प्रथम ब्रह्म (शब्द ब्रह्म) को जन्म दिया। अतः त्रयी विद्या को सबसे प्रथम जन्मा कहते हैं, (श० प० २-१-४-१२-७; ६-१-१-८;१०) (भूरिति वै प्रजापति र्ब्रह्माऽजनयत।' 'स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां,' 'ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या तस्मादाहु र्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति।')। ब्रह्म ही ऋक् है, ब्रह्म ही मंत्र है, ब्रह्म ही देवताओं का प्रच्यावक है, वेद ही ब्रह्म है, ब्रह्म सप्ताक्षर है "ब्रह्म वा ऋक्, ब्रह्म वै मन्त्रः, ब्रह्म हि देवान्प्रच्यावयति, वेदो ब्रह्म, सप्ताक्षरं ब्रह्म;" कौ० ७-१०, श०-प० ७-१-१-५, ३-३-४-१७; जै० उ० ४-२५-३; श० प० १०-२-४-६)

९—ब्रह्म विषयक अन्य श्रुतियां

ब्रह्म प्रजापति है, ब्रह्म बृहस्पति है, ब्रह्म बृहस्पति है, ब्रह्म स्वयं ब्रह्मा होता है, ब्रह्म ने पुष्कर में ब्राह्मण को उत्पन्न किया (श० प० १३-६-२-८, कौ० ७-१०, गो० उ० ६-७; तै० १-३-८-४, गो० उ० १-३,४ तै० २-५-७-४; कौ० ८-५, तै० ३-१२-९-३) जैसे "ब्रह्म वै प्रजापतिः, ब्रह्म वै बृहस्पतिः, ब्रह्म बृहस्पतिः, ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः, बृहस्पति र्वै सर्वंब्रह्म, बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः, ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः, ब्रह्म ब्रह्माऽभवत्स्वयम्, ब्रह्म ह वै ब्राह्मणं पुष्करे ससृजे।" चन्द्रमा ब्रह्म है, आदित्य ब्रह्म है। "चन्द्रमा वै ब्रह्म, आदित्यो वै ब्रह्म"। (ऐ० २-४१, जै० उ० ३-४-९, श० प० ७-४-१-१४)। अग्नि ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म का वत्स है (श० प० १-३-३-१९; कौ० ९-१,५; श० प० १-५-१-११, १०-४-१-५, ९-२-१-१५, जै० उ० २-१३-१) अतः अग्नि ब्राह्मण है, अग्नि का मुख ब्रह्म है, जब अङ्गार चमचमाते हैं तब यह अग्नि ब्रह्म कहलाता है; जैसे 'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति, मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म, अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्तऽइव। तर्हि हैष भवति ब्रह्म (श० प० १-३-४-२, ६-१-१-१०, २-२-२-१३)। यह अग्नि ब्रह्म और क्षत्र है (श० प० ६-६-३-१५)

अग्नि ब्रह्म है, अग्नि यज्ञ है, ब्रह्म यज्ञ है, 'अग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञः' 'ब्रह्म वै यज्ञः' 'ब्रह्म हि यज्ञः', 'ब्रह्म यज्ञः' (श० प० ३-२-२-७; ऐ० ७-१२ श० प० ५-३-२-४, ३-१-४-१५)। जो यज्ञ से उत्पन्न होता है वह ब्रह्म से उत्पन्न होता है (श० प० ३-

२-१-४०)। ब्रह्म वाजपेय है, वायु ब्रह्म है, प्राण सम्राट् परम ब्रह्म है, ब्रह्म प्राण है, प्राण ही ब्रह्म है, प्राणापनौ ब्रह्म हैं—"ब्रह्म वै वाजपेयः, अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायुः) पवते, प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म, तद्यद्वै ब्रह्म स प्राणः, प्राणो वै ब्रह्म, प्राणो वै ब्रह्म प्राणाऽवै ब्रह्म, प्राणापानौ ब्रह्म" (तै० १-३-२-४, ऐ० ८-२८, शप १४-६-१०-२,३, जै० उ० १-३३-२, तै० ३-२-८-८, श० प० ८-४-१-३, गो० पू० २-१०,११)। ब्रह्म क्षत्र से पूर्व में है, ब्रह्म क्षत्र की योनि है, ब्रह्म ने क्षत्र का निर्माण किया, ब्रह्म के वश में क्षत्र है, वही राष्ट्र समृद्ध है, तब वीर उत्पन्न होता है, ब्रह्म अभिगन्ता है, क्षत्रिय कर्ता, ब्रह्म ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण का रूप है वही ब्रह्म का रूप है,—"ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्, एषा क्षत्रस्य योनिर्ब्रह्म, ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम्, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते, अभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः, ब्रह्म वै ब्राह्मणः, ब्रह्म हि ब्राह्मणः, ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद्ब्राह्मणः" (तांडय ११-१-२, श० प० १४-४-२-२३, तै० २-८-८-९, ऐ ८-९, श० प० ४-१-४-१, तै० ३-९-१४-२, श० प० ५-१-५-२, १३-१-५-२)

वसन्त ब्रह्म है, रथन्तर ब्रह्म है, विद्युद्ब्रह्म है, मित्र ब्रह्म है, पण ब्रह्म है—"ब्रह्म-हि वसन्त, ब्रह्म वै रथन्तरम्, विद्युद्धयेव ब्रह्म, ब्रह्मैव मित्रः, ब्रह्म वै पणः" (श० प० २-१-३-५, ऐ० ८-१-२, श० प० १४-८-७-१, ४-१-४-१, १०, तै० १-७-१-९,)। ब्रह्म पलाश है, ब्रह्म पौर्णमासी है, क्षत्र अमावस्या, जो अमृत है वह ब्रह्म है, जो ब्रह्म है वह अमृत है, ब्रह्म अभय है, अभय ब्रह्म है, ब्रह्म भूत तत्त्वों में ज्येष्ठ श्रेष्ठ है, ब्रह्म यशः, श्रीः से परिवृढ है, ब्रह्म षोडशकल है—'ब्रह्म वै पलाशः', ब्रह्म वै पौर्णमासी क्षत्रममावास्या, यदमृतं तद्ब्रह्म, अथ यद्ब्रह्म तदमृतम्, अभयं वै ब्रह्म, ब्रह्माभयं हि, वै ब्रह्म भवति, ब्रह्म वै भूतानां ज्येष्ठं, ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठम्, तदेनद्ब्रह्म यशः श्रिया परिवृढम्' (श० प० १-३-३-१९, कौ० ४-८, गो० पू० ३-४, जै० उ० १-२५-१०, श० प० १४-७-२-३१, तै० २-८-८-१०, श० प० ८-४-१-३ जै० उ० ३-३८-८)। उस ब्रह्म का नाम त्यद् है, एक है, ब्रह्म का रूप दिन है, क्षत्र की रात्रि है, ब्रह्म के दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं। ब्रह्म ही सब कुछ है, अतः द्यावापृथिवी को ब्रह्म से विष्टब्ध कहते हैं, अन्तरिक्ष ब्रह्म है, ब्रह्म त्रिवृत् है, ब्रह्म तपः में प्रतिष्ठित है (सदा तपता है) पुरुष ब्रह्म है, 'कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते, ब्रह्म देवानजनयत्, ब्रह्मणो वै रूपमहः क्षत्रस्य रात्रिः, ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यदहः, द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च, ब्रह्मैव सर्वम्, तस्मादाहुर्ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धेति, तद् (ब्रह्म) इदमन्तरिक्षम्, ब्रह्म वै त्रिवृत्, ब्रह्म तपसि प्रतिष्ठितम्, त्वं ब्रह्मासि, (शरीरे) पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास" (श० प० १४-६-९-१०, तै० २-८-८-९, ३-९-१४-३, श० प० १३-१-५-४, १४-५-३-१, २, ४, ५, ६, ८; गो० पू० ५-१५, श० प० ८-४-१-३, जै० उ० २-९-६, ताण्ड्य २-१६-४, ऐ० ३-६, श० प० ५-४-४-१०, १४-५-१-१३)

———

अध्याय १४

वेदों की प्राण-विद्या

यद्यपि वेदों में दर्शन के दो मुख्य और बराबर भागों को क्रम से त्रिपादामृत और भौतिकात्मा के रूप में वर्णित किया गया है, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जिसको भौतिक या भौतिकात्मा कहा गया है वह इस प्रकार की भौतिकता है जिसे महाभूत या त्रिगुणात्मिका स्थूल प्रकृति या अंग्रेजी में नेचर या कौसमौस कहते हैं। वेदों में व्याख्यात उत्तरार्द्ध की भौतिकता या भौतिकात्मा तो स्वच्छ रूप से दिव्यशरीरी आत्मा ही है। यह न तो पारमाणविक है, न महाभूत रूप। यह शुद्ध आत्मा या भौतिकात्मा तो सर्व व्यापक और एक है। पर इसमें उस अनेकता का आभास उत्पन्न हो जाता है जिसको अविद्या, माया या नाना रूपता का इन्द्र जाल कहा जाता है। सभी तत्त्व चाहे वे पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृतीय हों या उत्तरार्द्धीय भौतिक या भौतिकात्मीय, दोनों भाग नितरां अव्यक्त ही हैं। व्यक्तता का आरम्भ ५० वें तत्त्व से, विवर्त्त नामक परमाणु से होता है। यहां पर भेद दिखाई पड़ने लगते हैं। पूर्वार्द्ध को अव्यक्त और उत्तरार्द्ध को व्यक्त कहा है, पर ये हैं दोनों अव्यक्त, सुतरां अव्यक्ततर तथा अव्यक्ततम और आदि ब्रह्म अव्यक्ततम है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने इस वैदिक विश्व दर्शन के प्रत्येक तत्त्व को केवल 'प्राण' और गणीय या सामूहिक तत्त्वों को प्राणाः नाम से ही सर्वत्र पुकार रखा है। प्राण मुख्यतः दो प्रकार के हैं, पूर्वार्द्ध के अमृत रूप प्राण और दूसरे उत्तरार्द्ध के भौतिकात्मा रूप भौतिक प्राण। ये प्राण या प्राणाः शब्द प्रत्येक अवस्था में भिन्न-भिन्न स्वरूप के द्योतक हैं, क्योंकि तत्त्वों का विकास क्रमिक है। प्रत्येक देवता का अपना पदक्रम युक्त स्थान है, जिसका जो स्थान है, वह उसी स्थान रूप प्राण या प्राणाः का रूप होगा। अतः प्राण या प्राणाः शब्दों के अभिप्राय से अवगत होने के लिए प्रत्येक तत्त्व के स्थान रूप सन्दर्भ का ज्ञान आवश्यक है। इन तत्त्वों की प्राणमयी व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार दी गई है। प्राण नाम समञ्चन और प्रसारण का है। जिस अंग या स्थान का प्राण है वह उस अंगीय प्राण का समञ्चन और प्रसारण करता है (श०प०ब्रा० ८-१-४-१०)। प्राण नाम उस तत्त्व का है जो अपनी प्राण शक्ति से अन्न द्वारा आत्मा का प्रणयन करता है, अर्थात् जो तत्त्व क्रमशः विकासोन्मुख होता है, भौतिकता से आवृत होकर सृष्टि संचालन करता है वह है प्राण (श० ब्रा० १२-९-१-१४)। जो प्रकर्ष रूप से विकसित होता है वह है प्राणः 'प्रेतीति प्राणः'; और जो ऊर्ध्व गति का है, वह है उदान 'उदेतीति उदानः'; जो अधः की ओर गतिमान होता है, उसे अपान कहते हैं 'अपेतीति अपानः'; जो व्याप्त होकर समन्तात् विक-

१—प्राणों का स्वरूप

सित होता है, वह है व्यान, 'व्येतीति व्यानः' । जो समान रूप से ऊर्ध्वाधः, इतस्ततः सर्व दिग्गामी होकर विकसित होता है, उस सन्तुलनीय प्रवाह को समान कहते हैं, 'समेतीति समानः' (श० प० १-४-१-५)। उपनिषद्कारों ने इनके नाम इनकी क्रियाओं को दृष्टि पथ में रख कर क्रम से ये दिये हैं :—

'सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः । प्राणापान समानाख्या, व्यानोदानौ च वायवः ॥ नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः । हृदि प्राणःस्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥ समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः । व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः ॥ उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा । कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे । न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः" ।

ब्रह्म शीर्षक में उद्धृत शेष नाम भी देखें ॥ ये व्याख्यान बहुत संकुचित और शारीरिक प्राणों के हैं, सर्वव्यापक वैदिक प्राणों का उनसे थोड़ा ही संकेत मिलता है ।

२—प्राणों के बारे में श्रुतियां

प्रत्येक तत्त्व को प्राणा बतलाने वाले वाक्य ये हैं। सूर्य उदित होते ही सब भूत तत्त्वों का प्रणयन करना आरम्भ करता है अतः वह प्राण है (ऐ० ५-३६)। अर्क प्राण है (श० प० १०-४-१-२३)। सविता प्राण है (ऐ० १-१९)। सावित्र ग्रह प्राण है (कौ० १६-२)। सोम प्राण है (श० प० ७-३-१-२)। चन्द्रमा प्राण है (जै० उ० ४-२२-११)। अग्नि प्राण है (श० प० २-२-१५)। पूर्वार्द्ध के प्राण अमृत कहलाते हैं (श० प० १०-२-६-१८)। उत्तरार्द्ध के प्राणों का भाग अमृत ही रहता है, उसे सोम या चन्द्रमा कहते हैं, इसका दूसरा प्रतिपक्षीय भाग आसुर हो जाता है। जातवेदाः भी प्राण हैं। ये सबको जानते हैं, स्वयं ज्ञान रूप प्राण हैं (ऐ० २-३९)। वायु प्राण है ऐ० २-२६)। पूर्वार्द्ध में प्राण, उदान और व्यान का क्रम से उत्थान होता है (श० प० ३-१-२-२०); उत्तरार्द्ध में अपान और समान का, तदनन्तर पूर्वार्द्धियों का भौतिकता में रूपान्तर। वात भी प्राण है (श० प० ५-२-४-९)। वातहोमा भी प्राण है (श० प० ९-४-२-१०) मातरिश्वा भी प्राण है (ऐ० २-३८)। मरुतः भी प्राण हैं (ऐ० ३-१६)। वनस्पति भी प्राण हैं (ऐ० २-४-१०)। रुद्र और एकादश रुद्र, प्राण और एकादश प्राण हैं (श० प० ११-६-३-७)। वसु प्राण हैं (तै० ३-२-३-३) मित्र भी प्राण है (यजु० ११-५३)। हरि प्राण है (कौ० १७-१)। साध्या देवाः प्राण हैं (यजु० ३१-१६)। द्रविणोदा देव भी प्राण हैं (यजु० १२-२)। देवाधिष्ण्या भी प्राण हैं (श० प० ७-१-१-२४)। धी भी प्राण है (श० प० ६-३-१-१३) वयोनाद्या देवाः भी प्राण हैं (यजु० १४-७)। अपाव्या देवाः भी प्राण हैं तै० ३-८-१७-५)। अतः सब देवता प्राण हैं (श० प० ७-५-१-२१। विश्वेदेवता भी प्राण हैं (यजु० ३८-१५)। ऋषि प्राण हैं (यजु० १५-१०, ऐ० २-२७, श० प० ६-१-१-१) । वसिष्ठ प्राण है ।

४-२३-४)। प्रजापति प्राण है (श० प० ब्रा० ७-४-१-११)। कूर्म प्राण है (श०प० ७-५-१-७) छत्र प्राण ही है। प्राण क्षणित होता है (श०प० १४-८-१४-४)।

३—अन्य श्रुतियां

तनूनपात् प्राण है (ऐ० २-२४)। गोपा प्राण है (जै० उ० ४-३८) पिता प्राण है (ऐ० २-३८)। नृषद् प्राण है (यजु० १२-१४ श० प० ६-७-३-११)। वाचः और असु भी पिता प्राण हैं (जै० उ० १-४०-७)। अङ्गिरा प्राण है (श० प० ६-५-२-३,४)। इन्द्रिय प्राण है (तांड्य २-१४-२)। अङ्ग प्राण हैं (श० प० १-६-३-७)। अर्णवः प्राण है (यजु० १३-५३)। अन्नं प्राण है (श० प० ४-३-४-२५)। भक्ष प्राण हैं (श० प० ४-२-१-१९)। सखाभक्ष भी प्राण हैं (श० प० १-८-१-२३)। पुरुष प्राण हैं। 'प्राण एष पुरिशेते तं पुरिशेते इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते' (गो० पू० १-३९)। पतङ्ग प्राण हैं (ऋ० वे० १०-१७१-१)। प्रतिरवा प्राण है (यजु० ३८-१५)। उद्गीथ प्राण है (जै० उ० १-१३-५)। उद्गाता प्राण है (कौ० उ० १७-७)। सामवेद प्राण है (श० प० १४-४-३-१२), इसमें सब भूत सम्यञ्चित रहते हैं (श० प० १४,८-१४-३)। साम सुवर्ण प्राण है (जै० उ० १-३९-४)। वामदेव्य प्राण है (श० प० ९-१-२-३१)। हिंकार प्राण है (श० प० ४-२-२-११)। स्वर प्राण है (तांड्य २४-११-९)। स्तव, स्तोम, वषट्कार, स्वाहा प्राण हैं (कौ० ८-३; १०-५ श० प० ८-४-१-३; ४-२-१-२९)। द्युलोक प्राण हैं (श० प० १४-४-३-११)। भरत प्राण है (ऐ० २-२४)। मनुष्य की सम्भूति प्राण है (जै० उ० ४-७-४)। ब्रह्म, सम्राट् परम ब्रह्म, पूर्व्य ब्रह्म सब प्राण हैं (श० प० १४-६-१०-२, ३; यजु ११-५)। बृहती प्राण है (ऐ० ३-१४)। बृहत् प्राण हैं (तांड्य ७-६-१४)। बृहस्पति ब्रह्मणस्पति प्राण हैं (श० प० १४-४-१-२२, २३)। वाचस्पति प्राण है (यजु ११-७)। वाग् कर्म है। वाचस्पति प्राण है (यजु ३०-१)। वाणी प्राणपत्नी है (ष० २-९)। वाक् प्राण का मिथुन होता है (श० प० १-४-१-२)। सब प्राण वाग् में ही रहते हैं (श० प० १२-८-२-२५)। वाणी और प्राण रस हैं (जै० उ० १-१-७)। प्राणों में आपः होते हैं, वही वाणी से बोलती हैं (श० प० ५-३-५१६)। आपः प्राण हैं (तै० ३-२-५-२)। वाक् वसिष्ठा है, प्राण वसिष्ठ (श० प० १४-९-२-१४)। सदसद् में सत् साम रूप मनः है, वही मन प्राण है (जै० उ० १-५३-२)। मनः प्राणों का अर्द्धभाग है (ष० १-५)। मनः प्राणों का अधिपति है, सब प्राण उसी में प्रतिष्ठित हैं (श० प० १४-३-२-३)। ब्रह्मा प्राणदैवत्य है (ष० २-९)। भुजः प्राण हैं (श० प० ७-५-१-२१)। ऋतुयाजा प्राण हैं (ऐ० २-२९)। धाय्या प्राण हैं (कौ० १५-४)। दिशा प्राण हैं (जै० उ० ४-२२-२१)।

धूः या धुरः प्राण हैं (ताण्ड्य १४-९-१८)। अवकाश प्राण हैं (कौ० ८-६)। दीक्षा प्राण है (तै० ३-८-१-३) ककुप्छन्द प्राण है (श० प० ८-५-२-४)। उष्णिक्ककुप् प्राण है (ताण्ड्य ८-५-५)। गायत्री प्राण है (श० प० ६-४-२-५)। धवित्र प्राण है (श० प० १४-२-१-२१)। आकूध्रीच्य प्राण हैं (कौ० ८-५)। ग्रावाण प्राण हैं (यजु० ३८-१५), अश्मा आषण प्राण हैं (जै० उ० १-६०)। प्रयाजा शीर्षन्प्राण हैं (ऐ० १-१७), अनुयाजा भी प्राण हैं (श० प० १४-२-२-२१)। यशः भी प्राण हैं

(श० प० १०-६-५-६)। पशु, मनुष्य, ऋत्विक् सब प्राण हैं (ऐ० ६-१४, तै० ३-२-८-९, श० प० १४-४-३-१३)। श्री प्राण है, क्योंकि इनमें प्राण आश्रित रहते हैं (श० प० ६-१-१-४)। द्विदैवत्य भी प्राण हैं (ऐ० २-२८)। उपांशु प्राण है (कौ १२-४)। प्राण त्रिवृत् है (तांड्य २-१५-३)। प्राण, अपान, व्यान 'तिस्रो देव्यः' हैं (ऐ० २-४) षड् ऋतु प्राण हैं (श० प० १२-९-१-९)। प्राणोदानौ दो अध्वर्यू हैं (श० प० ५-५-१-११)। प्राणोदानौ प्रणयनादाहवनीय अग्नि हैं। प्राणापानौ ही आहवनीय गार्हपत्य हैं (श० प० २-२-२-१८)। प्राणोदानौ ही रेतः को विकृत करते हैं (श० प० ९-५-१-५६)।

वाक्, मनः, प्राणः, चक्षुः, श्रोत्रं का संकेत इन स्वरूपों के आध्यामिक शरीरों के रूप में किया गया है। इनके देवता या आत्मा क्रमशः अग्नि, चन्द्रमा, (सोम) वायु, सूर्य (आदित्य) और दिशायें हैं। इनके अतिरिक्त प्राण, उदान, व्यान, अपान और समान प्राण हैं, जिनमें से चक्षुः प्राण आत्मा, पृथिवी अपान, वायु व्यान, तेज उदान और आहवनीय के उच्छ्वास निश्वास समान हैं। सप्तार्चियों में वायु, उपस्थ, अपान, श्रोत्र, चक्षु, मुख, नासिका में प्राण और समान मध्यवर्ती बताये गये हैं। गार्हपत्य अपान है, अन्वाहार्यपचन व्यान है, आवहनीय उच्छ्वास-निश्वास रूप समान है। प्राण चक्षु है, व्यान श्रोत्र है, दिशा अपान, वाक् पृथिवी है, समान मन, प्राण पर्जन्य, विद्युत् उदान और त्वक् आकाश या वायु है। इन सबको एक नाम से पुकारने में 'प्राणाः', 'दश प्राणाः' या 'षोडश प्राणाः' या बीस प्राण कहते हैं। ये प्राण आध्यात्मिक शरीर और उनकी आत्मारूप देवताओं का संयोग करते हैं। इनका वर्णन प्रायः योगयज्ञ प्रक्रिया में दिया जाता है। वाक् 'होता' है, चक्षु अध्वर्यु है, वायु प्राण उद्गाता है, मन ब्रह्मा है, अन्य सब ऋत्विज हैं। सब योग यज्ञ करते हैं।

४—दश प्राण आदि की व्याख्या

वेदों में वर्णित भूत रूप प्राणों में से मुख्य प्राण तो तीन ही हैं। उनके नाम प्रथम प्राण, मध्यम प्राण और उत्तम प्राण हैं। इनको प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष भी कहते हैं। प्रथम प्राण आदि ब्रह्म है, मध्यम प्राण इन्द्र है, उत्तम प्राण भौतिकात्मा है। सब विश्वेदेवता, विष्णु, रुद्र आदि देवता उत्तम प्राण या उत्तम पुरुष हैं। इनको दूसरे शब्दों में अग्नि, वायु और आदित्य भी कहते हैं। प्रथम अग्निरूप मुख है, द्वितीय अन्नादरूप अन्नग्राही है, तृतीय अन्न और अन्नाद दोनों है। इन्हीं को 'तेजोवती वाक्'; 'आपोमयाः प्राणः' और 'अन्नमयं मनः' भी कहते हैं। इनके मूल तत्त्व वाक्, आपः और अदिति हैं। इनके वर्ण लोहित, शुक्ल और कृष्ण हैं। इनसे योग में अग्नि, वायु और आदित्यों की सृष्टि या अतिसृष्टि की जाती है, इनमें से प्रत्येक तत्त्व में इन तीनों का मौलिक त्रिवृत् भी रहता है और इन तीनों में भी एक त्रिवृत् रहता है, उसीसे सृष्टि आगे चलती है।

५—मुख्य प्राण और उनकी व्याख्या

———

अध्याय १९

अश्वमेध, पुरुषमेध (या नरमेध) गोमेध और पितृमेध

तथा

सुः, असुः, स्वः; स्वाः, स्वापः, स्वाहा, श्वा, श्वानौ, शुनः, मातरिश्वा, अश्वः। अश्रु, अश्म, सुरः, असुरः, श्वश्रूः, श्वसुरः, इषः, ऊर्जम्, महः, दधिक्रा, दधिक्राव्णः, नराशंसः ॥

(३-२९)

यहां पर दिये गये सु आदि तेइसों (२३) नाम 'प्राणों' के या ब्रह्म के विभिन्न स्वरूपों के हैं। इनमें से आदि का 'सोर्देवानसृजत असोरसुरान्' (श० प० ब्रा० ११-१-६-७, ८) के अनुसार 'सु' प्राणों का वह आदि रूप या मनोवाग्प्राणों के त्रिवृत् के प्राणों का वह स्वरूप है जिससे दैवी सृष्टि के प्रवाह का क्रम चल पड़ा। 'असुः' भी उसी त्रिवृतीय प्राणों का वह स्वरूप है जिससे आसुरी सम्पदा की सृष्टि के बीज साथ-साथ या साकं बोये गये। अतः 'सुः' से सुर या सुरा दैवी सम्पदा और असु से असुर, असुरा, आसुरी सम्पदा साथ-साथ उत्पन्न हुये। इसीलिए ब्राह्मणों और उपनिषदों में बारंबार घोषित किया गया है कि 'देवाश्चासुराश्चाभवन् उभये प्राजापत्याः'। प्रजापतिः यहां पर 'कः' प्रजापति है और 'सुरासुर' दोनों 'कः' प्रजापति कहलाते हैं। कम् नामक प्रजापति को 'शम्' नाम से भी पुकारते (दे० 'अष्टौ पुरुषाः') हैं। सु+असु या सु और असु के योग को श्वसु और सु+असुर को 'श्वसुर' नाम से भी पुकारा गया है, 'श्वसुरो नाजगाम' (ऋ० वे० १०-२८-१)। जब सु+असु को प्रलय के रूप में वर्णित किया जाता है तब उसे 'स्वा' (या सु+अ) नाम से पुकारा जाता है। 'स्वाः' नाम 'स्वपिति' से सम्बद्ध किया गया है। यह वैदिकों की एक शैली है। वे कहते आये हैं कि प्रलय में ब्रह्म (पुरुष रूपी) सो जाता है, तब उसके दोनों प्रकार के प्राण 'स्वाः' रूप को शुद्ध ब्रह्म रूप को प्राप्त हो जाते हैं अतः वह 'स्वाः' कहलाता है जैसे—"एष उ एव प्राणः। एष हीमाः सर्वाः प्रजाः प्रणयति तस्यैते प्राणाः 'स्वाः' स यदा स्वपित्यथैनमेते प्राणाः स्वा अपियन्ति तस्मात्स्वाप्ययः स्वाप्ययो ह वै तं स्वप्न इत्याचक्षते परोक्षम्परोक्ष कामा हि देवाः॥ ॥स एतैः सुप्तः। न कस्य चन वेद न मनसा संकल्पयति" इत्यादि॥ (श० प० ब्रा० १०-५-२-१४, १५)। इसी 'स्वाः' का नाम 'स्वाहा' भी है। 'स्वाहा' 'स्वान् आहरतीति' या अपने प्राण तत्त्वों को संकुचित करके रखने वाले का नाम है। इस 'स्वाहा' शब्द के प्रयोग को जैन, बौद्ध तथा सभी सम्प्रदाय के हिन्दू मतमतान्तर वाले बिना इस तरह समझे भी इतना और इस तरह करते हैं कि वे बिना इसके अपने किसी कर्म को शुद्ध और पूर्ण ही नहीं समझते। इसी 'स्वाहा' का दूसरा प्रतिरूप 'स्वापः' भी है जैसा कि उक्त उद्धरण से ही स्पष्ट है। जब 'स्वाः' को एक वचन में कहते हैं तब उसे 'स्वाः' की जगह 'स्वः' नाम से

१—सु, असु, स्व, स्वा, स्वाहा

पुकारते हैं। स्वः या स्वं या स्वाः, स्वापः और स्वाहा नाम गायत्रीब्रह्म के प्रलय 'पुरुष' रूप के हैं। स्वं माने 'शब्द' या शब्द ब्रह्म होता है जैसे 'स्वर एव स्वम्' (बृह० उप० ३-२-२६) यद्यपि इसका उपसंहार एक है, ब्रह्म एक है, पुरुष एक है। परन्तु वैदिकों ने उस ब्रह्म या सुषुप्त ब्रह्म या सुषुप्त पुरुष को 'एक' कहने को मना तो नहीं किया पर समझने के लिए'अनन्तपुरुषाः' कहने को बाध्य किया है। जैसे—"यदेक एव तस्मादेका ॥१५॥ तदाहुः। एको मृत्युर्बहवा ३ इत्येकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयाद्य-दहासावमुत्र तेनैकोऽथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः॥" (श० प० ब्रा० १०-५-२-१५, १६)। सांख्य में पुरुष को इसीलिए अनन्त संख्यक माना गया है, वह एक होते हुए भी अनन्त रूपी अनन्त प्राणों का समाहार है, अतः अनन्त है। स्वाहा नाम यज्ञ या सृष्टि विकास का अन्त है। यह हेमन्त अन्तिम ऋतु का सूचक है। इसके बाद महाघोर भौतिक अहंकार आदि की सृष्टि नव वसन्त में होती है, देव सृष्टि भी वसन्त से ही आरम्भ हुई; श० प० ब्रा० (१-४-५-१३)। अथर्व वेद (८-४-१-२४) ने 'इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः' वाक्य द्वारा स्वाहा का प्रतिकूल शब्द दुराहा बतलाया है, यहां पर 'स्वाहा' शब्द को वैदिकों का एक नारा बतलाया है; जैसे बाद में 'हर हर महादेव' कहते थे। शत्रुओं के लिए 'दुराहा' कहते थे; मुर्दाबाद या नाश उसका अर्थ था। 'स्वाहा' माने जिन्दाबाद या जय जय कार और सु+आह=स्वाहा=शुभ वाणी भी है।

श्वा, अश्वा दोनों नाम सर्वा देवता के भी हैं और एक दैवत्य के भी और मातरिश्वा इन तीनों नामों की एक दूसरी पहेली है। इनमें से एक दैवत्य अश्वा नाम द्वितीय सप्तक के मरुतों या प्राण वायुओं का है। इस सप्तक के प्राण वायुओं के अन्य कई और नाम 'दधिक्रावन्, इष, ऊर्जः, महः आदि भी हैं जैसे "दधिक्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्" (ऋ० वे० ४-३९-४) और दधि-क्रावन् नाम 'अश्व' भी कहलाता है जैसे "यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ" (ऋ० वे० ४-३९-३)। अतः अश्व, दधिक्रावन् आदि सब द्वितीय सप्तक के मरुतों के नाम हैं। एकदैवत्य 'श्वा' नाम चतुर्थ सप्तक के प्राणों का है, जिसका पता निम्न ऋचा देती है, जिसमें लिखा है कि—

२—श्वा, अश्वा, मातरिश्वा आदि

"मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि" (ऋ० वे० ३-२९-११)।

मातरिश्वा उस तत्त्व का नाम है जिसमें माता 'वात' या वायु को जन्म देती है। यहां मातरः, उषा और आदित्य रूप गौ या आपः हैं। ये सब चतुर्थ सप्तक के तत्त्व हैं। अतः 'श्वा' माने स्वयं ही 'वाता' हो जाता है*। वैश्वदेव इन्द्र भी इसी सप्तक का तत्त्व है, इन्द्र का नाम इसी लिए 'श्वा' लिखा गया है "शुनं हुवेम

* अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः। स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने। (ऋ० वे० १-१४३-१,२)

मघवानमिन्द्रम्" (ऋ० वे० ३-३१; ३-३२, ३-३४, इत्यादि)। ऋग् और अथर्ववेद शुनं माने सुफाला, कीनाशा, वाहा, नरः और वरत्रा लिखा है जो चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के लिए विशेष कर सोम नाम या भूमि की कृषि का संकेतक है (३-३-१)। लोग श्वा माने कुत्ता और अश्वा माने 'घोड़ा' लगाते हैं। दधिक्रावन् को भी घोड़ा समझते हैं*। यहां प्रत्यक्ष से परोक्ष भावना का वर्णन मात्र है। प्रत्यक्ष अर्थ बिलकुल व्यर्थ है। मातरिश्वा का ही नाम 'दधीच' है जिसकी हड्डियों से इन्द्र का वज्र बना (पुराणों के अनुसार) माना जाता है। जैसे "अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि। अहं दस्युभ्यः परिनृम्णमाददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने॥" (ऋ० वे० १०-४८-२) नराशंस नाम इन्हीं मातरिश्वा वातों या प्राण वायुओं की आसुरी शक्ति या क्रिया या शरीर का है 'आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते' (ऋ० वे० ३-२९-११)। यास्क प्रभृति लेखकों ने 'नराशंस' के मंत्रों को अनादिष्ट देवता कहा है। नराशंस तो प्राणाग्नि है; आप्रं देवता के अन्तर्गत इसकी महिमा गाई गई है, जैसे "आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः। ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत्" (ऋ० वे० १०-७०-२)।

अब यह जान लीजिए कि वेदों में जिसका नाम असु है उसी का नाम 'अश्रु भी है और जिसे अश्रु कहते हैं उसी को 'अश्व' नाम से भी पुकारा जाता है। अश्रु आँख से निकलते हैं। यहां अश्रु नामक रसात्मक तत्त्व या ब्रह्म का उद्भव चन्द्रमा नामक प्रथम अणु रूप फूटी आँख से होता है।

३—असु, अश्रु, अश्म, अन्नं और पृश्निः

"सोऽस्य द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी, यच्चक्षुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादस्रवत्॥" (श० प० ब्रा० ७-१-२-७)।

यही अश्रु जब अग्नि से निकला कहा गया है तब इसे अश्व नाम से पुकारा गया है "यदश्रु संक्षरितमासीत्सोऽश्रु रभववदश्रुर्ह वै तमश्वमित्याचक्षते परोक्षं परोक्ष कामा हि देवाः।" (श० प० ब्रा० ६-१-१-११)।

और यही अश्रु अन्यत्र या पञ्चपर्वा विद्या में 'अश्म' नाम से पुकारा जाता है "एष वै यशोऽय यदश्रु संक्षरितमासीद् सोऽश्मा पृश्निरभवदश्रुर्ह वै तमश्मेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः॥" (श० प० ब्रा० ६-१-२-३)। इसी अश्म से अग्नि उत्पन्न मानी जाती है "यो ऽश्मनोरग्निं जजान" (ऋ० वे० २-१२) इसी अश्म को अन्यत्र या अन्य विद्याओं में अरणि या समिध भी कहा जाता है।

"अरण्योर्निहिता जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु" "समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्"। यहीं पर उक्त असु, अश्रु, अश्व, अश्म, अरणि या समिध को 'अन्नं' और 'यज्ञ' नाम से पुकारा है 'पुरुष एवेदं सर्वं······यदन्नेना-

---

* ऋ० वे० ५-८३-६ में तो 'अश्वस्यधारा' या अश्व की धारा बहने का वर्णन आता है। यह धारा भी पर्जन्य रूप अश्व या प्राणों की ही है।

तिरोहति' और 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्' में जो 'अन्न' और 'यशः' शब्द आये हैं वे उक्त असु आदि का ही विवेचन दे रहे हैं, यह ध्यान रहे। इन्हीं को गौ, वृषभ रूप वर्णना में "आयं गौः पृश्नीरक्रमीदसन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः" (ऋ. वे. १०-१८९-१ अथ० ६-३१-१) या 'पृश्नि मातरः' भी कहते हैं। पृश्निः=विश्वरूपिणी, विश्वरूपम्। पृश्नि नाम अश्मा का है, यह उक्त ६-१-२-३ के उद्धरण में साफ लिखा है। यही वाग्धेनु है 'वाचं धेनु मुपासीत'।

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमिरजायत। पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानु जायते॥" (ऋ० वे० ६-४८-२२)।

हां, जिस असु से या प्राण रूप चन्द्रमा से अश्रु, अश्व, अश्म, अरणि, यशः पृश्निः नामक तत्त्व उत्पन्न हुए उनका स्वरूप 'असुर' बना। प्राण रूप चन्द्रमा तो सु+असु=स्वसुः या 'श्वश्रू' रूप था। उसके दो भाग हो गये एक सु या स्वसु या श्वश्रु, दूसरा अश्रु आदि असुर। और हमारी समस्त भौतिक सृष्टि अखिल ब्रह्माण्ड 'असुर' सृष्टि है। इसका भी वर्णन वैदिक दे गये हैं। जब इन्द्र ने वृत्र का वध करना चाहा तो वृत्र ने उसे सलाह दी, भाई मुझे न मारो, जो तुम हो वही मैं हूँ, मैं तुमसे कई बातों में बढ़ कर हूं, क्योंकि मैं ही भौतिक ब्रह्माण्ड का दिव्य शरीर (अन्न) हूँ और उसका वर्धन करने वाला हूँ 'अन्नमेधी' हूं। इससे तुम्हारा कोई काम नहीं बनेगा, उलटे सब काम नष्ट हो जावेगा। इन्द्र की समझ में बात आ गई कि यह मेरा दिव्य शरीर है, तब उसने उसके दो भाग किये। जो उसका सौम्य भाग था उससे चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, जो आसुरी भाग (अन्नमेधी) था उससे अखिल ब्रह्माण्ड (इमाः प्रजाः) की सृष्टि की। जो अखिल प्रजा उदर भरण चाहती है, वह उसी वृत्र रूप उदर की पूर्ति के लिए या अन्न रूप दिव्य शरीर की पुष्टि के लिए। इसीलिए वृत्र को अन्नाद भी कहते हैं।

४—चन्द्र और श्वश्रू श्वसुरः

"स होवाच, मानु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा कुरु मामुया भूवमिति, स वै मे ऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्तस्मादाहुर्वृत्र एव तर्ह्यन्नाद आसीद् वृत्र एतर्हीतीदं हि यदसावापूर्यतेऽस्मादेवैतल्लोकादाप्यायते ऽथ यदिमाः प्रजाऽअशनमिच्छन्तेऽस्माएवैतद्वृत्रायोदराय बलिं हरन्ति स यो हैव मेतं वृत्रमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति॥" (श० प० ब्रा० १-५-२-१७)।

अतः जब चन्द्रमा को देवता कहते हैं तब वह श्वश्रु या स्वसु या सौम्य या सुर रूप में रहता है। सभी देवता सुर या श्वश्रु रूप में दूर से शुभ कामना करने वाले होते हैं। वे अपनी बेटी रूप अश्रु को दे देते हैं। इसीलिए सभी देवताओं का 'देवता' स्त्रीलिंग में कहने की शैली है कि वे 'श्वश्रू' के सम व्यवहार करती हैं और 'ब्रह्म' 'श्वसुर' रूप में दूर से अश्रु रूप दिये हुए दिव्य शरीरिणी पुत्री को असुर रूप

जामाता को देकर उसकी समृद्धि की शुभाकाङ्क्षायें लगाये रखता है, अपने कुछ नहीं करता, केवल द्रष्टा रूप में रहता है। इसीलिए कहा है "विश्वोह्यन्यो अरिराजगाम ममेदिह श्वसुरो ना जगाम।" (ऋ० वे० १०-२८-१) (वृत्र देखें)। श्वश्रू वाग् स्वरूपिणी होती हैं। समझाना, बुझाना, रोना, पीटना, वाग् स्वरूपिणी देवताओं का काम है, श्वसुर वाग् रूपिणी श्वश्रू के कारण सुख दुःखी सा दीखता है, वह हँसता रहता है (आनन्द मग्न) रहता है, अच्छा तो हंसे, बुरा तो हंसे, न अच्छा न बुरा तो हँसे। 'प्रजापतिर्वै श्वसुरः' (ऐ० ब्रा० ३-२-२२)

अश्वादि शब्द की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति जान लेने के पश्चात् 'अश्वमेध' के सम्बन्ध में 'अश्व' तत्त्व का जो तादात्म्य वैदिक दर्शन के प्रत्येक तत्त्व के नाम से उसके अंग प्रत्यंगों से श० प० ब्रा० (१०-६-४-१) तथा बृहदारण्यक ने आरम्भ में ही दिया है उसे यहां पर अवश्य जोड़ लें। उद्धरण 'वेदों की आत्मा विद्या परक अर्थ की दुन्दुभिः' नामक शीर्षक में पूरा दे दिया गया है, वहीं देख लें।

५—अश्व और अश्वमेध

अश्वमेध इस ब्रह्माण्ड का सबसे बड़ा मेध है। यह ब्रह्माण्ड अश्वमय या प्राणमय है जिसमें दोनों प्रकार के प्राण हैं, मेध्य प्राण और अमेध्य प्राण, जिन्हें क्रम से दैवी प्राण और आसुरी प्राण या दैवी संपदा और आसुरी संपदा कहते आये हैं। इनमें से भौतिक ब्रह्माण्ड में आसुरी प्राणों या सम्पदा का बाहुल्य रहता है। क्योंकि कहा जा चुका है कि अखिल ब्रह्माण्ड का भौतिक स्वरूप आसुरी प्राणों से बना है। यहां तक कि सभी देवताओं को भी 'असुर' नाम से पुकारा गया है (इन्द्र १-५४-३, वरुण १-२४-१४, सविता १-३५-१०) पूषा असुरः—स्वस्ति वाचन, अग्नि (असुर) ऋ०वे० (१-१०८-६)। अतः इस अमेध्यता या असुरता का मेधन करना मानवता का सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार के प्राणों का मेधन करने से प्राणों में शुद्धता आती है। बृह० उप० (१-१-७)। में लिखा है "यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्"। यह योग प्रक्रिया है, जिसके नाना रूप हैं। इसी को वैदिक आर्य अश्वमेध कहते थे। योग प्रक्रिया में सर्व प्रथम इन्हीं बाहरी अश्वों (प्राणों) का मेध (प्राणायाम प्रत्याहारादि) किये भी जाते हैं, जिससे बुद्धि में शुद्धता मेध्यता आती है, तब आगे क्रम चलता है। ऋग्वेद इसी बात को लिखते हुए कहता है।

"यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये। ददद्दचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते॥" (५-२७-४)।

अत्रि, अश्वमेधी, भातत ऋषि कहते हैं कि जो मुझ से अश्वमेध के बारे में पूछता है, उससे वही निवेदन है कि पहिले अश्वमेध मेधा देता है, फिर उससे वह ब्रह्ममय हो जाता है (ऋतायते), जिससे इन्द्राग्नी इस अश्वमेध के द्वारा 'शतदानी' या सैकड़ों फल देने वाला होता है। क्योंकि ऐसे अश्वमेध से इद्राग्नी रूप आत्मा भीतर ही भीतर ज्योतिष्मान् सूर्य की तरह चमकने लगता है (ऋ० वे० ५-२७-६)। इसीलिए अश्व के तीन बन्धन बतलाये हैं वे तीन बन्धन दिवि (त्रिपाद) में कहे

गये हैं। अश्व के ये तीन बन्धन प्रथम तीन सप्तकों के सूचक हैं। येही तीन नाभियां हैं। जैसे—

"इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः। सप्तस्वसारो अभि-संनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्तनाम" (ऋ० वे० १-१६४-३)। 'सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दशयुक्ता वहन्ति। सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा। (१-१६४-१४) सबसे अच्छा मन्त्र ऋ० वे० १-१६४-२ है जिस में इस अश्व का सर्वादेवता रूप में इस प्रकार विवेचन दिया है। "सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥"

पुनः इसका स्पष्ट विवेचन ऋ० वे० १-१६३ सूक्त में बड़े विस्तार से दे रखा है। जिस अश्व का वर्णन वेदों में आता है वह भूलोक में घोड़ा-घोड़ी से उत्पन्न नहीं होता। वरन् उसका उद्गम समुद्र नामक या पुरीष नामक चतुर्थ सप्तक से भौतिकात्मा या भौतिक प्राण रूप में ज्यों ही हुआ वह चिल्लाया। उसके श्येन के समान पंख हैं, हरिण के समान बाहु हैं, उसके अभिनय में पृथ्वी में जन्मे घोड़े की पूजा होती है॥१॥ इसको सर्व प्रथम यम ने दिया, इसको सर्व प्रथम इन्द्र ने अपना वाहन बनाकर सवारी की, गन्धर्व ने इसकी लगाम पकड़ी, और वसुओं ने इसे सूर्य तत्त्व से निर्मित किया॥२॥ हे अश्व तुम यम ही हो, तुम आदित्य ही हो, तुम दर्शन के पूर्वार्द्ध के तीन गुह्य व्रत या त्रिपादामृतीय गुहा हो, त्रिगुण हो, तुम सोम से सिञ्चित हो और दिव या पूर्वार्द्ध में तुम्हारे तीन बन्धन या तीन सप्तकों के विकासीय क्रम हैं॥३॥ तुम्हारे तीन बन्धन दिव में हैं, तीन बन्धन आपो ब्रह्म में है, तीन बन्धन समुद्र रूप चतुर्थ सप्तक में हैं। कोई आपके जनित्र को वरुण बतलाते हैं॥४॥ ····इसके सींग सोने के हैं, पाँव लोहे के हैं, पर मनोवेग के समान चलने में तेज हैं, इसलिए 'प्रथमो मनस्वान् इन्द्र' ने सबसे पहले इसकी सवारी कर सकी, इन्द्र के इसी कार्य से सब उसे हवि प्रदान करते आते हैं॥९॥ यह अश्व अखिल भुवन में व्याप्त है, अन्तिम सीमा तक व्याप्त है, इसका मध्यम अंग आदित्य या २५ वां सूर्य है (मंत्र २ देखें) यह उसका दूसरा शिर है, हंस रूप ब्रह्म के समान क्रमशः एक-एक तत्त्व रूप में विकसित होता है। अन्त में अद्रि रूप, चक्षु रूप आदित्य या सूर्य से इन अश्व रूप प्राणों का जन्म (भौतिक प्राण रूप में) होता है॥१०॥ (ध्यान रहे घोड़े के सींग तो किसी ने देखे न होंगे, पर वैदिक अश्व के सोने के सींग हैं, 'हिरण्यशृङ्गो'।) इस अश्व को (जै० ब्रा० २-१२९) ने ३४ वें तत्त्व रूप प्रजापति नाम से पुकारा है "अश्वश्चतु-स्त्रिंशः प्रजापतेर्वा एतद्रूपं यदश्वः"। उक्त मन्त्र यहां दे दिये जाते हैं:—

(१) यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुतवा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥
(२) यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥

(३) असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन ।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥
(४) त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे ।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥
(९) हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवेर इन्द्रे आसीत् ।
देवा इदस्य हविरद्यमायन्यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ॥
(१०) ईर्मन्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः ।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥

अब विचारणीय विषय यह है कि जो पशुरूप बलिरूप घोड़ा यज्ञ में प्रयुक्त होता रहा, क्या उसका वर्णन इस प्रकार का हो भी सकता है ? यहां पर जिस अश्व का वर्णन है वह स्पष्टतया वैदिक दर्शन के तत्त्व रूप प्राण रूप विश्वेदेवता रूप अश्व का है, बिना यह माने उक्त ऋचाओं का कोई भी उचित या संगत अर्थ कदापि भी नहीं लगा सकता, यह तो बिलकुल निर्विवाद बात है। यजुर्वेद-जिसमें अश्वमेध यज्ञ का आयोजन उक्त अश्व के अभिनय मात्र के लिए किया गया है—ने भी उक्त सूक्त के भाव को छिपा कर नहीं रखा है।* उसने यह बात मन में रख कर कि उक्त अश्व चतुर्थ सप्तक में विष्णु, रुद्र बृहस्पति, वृषभ की तरह भौतिक स्वरूप प्राप्त कर पूर्णता पाता है उसका आरम्भ कः ब्रह्म से हो जाता है—लिखा है—"त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे। उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥" (यजु० २९-१५) अश्वमेध यजुर्वेद का मुख्य यज्ञ है, उसी में अश्व की यह व्याख्या है। अतः मीमांसकीय अश्वबलिः अभिनय मात्र है, वास्तविक रहस्य वही है जो पहिले लिखा है।

---

*विशेष—इस अश्व के रथ के बारे में 'देवरथ' शीर्षक को अवश्य पढ़ लिया जावे।

अध्याय १९

अश्वमेध

अश्वमेध यज्ञ के सम्बन्ध में यजुर्वेद के २३ वें अध्याय में आये 'गणानान्त्वा 'गणपति ᳪ हवामहे' से लेकर 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' तक (२३-१८ से ३४ तक) के मन्त्रों के भाष्य में महीधर, उव्वट ने कात्यायन जी के श्रौत्रसूत्र (२०-६-१३ आदि) का अनुसरण करके उसे बीसवीं शताब्दी के आर्य समाजी विद्वानों के आलोचना का मुख्य विषय बना डाला है। यह निश्चित है कि कात्यायन जी का श्रौतसूत्र इस सम्बन्ध में गलती करता है। ऐसे ही महीधर, उव्वट के भाष्य भी हैं। उक्त तेरह मन्त्रों के अन्तःस्थल में निहित वास्तविक रहस्य यह है, जिसे हमारे ब्राह्मण ग्रन्थ स्वयं दे गये हैं। 'गणानान्त्वा' इत्यादि मन्त्र तो ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति का है जिसके बारे में ऐतरेय ब्राह्मण ने स्पष्ट लिखा है "गणानान्त्वा गणपति ᳪ हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं ब्रह्म वै बृहणस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति।" (१-४-२१) और स्वस्ति वाचन का "बृहस्पतिं सर्व गण ᳪ स्वस्तये" इत्यादि मन्त्र इस कथन की पुष्टि करता है। शतपथ ब्राह्मण इस ब्रह्म रूप बृहस्पति की व्याख्या अश्वमेध यज्ञ में अश्व रूप में करते हुए इसी 'गणानान्त्वा' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग करता है। इस अश्व रूप गणपति या ब्रह्मणस्पति की परिक्रमा तीन पत्नियाँ करती हैं। इन पत्नियों के नाम हैं 'अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका'। ये ब्रह्म की पत्नियाँ हैं जिन्हें 'त्रिनाभि' कहते हैं (त्रिनाभि चक्रम् इत्यादि १-१६४-२) जो प्रथम तीन सप्तकों के प्रथम परुष, पुरुष, पर्व, या ब्रह्म की प्रतिनिधियाँ हैं और अपने-अपने सप्तकों के मुख्याधिष्ठाता हैं। उन्हीं की ये पत्नियाँ हैं वाग्रूपिणी हैं। यहां अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या पशु (अश्व) रूप में की गई है। वही अश्वक पति है, उसीकी चार पत्नियाँ है, चतुर्थ पत्नी सुभद्रिका काम्पीलवासिनी या भौतिक शरीरिणी है। इस संबन्ध में यह मन्त्र पढ़ा जाता है "अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥" (यजु० २३-१८)। यह अश्वक नामक अग्नि से उत्पन्न ब्रह्म अब प्रथम आत्माओं—अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका—में रत न होकर उन्हें छोड़कर, भौतिकात्ममयी सुभद्रिका के साथ सोता है, अर्थात् आध्यात्मिकता से विरत है। योगी (भोगी नहीं) इन आत्मा रूप पत्नियों को उस अश्वक नामक ब्रह्म से मिला सकता है। अतः उनका उलाहना है कि हमें कोई उनके पास नही ले जा देता, सब भौतिकात्मा रूपी स्त्री के वशंगत हो गये हैं। उसके पास पहुँचने में अब भौतिक दीवाल (भौतिक दिव्य शरीर वृत्र) खड़ी है। शतपथ ब्राह्मण (१३-२-८) ने उक्त मंत्रों की व्याख्या में इसी भाव को विस्तार दिया है। उसमें तीन लोक, छह ऋतु, नौ प्राण, प्रजा, पशु, गर्भ, प्रजा

१—गणानान्त्वादि मन्त्र और अश्वमेध

इत्यादि का व्याख्यान इसी सरणि में दिया है। अश्व के 'चतुरः पादः सम्प्रसारयाव' में चतुष्पाद ब्रह्म की योजना बनाई है। अन्त में 'स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथाम्····· वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु' (यजु० २३-२०) का उल्लेख किसी अश्लील भावना से नहीं रंगा है। यह वृषा वही वृषभ है जिसे 'चत्वारिश्रृंगा' इत्यादि रूप में वर्णित किया गया है, यहां अश्व रूप वर्णना शाखा भेद से है, अन्यथा कोई अन्तर नहीं है।

कात्यायन, महीधर, उव्वट ने जिस योनि भोग को साकारता देने की चेष्टा में रानी और राजकुमारी से अध्वर्यु के व्यभिचार की कल्पना करके उसकी विधि दी है वह भ्रमपूर्ण और मर्यादाहीन आदेश है। यहां 'योनि' शब्द चतुर्थ सप्तक का निर्देशक है जिसका उल्लेख ऋग्वेद "स मातुर्योना परिवीतो" (१-१६४-३२) और "पिता दुहितुर्गर्भमाधात्" (ऋ० वे० १-१६४-३३) के अनुसार है। "आहमजानि गर्भधमा त्वजासि गर्भधम्' का सीधा अर्थ यह है" तुम गणपति या ब्रह्मणस्पति रूप अश्व स्वयं गर्भधम् अजासि या गर्भ धारण करने वाले हिरण्य गर्भ हो, और मैं भी तुम्हारे समान तुम्हीं से उसी रूप में गर्भधं रूप या हिरण्य गर्भ रूप या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड रूप में 'अजानि' उत्पन्न हो जाऊं।" यह वाक्य "पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूणात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" का पूर्ण आशय दे रहा है। 'यकासकौ शकुन्तिका' शब्द 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' का प्रतिद्वन्द्वी है। अध्वर्यु से 'मा अभिभाषथा' का भाव पूर्व पूर्व के सप्तकों के स्वरों के क्रम से मौन उपांशु अंशु स्वरूप से है। 'गिरिभार' 'मध्य' "शीते वाते पुनन्निव" शब्द मध्यवर्ती २५ वें तत्त्व रूप पर्वत की पञ्चपर्वा विद्या में विवेचना दे रहा है। शूद्र नाम चतुर्थ सप्तक के तत्त्व के लिए आया है। गभः शब्द गर्भवाची है; वर्ण विपर्यय से भगः नहीं है। भगः मानने पर भी यह द्वितीय सप्तक की वेदि के 'योनि' नाम का पर्य्याय होगा जैसा पहिले बताया जा चुका है, न कि रानी या राजकुमारी के भग का। 'मुष्टि' माने अध्वर्यु का लिंग नहीं वरन् गर्भावस्था के बालक की स्थिति का वर्णन देता है जैसा ऐ० ब्रा० ने लिखा है। जो कुछ यहां दो परिच्छेदों में कहा गया है उसका स्पष्ट विवेचन ऐतरेय ब्राह्मण ने ठीक इसी स्थिति और विधि का वर्णन देते हुए सा लिखा है।

२—गणनान्त्वादि मंत्र और कात्यायन महीधर तथा उव्वट

"पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्त्यद्भिरभिषिञ्चन्ति रेतो वा आपः सरेतसमेवैनं तत्कृत्वा दीक्षयन्ति नवनीतेनाभ्यञ्जन्त्याज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणमायुतं* पितृणां नवनीतं गर्भाणां तद्यन्नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति, स्वेनैवैनं तद्भागधेयेन समर्द्धयन्त्याञ्जन्त्येनं तेजो वा एतदक्ष्यो यँदाञ्जनं सतेजसमेवैनं तत्कृत्वा दीक्षयन्त्येकविंशत्या दर्भपिञ्जूलैः पावयन्ति शुद्धमेवैनं तत्पूतं दीक्षयन्ति दीक्षितविमितं प्रपादयन्ति योनिर्वा एषा दीक्षितस्य, यद्दीक्षितविमितं योनिमेवैनं

३—दार्शनिक गर्भ का वर्णन

* मलाई

तत्स्वां प्रपादयन्ति, तस्मात् ध्रुवाद्योनेरास्ते च चरति च तस्माद् ध्रुवाद्योनेर्गर्भा धीयन्ते च प्र च जायन्ते, तस्माद्दीक्षितं नान्यत्र दीक्षितविमितादादित्योऽभ्युदियाद्वाभ्यस्तमियाद्वापि वाभ्याश्रावयेयुर्वाससा प्रोर्णुवन्त्युल्बं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वास उल्बेनैवैनं तत्प्रोर्णुवन्ति, कृष्णाजिनमुत्तरं भवत्युत्तरं वा उल्बाज्जरायु जरायुणैवैनं तत्प्रोर्णुवन्ति। मुष्टी कुरुते, मुष्टी वै कृत्वा गर्भोन्तः शेते, मुष्टी कृत्वा कुमारो जायते, तद्यन्मुष्टी कुरुते यज्ञं चैव तत्सर्वाश्च देवता मुष्टचोः कुरुते, तदाहुर्न पूर्वदीक्षिणः संसवोऽस्ति परिगृहीतो वा एतस्य यज्ञः परिगृहीता देवता नैतस्यार्तिरस्त्यपरदीक्षिण एव यथा तथेत्युन्मुच्य कृष्णाजिनमवभृथमभ्यवैति, तस्मान्मुक्ता गर्भा जरायोर्जायन्ते सहैव वाससाभ्यवैति, तस्मात्सहैवोल्बेन कुमारो जायते" (१-१-३)

उक्त परिच्छेद में तो यजुर्वेद के २३-१८ से ३४ तक के मन्त्रों का भाष्य-सा लिखा प्रतीत होता है। यजुर्वेद जिसे उक्त छन्दों में देता है उसे ऐतरेय ब्राह्मण गद्य में प्रस्तुत कर रहा है। छोटे अक्षर वाले वाक्यों के शब्दों से दोनों की तुलना करके देखें। 'रेतः' माने कात्यायन प्रभृति ने वीर्य लगाया है, पर रेतः माने यहां 'आपः' साफ दिया है। योनि माने कात्यायन प्रभृति ने रानी या राजकुमारी की योनि लगाया है, पर यहां योनि माने 'ध्रुवा' स्रुक् स्पष्ट लिखा है। लकड़ी के बने ध्रुवा स्रुक् से ही योनि या द्वितीय सप्तक की वेदी का सदा अभिनय होता रहा है। अन्यत्र भी लिखा है "योषा वै वेदि वृषा अग्निः" (श० प० ब्रा० १-२-३-१५) "अथेतरा स्रुचो योषा स्रुग्वृषा" (श० प० ब्रा० १-२-४-९)। अन्तिम उद्धरण में मिथुन सम्पादन के लिए केवल घी में मुंह देखने का विधान मात्र स्पष्ट दे रखा है। उस स्रुवा को वस्त्र से ढक कर, उसे जरायु या गर्भाशय सा बनाते हैं। ऐसी क्रिया के बाद गर्भ में कुमार रूप का अभिनय करने के लिए कुमार की मुद्रा 'मुष्टि' या समुष्टिक मुद्रा दिखलाते हैं। यह तो है परम पूत या गर्भ या रेतोदधान या योनि का अभिनय। उसको कात्यायन प्रभृति ने यजमान की पत्नी और पुत्री और अध्वर्यु के सम्मिलन के अश्लील भाषण का स्वरूप देकर अच्छा नहीं किया।

४—पूर्वोक्त का भाव

अन्त में "सुरभिणो मुखाकरत्" का अर्थ भी गलत दिया है। यहां पर 'नो मुखं सुरभि आ करत्' का अर्थ "हमने अश्लील भाषण से जो अपने मुख दुर्गन्धित किये थे उन्हें सुगन्धित कीजिए" भी लिख दिया है। यहां 'सुरभि' शब्द सुगन्ध, दुर्गन्ध का वाचक कतई है ही नहीं। सुरभि शब्द पारिभाषिक है, द्वितीय सप्तक के प्राणों का विशेषण है। पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के उद्धरण की दूसरी पंक्ति में स्पष्ट लिखा है कि देवताओं की सुरभि 'आज्य' है, मनुष्यों की सुरभि घृत, पितरों की सुरभि आयुत (मलाई), गर्भों की सुरभि नवनीत। यहां पर सुरभि मनुष्यों के लिए है। अतः घृत प्राणों का प्रतिनिधि है। 'घृतं वै आयुः' कहा है। अतः इस मंत्र में "प्र न आयूंषि तारिषत्" 'हमारी आयु को पूरा करो' की स्पष्ट प्रार्थना है। इसी प्रकार उक्त

५—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' मंत्र का वास्तविक अर्थ

२३-१८ से ३४ तक के यजु के मन्त्रों में आये पारिभाषिक शब्दों का बिलकुल उलटा अर्थ लगा रखा है। इन मन्त्रों में माता, पिता, अच्छि, अञ्जन, निगल्गलीति, आहलक्, वृक्ष आदि सब शब्द पारिभाषिक हैं। सबका प्रयोजन द्वितीय सप्तक की अग्नियों का वर्णन गर्भ रूप में देना है। शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्रों के अर्थ के बारे में जितनी प्रामाणिकता शतपथ ब्राह्मण को दी जा सकती है उतनी और किसी को भी नहीं। शतपथ ब्राह्मण (१३-२-९-पूरे) ने उक्त संवादीय मंत्रों का अर्थ स्वयं दे दिया है, पूरा पढ़ लें। उसमें 'उर्ध्वमेनामुच्छ्रापय' माने श्री का राष्ट्र में क्रयण करना दिया है। 'गिरौ भारं हरन्निव' में 'श्रीवै राष्ट्रभारं' लिखा है, 'अथास्यै मध्यमेधतां' माने श्री का मध्य कहा है, 'यकासकौ शकुन्तिका' माने विड् लिखा है, आहलक् माने भी विड् दिया है, 'गभः' माने भी विड् ही लिखा है, 'पसो' माने 'राष्ट्रं'; 'अग्रं वृक्षस्य रोहत' माने श्री ही राष्ट्र की अग्र बतलाई गई है, 'प्रति लामीति, ते पिता गभे मुष्टिमतंसय' का अर्थ 'गभ विड् है वह राष्ट्र में प्रवेश करके हन्ति' लिखा है। 'हरिण्यो यवमत्तीति' में 'यव' माने भी विड् लिखा है और विड् को राष्ट्र का आद्य कहा है। 'न पुष्टं पशु मन्यते' माने राजा पशुओं को पुष्ट नहीं करता लिखा है। 'शूद्रा यदर्यजारा' के अर्थ में वैशी पुत्र के अभिषेक की मना ही की गई है और अन्त में 'दधिक्राव्णो अकारिषं' मन्त्र के अर्थ में इस मन्त्र को ऋचाओं में परमपूत माना है। क्योंकि यह सुरभि (घृत) वाली है, इससे प्राण अपक्रामण नहीं कर सकते, दीर्घायु बनते हैं। इतना स्पष्ट अर्थ है। कहीं भी किसी प्रकार की अश्लीलता की गंध तक भी नहीं है। इससे बिलकुल स्पष्ट है, उक्त मंत्रों का कोई भी अर्थ उक्त दो में से स्वीकार करें, इनमें दोनों अर्थ ठीक हैं। ऐ० ब्रा० तो हिरण्यगर्भ परक कुमारवाद की व्याख्या देता है और शतपथ ब्राह्मण वर्ण परक सिद्धान्त से अर्थ दे रहा है। दोनों ब्रह्म विद्यायें हैं।

अन्त में बड़े खेद के साथ लिखना पड़ रहा है कि श० प० ब्रा० १३-५-२ का पूर्वार्द्ध का पूरा अर्द्ध प्रपाठक किसी का किया या लिखा प्रक्षिप्तांश है। इसमें सन्देह नहीं। इसमें तीन मुख्य कारण हैं (१) संवाद नामक शीर्षक पहिले आ चुका है, उसमें इन्हीं मन्त्रों का अर्थ दूसरा दिया है जैसा लिखा जा चुका है (१३-३-९) (२) एक ही व्यक्ति एक ही मन्त्र का दो जगह दो प्रकार का अर्थ नहीं दे सकता, न शतपथ ने कहीं अन्यत्र ऐसा किया है (३) इस १३-५-२ को परिशिष्ट नाम से पुकारा है। शतपथ ने कहीं भी परिशिष्ट देने का अवसर ही नहीं छोड़ा है, सब विस्तार से कहा गया है, कोई दूसरा परिशिष्ट भी नहीं मिलता। अतः यह परिशिष्ट रूप द्वितीय संवाद व्यर्थ का संवाद है और निश्चय रूप से प्रक्षिप्त है।

९—उक्त व्याख्या का निर्णय

अश्वमेध वैदिकों को अत्यन्त प्यारा था। इसीलिए उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर गये हैं। इसकी महिमा के दो वाक्य बड़े महत्त्व के और परम वैज्ञानिक हैं।

(१) "एष वै व्यष्टिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यष्टं भवति।" (२) "एष वै व्यावृत्तिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यावृत्तं भवति।" (१३-३-७-३, ५) इनका आशय यह है कि अश्व-मेध यज्ञ व्यष्टिकारक और व्यावृत्ति (पार्थक्य) कारक यज्ञ है। यह कार्य सृष्टि विकास के क्रम में चतुर्थ सप्तक के पश्चात् 'अश्व' तत्त्व से (२९ वें से) आरम्भ होता है। इसके पहिले सम्पूर्ण सृष्टि एक रूप में, एकत्त्व रूप में या समष्टि रूप में ही सम्पन्न होती है। 'एकं सदेतत् त्रयमिदम्' (बृह० उप०)। त्रिपादामृत सब समष्टि की ही सृष्टि है।

७—अश्वमेध का महत्त्व

गोमेध वास्तव में धीमेध है। गो नाम वृषभ का भी है, आदित्यों का भी 'गावो वा आदित्याः' (ऐ० ब्रा० ४-३-१७)। जिस प्रकार प्राणों में दैवी और आसुरी दोनों भाव इकट्ठे रहते हैं उसी प्रकार बुद्धि में भी दैवी और आसुरी विचार एक साथ रहते हैं। आसुरी बुद्धि को पवित्र करना ही गोमेध है। संसार की सारी बुराइयों की जड़ यही आसुरी बुद्धि है। अतः उसको पवित्र करना मानवता या धर्म समाज के लिए एक परम आवश्यक कार्य है। फलतः गोमेध अन्य मेधों से अधिक आवश्यक है। गो माने मन, इन्द्रिय या रसमय भौतिक शरीर ही होता है। गोमेध इनको वश में करने का एक उत्तम मार्ग है। गो रूप इद्रियाँ, रसमय व्याप्ति और आदित्यों की प्रतिनिधियाँ हैं। उनका दमन ही गोमेध है। मन सबसे बड़ा 'गौ' (साँड़) है*। इसका दमन योगी ही कर सकते हैं। वे ही सच्चे गोमेधक हैं। यद्यपि कर्मकाण्ड में स्वागत में गो बलि देते थे, अपने को संयत रखने की सूचना सत्कार पूर्ति के लिए देते थे। पर वैदिक लोग अश्व और गौ के मांस को नहीं खाते थे, इसका प्रमाण हमें इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में ही दिया मिलता है जैसे—

८—गोमेध

(१) "नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात् पुरुषस्य वा एषोऽश्नाति योऽग्नीषो-मीयस्य पशोरश्नाति।" (ऐ० ब्रा० २-१-३) (२) "स यं पुरुषमालभन्त स किम्पुरुषोऽभवद्यावश्वं च गां च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत् तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमप-क्रान्तमेधा हैते पशवः।" (श० प० ब्रा० १-२-१-९)।

ऐतरेय ब्राह्मण ने तो यहां तक कह दिया है कि जो इन पशुओं के मांस को खाता है वह ब्रह्म (पुरुष) को खाता है; अतः इन्हें नहीं खाना चाहिए। और शतपथ ने घोषणा की है कि उक्त पशु अपक्रान्तमेधा हैं, इनके खाने से बुद्धि नष्ट हो जावेगी; अतः नहीं खाना चाहिए। गो वध को तो ऋग्वेद में स्पष्टतया मना किया है—

---

* चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्य वायोरिव सुदुष्करम्॥ गीता (६—३४)

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।"

(ऋ० वे० ८-१०१-१५)

कि अनपराध वाणी रूप गाय का वध मत करो, वह अदिति है। अजामेध ३० वें तत्त्व का विकास बतलाता है।

९—पुरुषमेध

यदि आप शतपथ ब्राह्मण के 'पुरुष मेध' नामक अध्याय को (१३-६-१-१) पढ़ें तो आप को पूरा विश्वास हो जायगा कि अब तक जो कुछ भी मेध के बारे में कहा गया है वह सर्वांश में अक्षरशः सत्य है। वेदों में पुरुषमेध की चर्चा पुरुष सूक्त के 'अबध्नन्पुरुषं पशुम्' मंत्र और ऐतरेय ब्राह्मण के 'शुनः शेप' वाले आयोजन के सम्बन्ध में मिलती है। इसे लोग नरमेध संज्ञा देने में भी नहीं हिचके हैं। पर श० प० ब्रा० ने लिखा है कि पुरुष तो नारायण है, वह एक से अनेक होने की कामना से पुरुषमेध या अपना विकास पाँच रातों में करता है (पञ्चैव पशवः)। उसने यज्ञ क्रतु देखा, उसी के यज्ञ से सर्व भूतों में या नाना रूपों में प्राप्त हो गया। उसकी २३ दीक्षा हैं—प्रथम २३ तत्त्व विकास हैं, २४ वां दक्षक्रतू है। यह विराट् पुरुष तब बनता है जब यह ४० वें तत्त्व तक विकास पा जाता है.........यह पञ्चरात्र मध्यवर्ती यज्ञ या विकास है। पुरुष-मेध नाम तो पूर्ण सृष्टि-विकास का है, उसके दो भाग पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों विभिन्न प्रकार से ज्योतिष्मान् हैं, इसी मध्यस्थल में वृत्रवध होता है। यह पुरुषमेध सप्तसदों, सप्त ऋतुओं या विराट् छन्द द्वारा पञ्चभागों के पञ्चाह्नों में विभक्त है। इसका नाम नृमेध दिया है और कहा है कि नृमेध प्रजा के विस्तार का नाम है 'अग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सम्' (ऋ० वे० १०-८०-३)। यह पुरुषमेध स्वयं संवत्सर आत्मा है, इससे सम्पूर्ण सृष्टि विकसित होती है। इसी प्रकार १३-६-३-१ में सर्वमेध का वर्णन किया गया है। यह सर्व मेध ब्रह्म मेध है, स्वयम्भू मेध है, जिसका विकास दशरात्र में वर्णित किया गया है। विकास क्रम देखकर विश्वास पूरा कर लीजिये—प्रथम दिन–अग्नि; द्वितीय दिन–इन्द्र; तृतीय दिन–सूर्य, चतुर्थ दिन–वैश्वदेव; पञ्चम दिन–अश्वमेध, षष्ठ दिन–पुरुषमेध, सप्तम दिन–आप्तोर्याम; अष्टम दिन–त्रिणव; नवम दिन–तैंतीस देवता; दशम दिन–विश्वजित्; इसके बाद दक्षिण भाग के तत्त्वों का विकास कहा है, पूरा दिया नहीं गया है। अन्त में पितृमेध का वर्णन (१३-८-१ में) दिया मिलता है। क्या पितरों का वध होता रहा? कैसे? कदापि नहीं; अब तो आपको निश्चय हो गया होगा कि वैदिकों का मेध शब्द, बलि, हत्या या वध वाची नहीं वरन् यज्ञ, पवित्र मेधन, पूति और विकास अर्थ में प्रयुक्त है। यज्ञ माने भी विकास ही होता है। यह ऋग्वेद स्वयं सूचित करता है—

"शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः"।
"विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्॥"(१०-८१-५,६)

यहां पर 'यजस्व' दो बार आया है; दोनों स्थलों में इसका अर्थ 'विकास' या 'विकसित होना' ही ठीक-ठीक बैठता है।

अब शुनः शेप सम्बन्धी नरबलि की कथा भी सुन लीजिए। नरबलि तो हुई नहीं, पर आयोजन बहुत तीव्र, गम्भीर और हृदय विदारक सा प्रस्तुत किया गया है। इस कथा में सरसता का यही एक कारण भी है, नहीं तो वे ही ढाक के तीन पात दृष्टि गोचर होते हैं। अपनी मुक्ति के लिए शुनः शेप सर्व प्रथम प्रजापति की फिर क्रम से वरुण, अग्नि, सविता, विश्वेदेव, इन्द्र की प्रार्थना करता है और अश्विनी की प्रार्थना करके उनके साथ चल देता है। यहां पर सब देवता चतुर्थ सप्तक के हैं। विश्वामित्र जिसने उसकी सहायता की, अपना ज्येष्ठ पुत्र माना, वह स्वयं वैदिक तत्त्व है। चतुर्थ सप्तक 'नर' कहलाता है या 'नृषद्' कहा जाता है। यहां नर रूप भौतिकता का आरम्भ हो जाता है। शुनःशेप इसी भौतिकता से उक्त देवताओं का ध्यान करके मुक्ति पाता है। यहां अजीगर्त और हरिश्चन्द्र की आसुरी भौतिकता का शमन है, शुनः-शेप तो स्वयं प्राणमय है। शुनः प्राणस्य शेपः रूपमिति शुनः शेपः। वह अभौ-तिक है, उसका बन्धन और वध असम्भव है। 'शुनःशेप' यह नाम ही संके-तक है। यहां पर नरमेध माने चतुर्थ सप्तक के 'नर' तत्त्वों या भौतिक तत्त्वों का मेध या विकास है। अजीगर्त और हरिश्चन्द्र जैसे भौतिक लोगों की भावना का विकास इस प्रकार से दिखलाया गया है। कर्मकाण्ड में कोई लुके-छिपे नरबलि करते भी हों तो कहा नहीं जा सकता, पर वैदिकों का अभिप्राय पुरुषमेध से या इस आख्यान से नरबलि का ढिढोरा पीटना नहीं था। यह भी शतप्रतिशत सत्य है। यह तो योग की प्रक्रिया या ज्ञान प्रक्रिया का एक सरल मार्ग मात्र है और "परोक्षं वै देवाः, परोक्षं वै यज्ञः" वाक्य तो शुनः शेप की प्रार्थना तथा हरिश्चन्द्र के यज्ञ की परोक्ष भूमिका स्वयं प्रस्तुत करके उक्त आख्यान को रहस्यवादी घोषित किये बिना नहीं रह सकता।

१०—शुनःशेप का नरमेध

———

अध्याय १७

गुहा या त्रिःसप्तवाद

वैदिक दर्शन में 'गुहा' नाम का तत्त्व अनेक रहस्यों का सूचक है। केवल ऋग्वेद में ही वह शब्द ५३ बार आया है। अन्य वेदों में इसका प्रयोग इससे कम संख्या में नहीं मिलता। बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वैदिक दर्शन के पारमार्थिक ज्ञान के अभाव में लोग या आधुनिक तथा मध्यकालीन यास्क, शंकर, सायणादिक इस शब्द का अर्थ उसी अन्धकारमय अर्थ में लगाते हैं या प्रयुक्त करते हैं, जो 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' के गुहा शब्द का लगाते फिरते हैं। गुहा माने न तो 'गुफा' विल या गुहा है, न अन्धकारमय। इसका अर्थ 'गुहा' तत्त्व की पारिभाषिकता पर निर्भर है। गुहा शब्द के पारिभाषिक अर्थ के पेट में ही धर्म तत्त्व का भी वास है। अतः उक्त वाक्य भी वैदिक दर्शन के धर्म तत्त्व की समुचित व्याख्या गुहावादी अर्थ में वैज्ञानिक रीति से देता है। इसका विवेचन इस प्रकरण के अन्त में दिया जायगा।

१—गुहा शब्द की पारिभाषिकता

वेदों में या ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में गुहा शब्द का प्रयोग दर्शन के पूर्वार्द्ध के तीन पद रूप २३ तत्त्वों के लिए किया गया है। यह शब्द यहां पर पारिभाषिक है। गुहा शब्द की इस पारिभाषिक अर्थ की प्रामाणिकता :—

२—गुहा और त्रिःसप्त तथा त्रिपादामृत

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।'
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४५)

पाठ की ऋचा घोषित करती है। यह ऋचा चतुष्पाद शब्दब्रह्म के प्रथम तीन पदों को 'गुहा' पूर्वार्द्ध नामक २३ तत्त्वों में सुरक्षित बतलाती हुई कहती है कि शब्दब्रह्म के इन चतुष्पादों को केवल अनूचान, शुश्रुवान् मनीषी ब्राह्मण या दार्शनिक ही जानते हैं। इनमें से गुहा में स्थित तीन पद रूप २३ तत्त्व तो नेङ्गयन्ति या अनिरुक्त हैं अथवा तूष्णीं उपांशु और अंश रूपी हैं। तुरीय पादीय या चतुष्पादीय वाक्पद को मनुष्या या नृषद् या नरषद या चतुर्थ सप्तक के तत्त्व रूप मनुष्य, या देवता या पशु बोलते हैं। प्रथम तीन पदों को वैदिक आर्य एक दूसरे 'त्रिःसप्त' नाम से भी पुकारते थे। अतः उक्त तीन पद रूप त्रिःसप्त या तीन सप्तकों को भी गुह्यानि पदानि कहा है। जैसे "त्रिःसप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदा ॥" (ऋ०वे० १-७२-६), तथा "त्रिःसप्त सख्युः पदे" (ऋ०वे० ८-६९-७)। ये उद्धरण हमारी ऋचा के 'गुहा त्रीणि निहिता (पदानि)' की व्याख्या सी कर देते हैं। वैदिक ऋषि त्रिःसप्तवादी गुहावाद को कभी 'त्रिःसप्त समिधः कृताः' (ऋ० वे० १०-९०-१५) कहते हैं तो कभी "त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो"

(ऋ० वे० १०-६४-८), कभी 'त्रिःसप्त सानु संहिता गिरीणाम्' (ऋ० वे० ८-९६-२) कभी "त्रिःसप्त विष्पुलिङ्गकाः" (ऋ० वे० १-१९१-१२), कभी "त्रिःसप्तैः शूर सत्वभिः" (ऋ० वे० १-१३३-६), कभी "ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते।" (ऋ० वे० १-२०-७) कभी "उस्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्" (ऋ० वे० ८-४६-२६) कभी "त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे" (ऋ० वे० ९-७०-१, ४-१-१६; ७-८७-४; ९-८६-२१)। प्रतीत होता है समस्त वैदिक वाङ्मय इस त्रिःसप्तवादी गुहा में ही समाया है। त्रिवादी रथ और व्याख्यायें सब इसी गुहावाद के अंग हैं (देवरथ देखें)। उक्त अन्तिम धेनुविषयक उद्धरण का समर्थन निम्न ऋचा करती है—

"तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥"
(ऋ० वे० ९-९७-३४)

और, 'तिस्रो वाच उदीरते' (ऋ० वे० ९-३३-४)
'तिस्रो वाचः प्र वद' (ऋ० वे० ७-१०१-१)

इसी प्रकार के त्रिवादी उल्लेख केवल ऋग्वेद में ६६ और मिलते हैं। त्रिवादी मंत्र प्रारम्भ में देखें। हां, उक्त धेनुओं को ऋग्वेद वाक् नाम से ही पुकारता है। "धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु' ऋ० वे० ८-१००-११) इसी को बृहदारण्यक उपनिषद् 'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारःस्तनाः' (७-८) कहकर स्तन रूपी चतुःस्तनीय ब्रह्म की व्याख्या देता है।

अतः ऋग्वेद ने समस्त दर्शन के दो भाग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को दो चक्रों के नाम से पुकार कर प्रथम चक्र का नाम ही गुहा कहा है। इसे केवल ज्ञानी ही या अर्द्धों के ज्ञानी ही जानते हैं यह भी लिखा है जैसे

३—गुहा और दो चक्र

"द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥" १०-८५-१६
"इच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः" (ऋ० वे० १०-६७-४)

'गुहा' माने त्रिपादामृत के 'त्रिःसप्त' या पूर्वार्द्ध के २३ तत्त्व होते हैं। 'वाणी के वे चार पद कौन-कौन से हैं' (कतमानि तानि चत्वारि पदानि ?) प्रश्न के उत्तर में यास्क ने जो आर्ष और प्राचीन नैरुक्त मत दिये हैं वे वास्तव में 'गुहा त्रीणि निहिता' पद की समुचित व्याख्या देते हैं। आर्ष मत यह है कि 'ॐकारो महाव्याहृतयश्च' कि तीन पद ॐकार या ओ३म् रूप शब्द ब्रह्म के तीन पद हैं या येही 'भूर्भुवःस्वः' नामक तीन महा व्याहृतियाँ तीन सप्तकों के प्रतिनिधि रूप तीन लोकों के प्रतीक रूप पद हैं। प्राचीन नैरुक्त मत इन्हीं तीनों को 'ऋचो यजूंषि सामानि' या ह्रस्व स्वर, दीर्घस्वर और ऊष्माण रूप तीन पद मानते थे। पुरुष सूक्त की "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥" ऋचा की व्याख्या को इस सम्बन्ध में देखा

४—वाणी के चार पद कौन-कौन हैं ?

जावे। वैयाकरणों और याज्ञिकों के मत तो इन तीन या चार पदों की व्याख्या न करके लौकिक व्यावहारिक वाणी के चार पदों की व्याख्या करते हैं, उनका वैदिक ऋचा की वाणी के पदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैयाकरण मतानुसार 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' या संज्ञा, क्रिया, निपात और उपसर्ग पद भेद हैं। ये बोलचाल की या साहित्य की भाषा के शब्दों के चार भेद हैं। इनमें तीन के गुहास्थ का प्रश्न ही नहीं उठता। महाभाष्यकार पतञ्जलिने 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा' आदि ऋचा की व्याख्या में इन्हीं लौकिक भाषा के भागों को 'चत्वारि पदानि या 'चत्वारि शृङ्गा' समझा है। इस ऋचा की व्याख्या तत्त्वनिर्णय तथा विष्णु, रुद्र शीर्षकों में दे दी गई है। याज्ञिक मंत्र या कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मंत्र, कल्प (विधि), ब्राह्मण (व्याख्या) ग्रन्थों या भागों को तीन पद तथा व्यावहारिक भाषा को चतुर्थ पद कहता है। तब प्रथम तीन पद गुहास्थ और नेङ्गयन्ति कैसे कहे जावेंगे ? एक और प्रसिद्ध मत उद्धृत करके यास्क जी अधूरी बात लिखकर कुछ अन्धकार में डालने का प्रयत्न कर गये हैं, ठीक नहीं समझ पाये हैं। तीन पदों में से प्रथमपद सर्पवाक्, द्वितीयपद पक्षीवाक्, तृतीयपद क्षुद्रसरीसृप वाक् और चतुर्थीवाक् को याज्ञिक नैरुक्त और एके (किन्हीं के) मत में व्यावहारिकी बतलाते हैं। एक और हैं जो तीन पदों को पशुवाक्, तूणववाक्, मृगवाक् कहते हैं। और चतुर्थी वाक् को आत्मा की वाणी बतलाया है इसे 'आत्म प्रवादाः' नाम से पुकारा है। सम्भवतः अन्तिम दो मत किसी ब्राह्मण ग्रन्थ के वाक्यों के संकलन हैं। वेदों में एक मत सर्पवादी भी है (अहिर्बुध्न्य देखें)। पशुवाद तो वेदों की आत्मा है (पशुवाद देखें)। अन्त में यास्क ने एक उद्धरण ब्राह्मण ग्रन्थ का दिया है जिसमें ऋचा के चारों पदों की व्याख्या शब्द ब्रह्म व्याख्या रूप में उत्तम और स्पष्ट रीति से इस प्रकार दे रखी है

"सा वै वाक् (ब्रह्म) सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेषु लोकेषु त्रीणि; पशुषु तुरीयं या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे; यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नावथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुस्तस्माद्ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणामिति ॥"

कि वाक् (ब्रह्म) सर्वप्रथम विकास रूप में प्रगट होने पर चार भागों में विभक्त हुई (चार पदों में विभाजित हुई)। इनमें जो प्रथम पद है, वह पृथिवी या प्रथम पद या सप्तक अग्नि रूप में प्रगट हुई। यहां पर पृथिवी भू लोक या प्रथम लोक का वाचक है (पृथिवी छः प्रकार की है—'पृथिवी' शीर्षक देखें)। उसकी गणना रथन्तर छन्द से की जाती है, द्वितीय पद या सप्तक अन्तरिक्ष में द्वितीय सप्तक या पद में वायु रूप में प्रगट हुआ, वह वामदेव्य छान्दस वाणी कहलाई; तृतीय सप्तक या पद दिव या तृतीय सप्तक में उदित हुआ। वहां वह वाक् आदित्य रूप में प्रगट हुई, जिसकी गणना बृहती से की जाती है। वह वज्र या वैद्युतीय स्वरूपी वाणी रही (ये तीन पद गुहास्थ हैं)। अन्त

में चतुर्थ पद चतुर्थ सप्तक के 'पुरुषपशुरश्वोगौरविरज' रूप पशुओं की वाणी रूप में विकसित हुई। यहां वाणी निरुक्त बनी इस से पहिले, गुहा में तूष्णी या उपांशु रूपिणी थी। इनका विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में दिया है जिनमें लौकिक और वैदिक दोनों पक्षों की वाणी की व्याख्या मिलती है। चतुर्थ सप्तक मनुष्य नामक सप्तक है, नृषद् कहलाता है और सोमसूर्य चन्द्रादि देवता भी इसी सप्तक में हैं। अतः इस सप्तक के तत्त्वों की व्याख्या ब्राह्मणों ने मनुष्य वाणी और देववाणी दोनों रूपों में दे रखी है। भूल से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये मनुष्य हम आप जैसे हैं। ये मनुष्य तो पारिभाषिक 'मा दुषदिति मनुष्याः' (ऐ० ब्रा० ३-३-३३) के मनुष्य रूप तत्त्व हैं, या मनु रूप चतुर्थ सप्तक के मुख्य ब्रह्म की प्रजा रूप तत्त्व नामक मनुष्य हैं (पुरुष सूक्त १०-९०-१० मंत्र की व्याख्या देखें)। यास्क उक्त मंत्र की शब्द या वाक् की व्याख्या को अतिस्तुति या प्रवह्लित अथवा अतिशयोक्ति कह देते हैं।

आजकल के कुछ संस्कृत पढ़े-लिखे लोगों में इस 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' नामक ऋचा का महावरा सा है। इसके अर्थ में वे यास्क के दिये मतों को भी नहीं जानते और ये लोग इसके अर्थ में एक मध्यकालीन उपनिषद् के दिये हुए वाणी के चार भेदों—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—को समझते हैं। वाणी के चार पदों में केवल अन्तिम पद या चतुर्थ पद मात्र 'परा' वाणी है। और शेष पद तो मानसिक वाणी या अनिरुक्त वाणी या 'पूर्वा' वाणी के तीन पद या सप्तक हैं।

५—चत्वारि वाक्-पदानि और परा, पश्यन्ती मध्यमा, वैखरी

पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तो बिलकुल लौकिक और महाभौतिक वाणियाँ हैं। इनका सम्बन्ध उक्त वैदिक चार वाणियों में से किसी भी पद या पाद से नहीं है। इस सम्बन्ध में यहां पर स्पष्टता के लिए श० प० ब्रा० (१-४-७-८ से १३ तक) की एक कथा दे देना आवश्यक और सार्थक सिद्ध होगा। "एक बार मन और वाणी में विवाद छिड़ गया। प्रत्येक अपने को एक दूसरे से बड़ा कहने लगा। दोनों निर्णय के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति मन ही मन बोले और यह निर्णय दिया कि वाणी तो मन की अनुकरण शीला है और 'परा' है। तब वाणी को इतना आश्चर्य हुआ कि उसका गर्भपात हो पड़ा और कहने लगी मुझे तो 'परा' या अहव्यवाड् कह दिया है। मैं देवताओं के काम की नहीं रही। जब देवता उसके गर्भपात को ढूँढने लगे तो देखने वालों ने कहा 'अत्रत्यात्' अर्थात् 'यहां गिरा'। तब जो वहां उत्पन्न हुआ था उसे 'अत्रत्यात्' कहते-कहते संक्षेप करते-करते 'अत्रिः' कहने लगे, उसकी वाणी आत्रेयी कहलाने लगी।" कथा का सार यह है कि पूर्वार्द्ध या गुहा की वाणी मानसिक या आध्यात्मिक या त्रिपादामृतीय या अनिरुक्त या तूष्णीं या उपांशु ही रहती है, यह प्रजापति की वाणी है। और जो परा या अहव्यवाड् वाणी है वह उत्तरार्द्ध की भौतिकी वाणी है। इस दृष्टि से 'गुहा त्रीणि निहिता (पदानि)' के तीन पद पूर्वा वाणी

के या पूर्वार्द्धीय गुहा की तीन सप्तक वाणियाँ हैं। परा वाणी का आरम्भ चतुर्थ सप्तक से होता है जो भौतिकी या पशु रूप तत्त्वों की या नृषद् नामक नर तत्त्वों की या ऐ० ब्रा० की कथानुरूप (३-३-३३) मादुष या मनुष्य नामक तत्त्वों की (तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति) वाणी है। इससे यह फलित हुआ कि उपनिषद् के दिये हुए पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेद केवल लौकिक बोलचाल की व्यावहारिक भाषा के वैसे ही पारिभाषिक अंग हैं, जैसे वैयाकरणों के 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताः'। इनका वेद की ऋचा के उक्त किसी पद या सप्तक से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ऊपर जो कथा अत्रि की दी गई है, वह अत्रि तात्त्विक महर्षि हैं, छन्द या मंत्र रचयिता ऋषि नहीं हैं। यह अत्रि वाक् रूप अत्रि है, 'परा' वाक् रूप अत्रि है। इसका ज्वलंत प्रमाण बृहदारण्यक उपनिषद् ने दर्शन की व्याख्या सृष्टि-वृक्ष रूप में करते हुए इस प्रकार प्रस्तुत किया है

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।

तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥" (४-३-३, ४)

इसकी व्याख्या स्वयं देते हुए उपनिषद् ने लिखा है कि ऋषि नाम प्राणों का है (ऋषयः शीर्षक भी देखें)। वाणी सात ऋषियों में से अन्तिम या अष्टम या आत्रेयी 'परा' वाक् है जैसे—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिरः (गुहापूर्वार्द्धम्) तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो, निहितं विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते (अत्रत्यादिति)—इमावेव गोतमभारद्वाजा ………वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते ऽत्तिर्ह वै नामैतत् यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥"

यहां रेखाङ्कित शब्दों में 'वाणी ही अत्रि है' 'अत्ति नाम वाले ही को अत्रि कहते हैं' यह स्पष्ट लिखा है। यही अन्न या भौतिक तत्त्व या भौतिक वाणी कही गई है। यह वाक् सर्वस्यात्ता या सर्वभक्षी या सर्वहुत है, अर्थात् वैश्वानराग्नि रूप है और जातवेदा अग्नि का अन्तिम परिणाम है। अतः उक्त आख्यान पूर्णतः दार्शनिक है और परा को उत्तरार्द्ध की भौतिकी वाणी सिद्ध करता है।

उपनिषदों में गुहा शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है, और अर्थ वही है, जो वैदिक ऋचाओं और ब्राह्मण विवेचनाओं से निर्णीत किया जा चुका है।

६—उपनिषदों में गुहा का प्रयोग

कठोपनिषद् ने "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो यदन्ति।" (३-१) में प्रथम या परम परार्द्ध या पूर्वार्द्ध रूप गुहा में प्रविष्ट होकर ऋत नामक त्रिपादामृत को पीने वालों को सुकृत लोक या गुहा में तपोरूप में विद्यमान बतलाया है, और कहा है कि उत्तरार्द्ध रूप शरीर या शरीरी पूर्वार्द्ध रूप प्रकाश की छाया या प्रतिबिम्ब हैं। इस सिद्धान्त के ज्ञाताओं का नाम ब्रह्मविद् है। सुकृत नाम क्रतु या शतक्रतु का है, जैसे 'कृतो

स्मर कृतं स्मर, कृतो स्मर कृतं स्मर"। यह सुकृत लोक या क्रतु लोक या कृतलोक गुहा या गायत्री के त्रिपादामृत से ही उत्पन्न है, यह यहाँ भी स्पष्ट है। गुहा लोक का नाम अकृत लोक है। (दश० उप०) दोनों सुपर्ण गुहा से बाहर उत्तरार्द्ध के सोम और वृत्त या दैवी तथा आसुरी वृत्ति की भौतिकात्मायें हैं, जिनमें प्रथम अनश्नन् द्वितीय अश्नन् तत्त्व है, क्षेत्रज्ञ पूर्वार्द्ध है क्षेत्र उत्तरार्द्ध। "ऋषिभिर्बहुधा गीतं............एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्" (गीता) देख लें। कठोपनिषद् ने फिर गुहा शब्द को दुहराया है और यहाँ परं ब्रह्म को उस गुहा में गूढ, अनुप्रविष्ट, गुहा में व्याप्त, और सदा उस गुहा में स्थित तथा सबसे प्राचीन या पुराण या पूर्वार्द्धीय बतलाते हुए लिखा है कि वह दुर्दर्श या अनभिज्ञेय या अदृष्ट है जैसे "तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्॥" (२) तदनन्तर फिर लिखा है कि वह गुहा में प्रवेश करके स्थित रहता है, उसे भूतों या तत्त्वों के समीचीन ज्ञान से देखा या समझा जा सकता है जैसे "गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत एतद्वै तद्" (कठ ४)। गुहा प्रविष्ट तत्त्व ही त्रिपादामृत रूप ब्रह्म है यह इसका निर्णय है। तैत्तिरीय उपनिषद् (अनुच्छेद १ ब्रह्मानन्द वल्ली) कहता है कि ब्रह्म सत्य (विभुः) ज्ञान (ज्योतिः) और अनन्त (अक्षरों का अक्षर ब्रह्म) है वह इस रूप में गुहा या त्रिपादामृत में या परमे व्योमन् या पूर्वार्द्ध में रहता है। जो इस गुहावासी ऐसे तत्त्व को जानता है वही ब्राह्मण (ब्रह्म वेत्ता) है, वही विपश्चित् है, वही सब ज्ञान की कामनाओं की अनुभूति का आस्वादन कर सकता है, जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्त्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥" मुण्डक उपनिषद् ने गुहा शब्द का प्रयोग दो बार किया है जैसे "आविः...गुहा चरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।" "तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।" (३-१, २) यहाँ पर प्रथम में आविः नामक ब्रह्म को गुहा का संचरणकारी बतलाया है, उस गुहा में २४ तत्त्व रूप ग्रन्थियाँ हैं जिनको पार करके प्रथम ब्रह्म रूप अमृत की प्राप्ति तथा पाप्मा और शोक रूप भौतिकता से मुक्ति मिलती है। श्वेताश्वतर उप० ने भी इस गुहा शब्द का प्रयोग दो बार किया है जैसे "अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः" (३-२० नारा० उप० में भी है)। यह आत्मा को गुहा वासी बतलाता है। वह आत्मा अणोरणीयान महतो महीयान् है। यही त्रिपादमृत कहलाता है।

७—शारीरिक गुहा

नारायण उपनिषद् (६८) तथा सुबाल उपनिषद् (६) ने गुहा को वैयक्तिक ब्रह्माण्ड के भीतर बतलाया है। ये दोनों गुहा शब्द का संकुचित तथा एकाक्षी अर्थ दे रहे हैं। गुहास्पद आत्मा तो त्रिपादमृत है, वह शरीर के बाहर भीतर दोनों ओर बराबर व्याप्त है जिससे यह सिद्ध होता है कि गुहा में शरीर है, शरीर में गुहा नहीं। शरीर के अन्दर भी गुहा है। उसी एक पक्ष को लेकर ये कहते हैं,

"अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु" (ना० उ०); "अन्तः शरीरे निहितो गुहायाम्" (सुबाल० उप०) कहा तो इन्होंने भी ठीक है कि विश्व मूर्ति रूप ब्रह्माण्ड के भीतर भी वह ब्रह्म गुहास्थ होकर त्रिपादामृतीय दैवी त्रिधात्मा स्वरूप में ही रहता है, क्योंकि भौतिक ब्रह्माण्ड में तो पाप्मा, भ्रातृव्य, भौतिकता की आसुरी वृत्ति का प्राबल्य रहता है, तिस पर भी वह अमृत या दैवी स्वरूप में, गुहास्थ या उस भौतिकता से पृथक् सा ज्योतिर्मय रूप में इस अखिल ब्रह्माण्डीय शरीर को प्रकाशित किये रखता है, बाहर तो वह अनन्त असीम रूप में है ही। कहने का तात्पर्य यह है कि गुहा नाम त्रिपादामृत के त्रिधात्मामृत का या दर्शन के पूर्वार्द्ध का है जो वैयक्तिक या अखिल ब्रह्माण्ड के बाहर-भीतर दोनों ओर एक रूप में व्याप्त है, विभुः है। इतना अवश्य है कि ये ग्रन्थ गुहा शब्द के प्राचीन अर्थ को कुछ नवीनता दे रहे हैं, और प्रायः योग मार्ग में घटित कर रहे हैं। इसका स्पष्टीकरण श्वेताश्वतर (५-१) ने पुनः वैदिक ढंग से कर दिया है। कहा है हमारे या अखिल ब्रह्माण्ड में दो अक्षरों का ब्रह्म अनन्त या असंख्य बीजों के एक बीज रूप में विद्या (दैवी-वृत्ति) और अविद्या (आसुरी वृत्ति) के रूप में गूढ़ रहता है। वे दो अक्षर 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' ऋचा के वे अक्षर हैं जिन्हें "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती...... सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' ऋचा वर्णित करती है, वे दो हैं पूर्वार्द्ध के 'ऋचां अक्षराणि' और उत्तरार्द्ध के यजुष्मतीनि अक्षराणि (ऋचो अक्षरे और आसन्दी देखें)। अतः लिखा है—

"द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।"

उक्त दो अक्षरों को दो अरणियाँ बतलाकर कठोपनिषद् योग की भी प्रतिष्ठा करते हुए लिखता है—

"आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥"

यहाँ जिसे प्रणव रूप अरणि बतलाया है वही गुहा है यह तो प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है। भौतिक ब्रह्माण्ड या शरीर की भौतिक गुहा भी है उसे सोमचन्द्र या वैश्वानराग्नि कहते हैं। पहिले इसकी अनुभूति हो जाय तब इसके द्वारा त्रिपादामृतीय गुहास्थ त्रिपाद्ब्रह्म की अनुभूति हो सकती है। भौतिक दिव्य शरीर को वैदिकों ने गुहा नाम से नहीं पुकारा है। भौतिकात्मा वास्तव में भौतिक ब्रह्माण्ड का महदुक्थ्य या मूलस्रोत है, इसी को कठ आत्मा नामक अरणि के नाम से पुकार रहा है और प्रणव या त्रिपादामृत रूप गुहा को उत्तरारणि। यही आत्मा (भौतिक दिव्यशरीर) अणोरणीयान् है और गुहास्थ त्रिपादामृतीय त्रिपाद्ब्रह्म 'महतो महीयान्'। यह गुहा ही महतो महीयान् है।

यजुर्वेद ने भी इस गुहा शब्द का समुचित अर्थ में प्रयोग किया है। जैसे १२-१९ मंत्र में गुहा का पूरा परिचय देते हुए लिखा है—

"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि, विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्, विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥"

८—यजुर्वेद और गुहा

कि हे अग्ने हम तेरे उस मूलस्रोत को (ब्रह्म को) जानते हैं, जहाँ से तुम निकले हो, हम तेरे उन तीन विकासक्रमीय (जिन्हें त्रिपादामृत कहते हैं) जिन्हें त्रिधाम या भूर्भुवः स्वः भागों को जानते हैं नामक तेरे धारण किये कहे जाते हैं, और हमें यह भी विदित है कि तेरी परम गुहा क्या है ? वही गुहा है जिसे ये 'त्रेधा त्रयाणि' या त्रिपादामृत कह रहे हैं । इसका समर्थन पुनः निम्न मंत्र करता है—

अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्शाऽहं देवानां परमं गुहा यत् ॥"

इसके अर्थ को जानने के लिए ऋ० वे० (५-६२-८) की ऋचा का अर्थ सहायक होगा—

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य ।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ॥"

इस मंत्र में दर्शन के पूर्वार्द्ध और परार्द्ध के मध्यभागीय तत्त्व सूर्य को गर्त या विषुवद्रेखा या विषुवान् नाम से पुकार कर उसमें सूर्य रूप मध्यवर्ती तत्त्व को लोहे की (अयः) स्थूण नाम दिया है, उस स्थूण रूप सूर्य का, जो गर्तवासी है आरोहण करने के लिए, मित्रावरुण २४ वें तत्त्वों से प्रार्थना की गई है कि तुम दोनों (मित्रावरुण) उस स्थूण रूप सूर्य के गर्त में खड़े होकर अदिति पूर्वार्द्ध तथा दिति उत्तरार्द्ध दोनों को देख सकोगे । यही भाव यजु के इस मंत्र में प्रथम पुरुष में दिया गया है जो कहता है मैंने सूर्य रूप स्थूण या गर्त में खड़े होकर परस्तात् या उत्तरार्द्ध के दिति नामक भौतिक तत्त्वों को और अवस्तात् या पूर्वार्द्ध के अदिति नामक तत्त्वों को दोनों को एक साथ देखा और सूर्य तत्त्व को भी दोनों ओर से देख लिया कि यह प्रारम्भ और अन्त में किस क्रम से विकसित हुआ । और इस प्रकार पूर्वार्द्ध को देख लेने से मैंने देवताओं या त्रिपादामृतीय तत्त्वों की परम गुहा त्रिपाद्ब्रह्म को भी भलीभांति देख लिया । वह कहता है कि मेरा पिता तो अन्तरिक्ष या प्रथम सप्तकीय ब्रह्म है (पुरुषसूक्त "नाभ्या आसीदन्तरिक्षं' और 'सूर्यः' देखें) । यजुर्वेद ने 'गुहा' को तीन पदों या पादों का सूचक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार दिया है "त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्" (यजु० ३२-९ तथा नारा० उप० ४) । इन त्रीणि पदानि वाली गुहा को इसने विष्णु के 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' के रूप में तीन सप्तकों को त्रीणि पदानि कहा है जैसे 'त्रीणि पदा विचक्रमे' (यजुः ३४-४३) जिससे स्पष्ट है कि पदा या पदानि शब्द यहाँ पर और 'चत्वारि वाकपरिमिता पदानि' में भी केवल इन्हीं विष्णु के तीन विक्रमण रूप त्रिपाद्ब्रह्म या त्रिपदामृत के ही संकेतक हैं ; उसी का नाम गुहा या परमं गुहा है, क्योंकि इन सब स्थलों में पाद शब्द के बदले पदा या पदानि शब्द का ही प्रयोग किया

गया है जिसको सब लोग पौराणिक कथा की सहायता से भलीभांति जानते हैं। पद और पाद में भी भेद है। पद नाम सप्तक का है पाद नाम गायत्री प्रभृति के पादों का है। तीन पद में २३ और तीन पादों में २४ ही तत्त्व हैं। इसलिए गड़बड़ी है। पद सात हैं, पाद चार या पाँच हैं, पर चतुष्पदी, पञ्चपदी, षट्पदी, अष्टापदी, नवपदी भी पद भेद हैं, पाद भेद नहीं।

ऋग्वेद (२-१२-४) में एक पद यह है, "यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।" इसका अर्थ देते हुए सायणाचार्य जी लिखते हैं—

"यः दासं वर्णं शूद्रादिकं यद्वा दासमुपलक्षयितारं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्॥"

९—'दासं वर्णमधरं गुहाकः' का अर्थ

वे 'गुहा' माने 'नरक' या 'गूढस्थाने' कह गये हैं। गुहा का अर्थ स्वर्ग है, त्रिपादामृत है। 'अधर' का अर्थ 'निकृष्ट' 'नीच' लिख गये हैं। पद का वास्तविक अर्थ यह है। दास वर्ण भौतिक तत्त्वों का है। इन भौतिक तत्त्वों का स्थान चतुर्थ सप्तक है जिसके तत्त्वों को असुर, वृत्र, शूद्र, दास, अश्व, स्त्री, वृषभ आदि वाहनों के नामों से पुकारा गया है। ये सब तत्त्व गुहा या त्रिपादामृत के प्रथम तीन पाद रूप पूर्वार्द्धीय २४ तत्त्वों के नीचे (अधरं) उत्तरार्द्ध में आते हैं। अतः कहा है कि इन्द्र ने इन दास नामक वृत्रादि असुर भौतिक तत्त्वों को गुहा नामक पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत के २४ तत्त्वों के नीचे या अधर या उत्तरार्द्ध में कर दिया। यह तो सीधी बात है।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।—पूरा श्लोक यह है—

"वेदा विभिन्नाः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

१०—सनातनधर्म=गुहा

कि "वेद भी भिन्न-भिन्न हैं शाखा प्रशाखा रूप में पृथक-पृथक् रूप के हैं, उनमें तथा ब्राह्मण और उपनिषदादिकों में श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करती हैं। इन सब में सर्वादेवता वादी देवताओं में से कोई ग्रन्थ किसी एक देवता को अधिक महत्त्व देता है तो कोई दूसरे को, कोई इन सबको। अतः यह नहीं जाना जा सकता कि किस मुनि या ऋषि का कौन मत उपादेय या हेय है। इतना विस्तृत विवेचन मिलता है कि धर्म क्या वस्तु है उसका ठीक-ठीक निर्धारण करना कठिन है, उसे खोजना गुहा के अन्दर अन्धकार में खोज के समान है, अतः जिस मार्ग से आजतक के महाजन या बड़े-बड़े ऋषिमुनि वर्ग चलते चले आ रहे हैं, उसीको अपनाना सच्चा मार्ग है।" यह तो इसका लौकिक अर्थ है। परन्तु श्रुतियों और संहिताओं के पृथक्-पृथक् शरीर होने पर भी, उन सब में जिस वैदिक दर्शन का विवेचन है उसकी एक अविच्छिन्न धारा बहती हुई सर्वत्र दिखलाई पड़ती है, उस प्रवाह का वर्णन प्रत्येक ऋषि या मुनि ने अपनी-अपनी स्वतंत्र सरणि की नदियों में प्रवाहित किया है, जिनमें से किसी को भी अप्रामाणिक

कहने का किसी को कोई साहस या अधिकार भी नहीं है। क्योंकि उन सब ने धर्मतत्त्व का विवेचन वैदिक दर्शन के 'गुहा' तत्त्व या त्रिपादामृत के सिद्धान्तों में ढाल रखा है। उसे आज का कोई व्यक्ति नहीं समझ पा रहा है कि वह गुहास्थ त्रिपादामृतीय धर्म तत्त्व क्या है, अतः उसे न समझने के कारण, उसे छोड़ देने के स्थान में यह अच्छा है कि हम सब उस मार्ग का अनुसरण करते जावें जिसको उन महर्षियों ने अपने जीवन में अपना रखा था।* वही मार्ग धर्म की गुहास्थ त्रिपादामृतीय सरणि की सच्ची व्याख्या को अपनाने, समझने और जानने के समान फलदायक सिद्ध होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि वह त्रिपादामृतीय गुहास्थ धर्म वास्तव में है क्या वस्तु, जिसको न समझ सकने पर भी उसकी प्रतिष्ठा के निमित्त महाजन मार्गानुसरण का आदेश दिया गया है। वह धर्म इस प्रकार का है:—

आज कल तो धर्म नाम परस्पर विद्वेष, इर्ष्या, दंगा, फसाद, मार-काट, लड़ाई-झगड़ा, वाद-विवाद फैलाने वाले सम्प्रदायों को दिया जाता है। सभी सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने सिद्धान्तों को ऊँचा बतलाने,

११—आज का धर्म

कहने और सिद्ध करने की बड़ी-बड़ी वकालत करते हैं, और सिद्धान्तों का कोई दोष भी नहीं है, सब ऊँचे हैं परन्तु उनकी यथार्थता का पता तो उनके प्रयोगात्मक व्यावहारिक कार्यों से जिस प्रकार सामने आता है वह तो प्रथम वाक्य के स्वरूप में ही आता है, जिससे ऊँची-ऊँची चोटी के समान के सिद्धान्त लज्जा के मारे अधोमुख होकर (फली बाली की तरह) लटकी शोक ग्रस्त सी स्पष्टतः सामने आते हैं।

धर्म तत्त्व जन्म और जीवन के साथ-साथ जन्म लेता है। धर्म केवल इसी जीवन या जन्म की वस्तु भी नहीं है। उसका सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों की परम्पराओं में भी निहित है। बृहदारण्यक उपनिषद्

१२—वास्तविक धर्म

ने इस विषय पर पूरा प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जब ब्रह्म का विकास चतुष्पाद ब्रह्म रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नामक तत्त्वों के रूप में हुआ (पुरुष सूक्त 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी' दित्यादि ऋचा की व्याख्या देखें) तब इस प्रकार की तत्त्व रचना सफल सिद्ध न हो सकी। चतुर्थ सप्तक में उनके प्रत्येक तत्त्व में पारस्परिक समन्वय या सामञ्जस्य की कोई सामग्री नहीं थी। प्रत्येक पाद के तत्त्व अपनी-अपनी विशेष-

---

* मनु ने भी इसी बात की चर्चा करते हुए लिखा है—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥" (२-१)

इसके अन्तिम पद में आत्मा की तुष्टि के माने भी त्रिपादामृत की दैवी वृत्ति के अनुकूल जीवन या कर्म करने को धर्म या सनातन धर्म बतलाया गया है। अतः धर्म का सीधा सम्बन्ध ब्राह्म तत्त्वों से है वर्णादि से नहीं, सार्वजनीन दैवी गुणों से है।

ताओं से एक दूसरे को दबोच कर सृष्टि के क्रम में ऐसी खलबली मचाने लगे कि उनकी सब क्रियाओं में एक अराजकता की सी, उच्छ्रृङ्खल और अकल्याणकारी प्रवृत्तियों का प्राधान्य होने लगा। सृष्टि का यह लक्ष्य न था। सृष्टि की कामना, सार्वजनीन सर्वहित के लिए की गई थी। इसकी पूर्ति के लिए श्रेयोरूप धर्म की प्रतिष्ठा या विकास किया गया। यह दैवी वृत्ति का धर्म उन चतुर्थ सप्तक के सब तत्त्वों में अस्फुट रूप में पहिले से विद्यमान था। इस विद्यमानता का नाम 'गुहा' या त्रिपादामृत है। इसका संकेत पुरुष सूक्त की ऋचा—

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥"

स्पष्ट शब्दों में करती है कि वे धर्म के तत्त्व उन तत्त्वों में पहिले ही से विद्यमान थे। जब तक सब तत्त्व त्रिपादामृत की गुहा में थे तब तक तो इसी धर्म या दैवी वृत्ति की सामञ्जस्य का त्रिपादामृत बरसता रहा, जब वे इस गुहा के द्वार से बाहर आकर भौतिकता बहुल इस चतुर्थ सप्तक की शूद्रता के नशे में चूर होने लगे, तभी उस अराजकता का बोलबाला होने लगा था। अतः उस गुहास्थ त्रिपादामृतीय तत्त्व की दैवीवृत्ति को भी भौतिकता के आवरण में उन्हीं के साथ-साथ विकसित कर उनकी नूतन उच्छृङ्खलता को दबोचा गया। यह धर्म सृष्टि के बीज रूप उन्हीं तत्त्वों का आत्मीय अंग गुण वृत्ति या क्रियाओं में से एक है, उन तत्त्वों से बाहर की सम्प्रदाय रूप संगठन रूप कोई नई वस्तु नहीं। गुहास्थ गुणों या धर्मों का या दैवी वृत्ति का पुनर्नवोत्थान मात्र किया गया। इस धर्म को 'क्षत्र' नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इसकी प्रतिष्ठा में क्षत्र या बल या ओजः की आवश्यकता रहती है, यह भय का विनाशक है, समन्वय स्थापक है। अतः इन तत्त्वों के गुणों में इस धर्म नामक प्रवृत्ति से ऊँचा गुण कोइ दूसरा नहीं कहा गया है। यह सर्वश्रेष्ठ, सार्वजनीन, सर्वभूतहितेरत, सर्वकल्याणकारी दैवी प्रवृत्ति है। प्रत्येक को अपना-अपना क्षेत्र और क्षत्र या धर्म प्रदान कर सब में सर्वतन्त्र तथा स्वतन्त्र स्थान दिया गया। इस प्रकार अबली बलवान् की शरण में, धर्म के प्रेयो रूप में श्रेयो रूप की प्रतिष्ठा करता है। जैसे बालकों की रक्षा, धर्म के श्रेयों रूप को, प्रेयो रूप में परिणत कर एक कल्याणकारी सृष्टि की रचना की प्रतिष्ठा होती है। पक्षी, पशु, कीट, पतंगों में भी इस श्रेयो रूप धर्म का वह प्रेयो-रूप (प्रेममार्गी) स्वरूप सबको दिखाई पड़ रहा है। उन की रक्षा में धर्म के क्षत्र रूप या रक्षा की भी सर्वत्र पूर्ण प्रतिष्ठा मिलती है। यह धर्म मार्ग न किसी व्यक्ति का चलाया हुआ है न कोई इस धर्म मार्ग को कभी भी किसी रूप में नष्ट कर सकेगा। इसीलिए हमारे ऋषियों ने इसका नाम सनातन धर्म रखा है। यह सनातन धर्म सृष्टि के तत्त्वों की दैवी वृत्ति है। अधर्म इसके विपरीत आसुरी भौतिकता का नाम है।

तब धर्म क्या है? उसका समाधान भी इस उपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में दिया है कि धर्म नाम सत्य का है, सत्य नाम ब्रह्म का है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।

१३—वैदिक धर्म, सनातन धर्म स्वाभाविक धर्म है

यह सत्य नामक धर्म उसी गुहास्थ त्रिपादामृतीय ब्रह्म का सर्वमुख्य गुण है। अतः लिखा है "यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्"। जड़ और जीवों में यह धर्म, सत्य ब्रह्म रूप में सार्वजनीन रूप में प्रस्तुत रहता है। प्रत्येक पदार्थ या प्राणी ब्रह्म के इस सत्य या सार्वजनीन या दैवीवृत्ति के गुण या धर्म से युक्त है। कोई किसी को इस दैवी सार्वजनीनता को जान सके या नहीं, वह उसमें अवश्य निहित है। जहाँ इनमें भौतिकता के बाहुल्य से असत् या अकल्याणकारी आसुरी भ्रातृव्य तुल्य गुण दिखलाई पड़े उनका प्रतीकार क्षात्रधर्म या दण्डविधान से ही सब लोग करते दिखलाई पड़ते हैं। सृष्टि में जड़ जीवों में इस ब्राह्मधर्म की सबसे बड़ी समस्या, सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ अंग मानव सृष्टि है। यह भौतिकता की प्रबलता से आसुरी या असत्य की ओर एकदम आकर्षित हो जाती है। अन्य सृष्टियों में धार्मिकता या ब्राह्मदैवी वृत्ति, स्वाभाविकता से समायी रहती है। अतः मानवता के कल्याण के लिए धर्म का केवल एक ही उदात्त स्वरूप है कि वह ब्राह्म-दैवी वृत्ति रूप सत्य बोले। अतः जो सनातन और स्वाभाविक गुहास्थ त्रिपादामृत ब्रह्म रूप आत्मा के धर्म का पालन करने के लिए सत्य बोलता या दैवी वृत्ति को अपनाता है, उसको कहते हैं कि धर्म को बोलता है या बोल रहा है, जो उस धर्म की बातें करता है उसे कहते हैं कि देव या सत्य धर्म बोल रहा है। धर्म के ये दोनों रूप हैं। अतः लिखा है—

"स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत।
धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रम्॥"
"यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति।
अथो अबलीयान्बलीयांसं समाशंसते।"
"धर्मेण यथा राज्ञा। एवं यो वै स धर्मः
सत्यं वै तत्। तस्मात्सत्यं वदन्तमाहु-
र्धर्मं वदतीति। धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदती
त्येत्येतद्ध्येवेतदुभयं भवति॥" (१-३-४-१४)।

भगवान् मनु ने भी इसी वाक्य का अनुसरण करते हुए लिखा है—

"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥"

यही सनातन धर्म है।

अतः उक्त श्लोककार ने ठीक लिखा है कि धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है। यह गुहा भी वही त्रिपादामृतीय सत्य ब्रह्म का संकेतक है जिसकी व्याख्या पहले दी जा चुकी है। धर्म तत्त्व आत्मा का

१४—वास्तव में धर्म तत्त्व गुहा में ही है

आत्मीय या ब्राह्म धर्म या गुण या वृत्ति है, स्वाभाविक है, सार्वजनीन है, सर्वकल्याणकारी है, केवल किसी वर्ग या

सम्प्रदाय की निजी सम्पत्ति नहीं है। यह तो कण-कण में समाया हुआ है, इसका कभी भी विनाश नहीं हो सकता। अतः गीता ने ठीक लिखा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि र्भवति भारत।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

यह मानवों की आसुरी और विप्लवकारिणी प्रवृत्ति का विनाश करने के लिए महाविभूतियों के जन्म का युग-युग में अवतार सूचित करता है। येही महाजन हैं जैसे ऋषि, मुनि, महात्मा, साधु, संन्यासी ऐसे अवसरों में जिस प्रणाली को जन्म दे जावें उन्हीं का अनुसरण करके प्रत्येक समाज कल्याणकारी हो सकता है।

अध्याय १८

वैदिक आर्यों का 'नासत् नोसद्वाद'

१—वैदिक दर्शन के तत्त्वों के दो भाग

जब वैदिकों ने अपने दर्शन की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत की थी तब उन्होंने पूरे दर्शन में ५० तत्त्व आँके थे। इन पचास तत्त्वों का विभिन्न विद्याओं की सरणि से वर्णन करने के लिए उन्होंने इन्हें नाना प्रकार के विभागों में बाँटा था। वे विभाग सप्तक, अष्टक, दशक और षोडशक आदि हैं, तथा इन सप्तकादिकों के त्रिक भी हैं। परन्तु इन छोटे-छोटे विभाजनों को भी उन्होंने दो मुख्य खण्डों में विभक्त किया था। ये दो विभाजन वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों को ठीक २५, २५ के दो अर्द्धों में बाँट देते हैं। इन दोनों विभागों के मध्यवर्ती तत्त्व के कई नाम हैं जैसे सूर्य, अश्विनौ गर्त (विषुवद्रेखा) चक्षुः, आदि। यह मध्यवर्ती विन्दु वैदिक दर्शन के तत्त्वों को दो स्थूल नामों से विभाजित कर देता है। पूर्वार्द्ध के २५ तत्त्वों का नाम असत् है उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्वों का सत्। आदि ब्रह्म न सत् है न असत्, अतः उसे 'नासद् नोसद्' नाम से पुकारा गया था। नासत्=न+असत्=सत्तावान् पर अभौतिक=नोसद्=अभौतिक पर सत् सत्य।

२—प्राचीन और नवीन सदसद्वाद

अतः 'नासद् नोसद्वाद' का आधार सदसद्वाद है। यह हमारे परम वैज्ञानिक वैदिकों की अद्‌भुत खोजों में से एक अत्यन्त रहस्यमय है। ये तब जितने सरल थे अब उतने ही अधिक जटिल बन गये हैं। सदसद्वाद के क्षेत्र में आधुनिक नैयायिक और वैशेषिक असत् का अर्थ केवल 'अभाव' मानते हैं; और यह भी न जाने कैसे मान बैठे हैं कि सारी सृष्टि अभाव से होती है। प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक जिन्होंने इन शास्त्रों की नींव डाली थी—वे अक्षपाद और कणाद तो 'अभाव' को कोई पदार्थ ही नहीं मानते। उनके मत से 'षडेव पदार्थ' हैं अभाव का वे कहीं नाम नहीं लेते। गीता से निर्धारित सदसद्वाद तो उक्त अभाव से सृष्टि होने के मत का समूल खण्डन कर देता है, यह कार्यकारण-भाव या अन्वयव्यतिरेकी भाव या 'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' से जल की तरह तरल और स्पष्ट है।

३—अभाव को तत्त्व मानने का कारण

बात यह है कि मध्ययुग में नागार्जुन और वसुबन्धु (विक्रम ३००) जैसे बौद्धों के धुरंधर विद्वानों ने भारत में जिस अनात्मवाद के डंके को बजाना चाहा था उसी के प्रतीकार में शंकराचार्य प्रभृति ने अपना शारीरक भाष्य लिखा था, और उन्हीं बौद्धों को ठगने या हराने के निमित्त मध्ययुग के नैयायिक वैशेषिकों ने 'अभाव' को सप्तम पदार्थ मानकर इसके खोखले जाल में उन्हें ऐसा

जकड़ा कि कोई बौद्ध या जैन इनकी तर्कना के जाल से न बच सका। पर अब तो हमें अपने वेदों के सदसद्वाद को उसके वास्तविक स्वरूप में देखने की चेष्टा करनी ही पड़ेगी।

अब हम सत् और असत् नामक वैदिक दर्शन के तत्त्वों की व्याख्या वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में उपलब्ध अङ्कित और व्याख्यात रीति से देने का प्रयास करेंगे। सत् और असद् का सम्बन्ध सेतुबन्ध रामेश्वर का सा पुल है जो ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश का द्वार खोल देता है। सचमुच में वैदिकों ने इनके मिलन बिन्दु का नाम सेतु ही रखा है जैसे—

४—सदसद्वाद का सेतुबन्ध

"अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः॥"
(ऋ० वे० १०-६७-४)

यहाँ सत् को अनृत कहा है असत् को सत्य नाम से पुकारा है, असत् सत्य सृष्टि है, सत् या भौतिक सृष्टि को अनृत कहते हैं (द्यावापृथिवी देखें)।

जिसको 'असत्' नाम से कहा जाता है उसी का एक दूसरा प्रसिद्ध वैदिक नाम 'ऋत' भी है और 'सत्' का नाम 'अनृत' है। यहाँ पर दोनों ढंग के शब्दों में विरोध सा प्रतीत होगा, पर इनके भाव में लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। ब्रह्मणस्पति आदि तत्त्व हैं, गणपति है उसे 'ऋतप्रजात' (२-२३-१५—बृहस्पते अति यदर्यो-) कहा है तथा साथ में उसी को यह भी कहा है कि तुम्हारा उद्गम 'असत्' है।

५—असत्सत् और ऋता-नृत या सत्यानृत

"तेजिष्ठया तपनी···आविस्तत् कृष्व यदसत् त उक्थ्यं बृहस्पते वि परिरापो अर्दय।"
(२-२३-१४ ऋ० वे०)

उसे तुम आविष्कृत या प्रगट करो। इसी 'ऋत' या असत् ही को 'ऋतम् बृहत्' भी कहते हैं। इसी बृहत्=वाणी का पति ही बृहस्पति भी कहलाता है और बृहत्=ब्रह्म=५० तत्त्वों का पति ब्रह्मणस्पति या गणानां तत्त्वानां (५०) पति गणपति भी। जिस ब्रह्म का विकास होता है या जो विकास होते हैं उन्हें 'अनृत' या सत्य या सत् कहते हैं। यह तब कहा जाता है जब ब्रह्मणस्पति को वृषभ आदि नामों से पुकारते हैं जैसे "अनानुदो वृषभो······असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद् दमिता वीळुहर्षिणः॥" (२-२३-११)। ऋग्वेद १-१०५-४, ५, ६ में ऋत और अनृत की व्याख्या करते हुए 'सत्य' या सद् को नव्य उक्थ कहा गया है, आदि उक्थ तो असद् या ऋत है यह बतलाया जा चुका है।

"नव्यं तदुक्थ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्।
ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥"
(ऋ० वे० १-१०५-१२)

यहाँ पर जिसे नवीन उक्थ या सत्य कहा है उसे सर्वप्रथम उदित करने वाला तत्त्व 'सूर्य' (२५ वाँ तत्त्व) भी बतलाया गया है। इतना ही पर्याप्त है जिससे असत् और सत् और ऋत तथा अनृत की सीमाओं का निर्धारण ५० तत्त्वों के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध रूप के २५, २५ तत्त्वों में हो जाता है। यह सूक्त बहुत ही श्रेष्ठ है इसमें वही भाव निहित है जो छान्दोग्य ६-८ से १६ तक के "तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" वाक्य में मिलता है "अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्।" (ऋ० वे० १-१०५-७) यही भाव १०-४८, १०-४९ के सूक्तों में भी मिलता है। यजुर्वेद में इसके समानान्तर भाव रखने वाले दो मंत्र हैं "इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि" (यजु० २-२८) और "इदमहमनृतात्सत्य-मुपैमि॥" (यजु० १-५) शतपथ ब्राह्मण उक्त दोनों मंत्रों की व्याख्या प्रारम्भ में ही देते हुए लिखता है "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।" (श० प० ब्रा० १-१-१-४, ६)। यहां पर शतपथ ब्राह्मण ऋत के देव रूप को सत्य नाम से पुकार रहा है। यह असत् को ही 'सत्य' नाम से पुकार रहा है। यहाँ सत्य शब्द सत्ता वाचक है 'सत्' के भौतिकता का वाचक नहीं। देवरूप सत्य है, मनुष्य अनृत है। अनृत का उलटा ऋत ही सत्य है, यही भाव तै० उप० के 'ऋतं चाधीयीत' 'सत्यं चाधीयीत' का भी है। शतपथ के वाक्य 'अनृतं मनुष्याः' में 'मनुष्य' शब्द हम आप जैसे मनुष्यों के लिए न होकर 'नृषद्' चतुर्थ सप्तक के नृ या नर तत्त्वों के लिए है। चतुर्थ सप्तक से ही भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है, उन्हीं चतुर्थ सप्तकीय नर रूप तत्त्वों को या सत् या भौतिकात्मा तत्त्वों को ही अनृत कहा है। इन भौतिक तत्त्व रूप मनुष्यों की 'मनुष्येभ्यो देवानुपैति' भौतिकता से अभौतिक या आध्यात्मिक देव रूप प्राप्ति की कामना की गई है। श्वेतकेतु या चन्द्र या श्वेतध्वजा का भौतिक दिव्य शरीर है, वह वही है जो ब्रह्म या असत् था और अब विकसित होकर श्वेतकेतु या चन्द्र बना है, जिसके तुम चन्द्र या श्वेतकेतु बने हो, तुम उसी के प्रतिनिधि या वही हो, वही तुम्हारा मूल है, इसीलिए कहा है "इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि।" उसका अन्तिम परिणाम 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' अर्थात् भौतिकता से अभौतिक रूप पा जाना है।

ऋग्वेद में भी महत्त्वाकांक्षा की गई है कि 'यदि इन्द्र प्रसन्न होकर हमें 'असत्' की प्राप्ति करा देता तो कितना अच्छा होता "कुवित्तस्मा असति नो भराय न सुष्विमिन्द्रोऽवसे मृधाति॥" और ६-२४-५ में असत् को 'अद्य' (आज) और सत् को श्वः (कल) कहकर अहोरात्र मार्ग से सदसत् की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इन्द्र ने आज कुछ या असत् की उत्पत्ति की और कल कुछ और की या कल सत् की, यह वह बारम्बार करता रहता है "अन्यदद्य कर्वरमन्यदु श्वो ऽसच्च सन्मुहुराचक्रिरिन्द्रः॥" यह असद् और सद् तत्त्वों के विभाजनों को तत्त्वों के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की सरणि में दे रहा है।

६—असत्सन्महिमा और उत्पत्ति

इन्द्र १७ वें से ३२ वें तत्त्व तक रहता है। (आज) अद्य २४ तत्त्व तक है, और श्वः (कल) २६ वें से ५० वें तत्त्व तक, प्रथम दिन है द्वितीय रात, प्रथम शुक्ल पक्ष है, द्वितीय कृष्ण पक्ष। असत् और सत् को परमे व्योमन या तत्त्वाकाश में बतलाते हुए यह भी लिखा है कि दक्ष का जन्म इन दोनों (अदिति) के मध्य (उपस्थे) हुआ। दक्ष से 'सत्' की उत्पत्ति आरम्भ होती है। यह भी पूर्वोक्त ऋचा का पूर्ण समर्थन कर रही है—

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥"
(ऋ० वे० १०-५-७)

यहाँ पर असत् नामक तत्त्व को ऋत नाम से पुकारते हुए उससे सर्वप्रथम अग्नि नामक तत्त्व की तथा वृषभ नामक ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति की धेनु या वाणी के जन्म होने की बात लिखी है। धेनु नाम वेदों में वाणी का ही है "देवीं वाचं···'धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु" (८-१००-११) "वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारः स्वधाकारो हन्तकारो वषट्कारश्च" (बृह० उप० २-१-५-१)। वसिष्ठ जी इसी वाग्धेनु के दो स्वरूपों को सद् और असद् बतलाते हुए कहते हैं—

"सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥
······हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥"
(७-१०४-१२, १३)

इस उद्धरण में सोम असत् और सत्य की रक्षा करनेवाला कहा गया है। सत् असत् के विभाजन तो वैज्ञानिक हैं जिसको जानने के लिए ज्ञानी लोग बड़े उत्सुक रहते हैं, यह बात प्रथम पंक्ति साफ कह रही है। जिस असत् का सोम हनन करने वाला कहा गया है वह सदसत् विभाजनीय तत्त्वों का सूचक नहीं है वरन् सदसद् वाणी का है। यहाँ पासा उलटा पड़ा है। सत् की वाणी असत् आसुरी होती है, असत् की सत् या दैवी। अतः सोम तो असत् या आसुरी वाणी का हन्ता है। वह चाहे सत् की हो या असत् की। ये दोनों प्रकार की वाणियाँ इन्द्र या तैजसात्मा की हथेली में नाचती रहती हैं। ऋग्वेद ८-२०-१७ में मरुतों को जो द्वितीय सप्तक के स्थानवासी हैं, युवानः और असत् नाम से पुकारा गया है "यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः। युवानस्तथेदसत्॥" यहाँ पर रुद्र को असुर और वेधा (ब्रह्मा) भी कहा गया है। आगे चलकर ऋग्वेद ८-८९-४ में इन्द्र को भी असत् नाम से पुकारा गया है "अभि प्र भर धृषता धृषन्मनः श्रवश्चित्ते असद् बृहत्॥" इन्द्र मनः स्वरूपी है, अतः उसके मन को ही 'असद् बृहत्' ठीक उसी ढंग से कहा गया है जैसे ब्रह्म को 'ऋतं बृहत्' कहते हैं। ऋग्वेद १०-७२-२, ३ में तो यह स्पष्टतया लिखा है कि वैदिक दर्शन के तत्त्वों के निर्माण में यह निर्धारित किया गया था कि आदि तत्त्व असत्

(अभौतिक) है उसी से सत् या भौतिक तत्त्वों की सृष्टि हुई। इस मंत्र का अधिष्ठाता देवता ब्रह्मणस्पति है उसने लोहार (कर्मठ) की तरह (काम) धौंकना आरम्भ किया तो तत्त्वों में प्रथम तत्त्व असत् निकला, इसका दूसरा नाम उत्तानपात् भी है। उससे सत् की उत्पत्ति हुई, उसी से आशायें, दिशायें उत्पन्न हुईं। उक्त उत्तानपाद् का एक और नाम 'भूः' भी है। उससे भुवः की उत्पत्ति मानी गई है, भुव से दिशायें।

"ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां(तत्त्वानां)पूर्व्ये युगे (पूर्वार्द्धे) ऽसतः सदजायत (उत्तरार्द्धे)।
देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥"

सृष्ट्युन्मुख ब्रह्म का नाम 'काम ब्रह्म' है जिसे उत्तरवर्त्ती ब्राह्मणों और उपनिषदों ने 'ऐक्षत', 'यदृच्छा' और 'काम' नाम से पुकारा है। यह 'काम ब्रह्म' ब्रह्म की तत्कालीन मानसिक हलचलों से युक्त पुरुष कहलाता है। मानसिक हलचलें वाक्स्वरूपिणी हैं, शब्द ब्रह्म रूपिणी हैं जिनसे तीसरा तत्त्व 'प्राण जाग्रत होता है, और वह काम ब्रह्म 'मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्' बन जाता है, पर वह कहलाता 'असत्' ही है। इस त्रिवृत् से सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। इसे आरम्भणीय 'कः' ब्रह्म कहते हैं। अतः ऋचा लिखती है कि वैदिक आर्यों ने दार्शनिक निरूपण में उक्त काम ब्रह्म के रेतः रूप 'मनोवाक्प्राणत्रिवृत्' नामक असत् तत्त्व से सत् नामक तत्त्व के उत्पन्न होने के सम्बन्ध का ज्ञान किया था। जैसे—

७—असत् से सृष्टि का आरम्भ

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥"
(ऋ० वे० १०-१२९-४)।

यह तो असत् या सृष्ट्युन्मुख काम ब्रह्म तथा उससे उत्पन्न होने वाले सत् के सम्बन्ध मात्र की बात रही। उससे पहिले प्रलय काल में ब्रह्म की परिस्थिति या स्वरूप कैसा रहा होगा? इस पर वैदिक ऋषि हिचकिचाते हुए कहते हैं "उस स्वरूप को कौन जानता है? या केवल कः प्रजापति ही जानता है? कौन कह सकता है कि यह सृष्टि आदि में किस रूप में थी या कः प्रजापति ने ही हमें बताया कि यह इस प्रकार हुआ। जितने तत्त्वों या देवों की हमने कल्पना की है। वे सब उसके अगले विकास श्रेणियों के प्रतीक हैं, यह कः प्रजापति जानता है। इस सृष्टि का आरम्भ किस स्वरूप के आदि तत्त्व से हुआ होगा? जो यह सृष्टि व्यक्त स्वरूप में दिखाई दे रही है, उसका कोई प्रारम्भिक बीज रहा होगा या नहीं यह स्पष्ट कहना उसके लिए भी सम्भव नहीं प्रतीत होता जिससे इसकी उत्पत्ति हुई, जिसे हम इस सृष्टि का अध्यक्ष कहते हैं" जैसे—

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥"

(ऋ० वे० १०-१२९-६-७)

वैदिकों की इस वचनावली का तात्पर्य आदि ब्रह्म को कुछ 'अनिर्वचनीय' 'अप्रतर्क्य' और 'अचिन्त्य' कहने का सा प्रतीत होता है। क्योंकि उन्होंने फिर भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा से विरक्ति नहीं दिखलाई है। उस आदि स्वरूप की साहित्यिक और दार्शनिक व्याख्यायें दे गये हैं। उनके मन में यह भ्रम बैठ गया था कि भविष्यत् काल के वेद व्याख्याता 'असत्' माने कहीं 'अभाव' या 'बुरा' अर्थ न लगाने लग जायँ, इसलिए वे उस आदि ब्रह्म को 'नोसत्' कह गये; तथा इस भ्रम को मिटाने के लिए कि लोग सत् माने 'भाव' या 'अच्छा' न समझ बैठें इसलिए आदि ब्रह्म को 'नासत्' कह गये। इन्हीं दो मूर्द्धन्य शब्दों से उन्होंने 'नासदीय सूक्त की रचना आरम्भ भी की है जिसके आदि के तीन मन्त्र ये हैं—

"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥"

(ऋ० वे० १०-१२९-१, २, ३)

इन मन्त्रों की व्याख्या भी शतपथ ब्राह्मण तथा कई उपनिषद् दे गये हैं।

शतपथ ब्राह्मण में नासदीयसूक्त के प्रथम मंत्र की व्याख्या इस प्रकार है।
"नेव वा इदमग्रेऽसदासीन्नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत् तद्ध तन्मन एवास॥१॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति। नेव हि सन्मनो नेवासत्॥२॥ तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्। निरुक्ततरं मूर्त्ततरं तदात्मानमन्वैच्छत् तत्तपोऽतप्यत। तत्प्रामूर्च्छत् तत् षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान् मनश्चितस्ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त……। तन्मनो वाचमसृजत……सा वाक् प्राणमसृजत……स प्राणश्चक्षुरसृजत……॥" (श० प० ब्रा० १०-५-३, १, २, ३, ४, ५, ६) का सृष्ट्युन्मुख ब्रह्म केवल 'मनोब्रह्म' रूप था जिसे काम ब्रह्म कहते हैं उसका स्वरूप इतना अतितम सूक्ष्मतम था कि उसे न तो सत् ही या भौतिकवान् ही कह सकते हैं न उसे असत् या अभौतिक ही। वह कुछ ऐसा अस्तित्ववान् सा था जिसे वह अस्तित्ववान् था कहने में भी संकोच सा

८—असन्नामक ऋषियों से सृष्ट्यारम्भ

होता है, और ऐसा अस्तित्ववान् था जो बिलकुल नहीं सा था कहना भी अनुचित न हो। जो कुछ था वह था केवल मनः स्वरूपी। वह मन ऐसा था जिसे न तो सत् या भौतिक कहा जा सकता है न उसे नितान्त अभौतिक या असत्। वह इन दोनों का ऐसा अद्‌भुत सम्मिश्रण था जिसे सत्, असत्, भेदक पारिभाषिक शब्दों से कहने के बदले अभेदक नासत्, नोसत् नाम से पुकारना अधिक वैज्ञानिक या दार्शनिक प्रतीत होता है। इसीलिए 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' पद वाली उपयुक्त भाषा में इसे प्रारम्भ किया गया है। शतपथ ब्राह्मण ने 'असत्' को पुनः प्राण या ऋषि नाम से पुकारते हुए इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "असद्वा इदमग्रआसीत् तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीद् तदाऽऽहुः के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुराऽस्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषंस्तस्मादृषयः॥" (श० ब्रा० ६-१-१-१)। अतः असत् माने प्राण या ऋषयः है जो उस समय अभौतिक भौतिक रूप में थे। इतनी सन्देह हीन भाषा में असत् की व्याख्या दे देने पर भी कोई असत् माने अभाव समझता चला जाय तो बिलकुल लाचारी ही है। सचमुच यहां पर सत्, असत् या नासत्, नोसत् संज्ञायें भाव, अभाव या सत्ता असत्ता के वाचक नहीं हैं। यहां उसको केवल सूक्ष्मता मात्र के लिए असत् कहा जा रहा है। और ब्रह्म चाहे किसी भी स्वरूप में रहे, चाहे प्रलयावस्था में रहे वा सृष्टिक्रमावस्था में या व्यक्त सृष्टि में, वह अकेले या अलग शुद्ध ब्रह्म रूप में किसी भी प्रकार नहीं रह सकता। प्रलय में भी ब्रह्म एक तथा एकात्मीय रहते हुए भी कुछ भौतिक बीजों से युक्त रहता है। उस स्थिति में भौतिक बीज आत्म रूप में रहता है, अपार्थक्य रूप में रहता है। भौतिक तत्त्वों* के मूल बीज युक्त होते हुए भी अभौतिक स्वरूप में रहता है, भौतिकता के इस अभौतिक स्वरूप का ही नाम शुचिषद् या द्यौ है। वही आगे मनोवाक्प्राणों के त्रिवृत् में क्रमशः परिवर्तित होकर सर्वप्रथम कः प्रजापति कहलाता है जिसका विकास खं ब्रह्म में, खंब्रह्म का पाक या योनि या वेदि में होकर दुरोण या अतिथि या जातवेदा में होता है। मूल भौतिकता का यह क्रमिक विकास ही जीवात्मा, तैजसात्मा का सृष्टि क्रम कहलाता है। तैजसात्मा से २५ वें तत्त्व में मूल भौतिक अपने दिव्यशरीरी अणोरणीयान् पूर्णभौतिक देहात्मा में विकसित हो जाता है। इसे तब 'सत्' या मृत्यु नाम से पुकारते हैं। इसके पहिले के असत् (खं ब्रह्म जीवात्मा तैजसात्मा) को अमृत या नित्य कहते हैं। ब्रह्म आदि से अन्त तक अपने एक मात्र अविकृत चेतन ज्ञान कूटस्थ, प्रकाश, आनन्द रूप में उक्त चारों आत्माओं के साथ रहता है। सृष्टि क्रम के ५० विकासीय तत्त्वों में विकास या ह्रास बस इसी अभौतिक भौतिक या असत् और भौतिक सत् का ही होता है। ब्रह्म तो नित्य अविकृत एक ऋतं और बृहत् है।

---

* स सैन्धवघनः विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविशति तत्प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति।

जिन्हें असद् कहते हैं वेही नासद्, नोसद् हैं, या अभौतिक भौतिक हैं। इसीलिए इन्हें त्रिधात्मा या त्रिपादामृत कहते हैं। सोम या चतुर्थ पाद भी अमृत है और पूर्ण सद् है पर उसके अकले विकास मरणधर्मा हैं। प्रलय कालीन ब्रह्म के अभौतिक भौतिक तत्त्व को ही नासद्, नोसद् कहते हैं, ब्रह्म तो विलक्षण रूप से सूक्ष्म है, उसमें नासद्, नोसद् विशेषण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में वह नासद्, नोसद् अभेद रूप में रहता है। इसलिए उसको भी लक्षणतः नासद्, नोसद् कहा गया है। और इसीलिए वैदिकों ने ब्रह्म व्याख्या को सदा उक्त मिथुन रूप में ही सर्वत्र वर्णित किया है, अकेले नहीं। उस ब्रह्म में अखिल ब्रह्माण्ड के सब तत्त्वों के बीज एक बीज रूप में रहते हैं, अभौतिक भौतिक रूप में रहते हैं, इसलिए ब्रह्म को 'एक' तो कहना चाहिए पर उसे अनेक या अनन्त या बहवः ही समझना चाहिए। यह हमारे वैदिकों का निश्चित और निर्णीत सिद्धान्त है। ब्रह्म के सोने की कल्पना इसी भावना पर आधारित है। वह अभौतिक भौतिक बीज निऋ्र्ति में सोता है जैसे "स एतैः सुप्तः न कस्यचन वेद न मनसा संकल्पयति न वाचान्नस्य रसं विजानाति····सर्वमग्निमनुविभवत्यथ यदेक एव तस्मादेका। तदाहुः एको मृत्युर्वहवा इत्येकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयाद्य-दहासावमुत्र तेनैकोथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः (श. प. ब्रा० १०-५-२-१५, १६)। अब शेष मंत्रों का अर्थ स्वयं सरल हो जाता है। उस प्रलय कालीन ब्रह्म में न तो रजः रूप भौतिक तत्त्व था, न परमे व्योमन् या ५० तत्त्वों में प्राप्त अभौतिक भौतिकता, (पूर्वार्द्ध की) या पूर्ण भौतिकता (उत्तरार्द्ध की) यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस ब्रह्म को बाहर से किस तत्त्व ने आवृत कर रखा था? वह किस स्थल में रहा होगा? किस अवस्था में था? क्या कः ब्रह्म के पूर्वरूप में था या केवल आपो ब्रह्म रूप में जो केवल वैद्युतीय तरंगों का ही गम्भीर संघर्ष रूप था; उस अवस्था में न तो मृत्यु या संघर्ष हीनता थी न अमृतत्व। क्योंकि मृत्यु और अमृत दोनों उस स्वरूप के अग्रिम विकासों के नाम हैं। वहाँ न तो रात थी न दिन, क्योंकि रात का आरम्भ २५ वें आरम्भ-णीय काम ब्रह्म के कः प्रजापति स्वरूप से होता है और दिन का आरम्भ वसु नामक तत्त्व से। उस समय अग्नि हीन, वात हीन स्वरूप में शान्त प्राण रूप में जिसे 'स्वधा' कहते हैं (स्वं प्राणान् धारयतीति स्वधा)। ऐसे प्राणों को छोड़ और कुछ नहीं-सा था। ये प्राण भी अभौतिक भौतिक स्वरूप मूल बीज युक्त ब्रह्म स्वरूप में थे। जो अभौतिक-भौतिक स्वरूप प्राण थे। वे उस शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म के चारों ओर तमो रूप में जैसे व्याप्त प्रतीत होते रहे। तमः नाम भौतिक तत्त्व का है। ऋग्वेद १-३२-१० में वृत्र भौतिक तत्त्व ही को 'तमः' नाम से पुकारा गया है। "वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः।" दोनों मंत्रों के भावों का यहाँ पर बिलकुल साम्य भी है। क्योंकि यहाँ भी उक्त ऋचानुरूप 'अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' वाक्य कहा गया है। यहाँ

९—असत्सद् और नासन्नोसद्

सलिल या आप वैद्युतीय मण्डल का व्याख्यान कर रहे हैं हमारे जैसे जल का नहीं। एक नई बात कह रहे हैं, कि भौतिक चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो, अभौतिक स्वरूप या त्रिपादामृत रूप में ही क्यों न हो, वह सब उस बृहद् ब्रह्म के सामने बिलकुल तुच्छ या एक अत्यन्त संकीर्ण छोटा क्षुद्र तत्त्व है। फिर भी उस ब्रह्म ने इससे अपने को आवृत करना या अपने से उसे व्यावृत करना स्वीकार किया। और उसमें धीरे-धीरे तेज या उष्णता का आविर्भाव होने लगा, पर रहा एक ही। इस अन्तिम वाक्य के 'तपः' शब्द की व्याख्या पुरुष में की गई है जिसका उल्लेख ऊपर दिये हुए श. प. ब्रा० १०–५–३–१ आदि के उद्धरण में तथा अन्यत्र सर्वत्र मिलता है। "तदात्मानमन्वैच्छत् तत्तपोऽतप्यत" इत्यादि।

यजुर्वेद ने उक्त सिद्धान्त संदेह हीन भाषा में प्रस्तुत किया है—

"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः।

१०—यजुर्वेद में असत्सद् स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥"

(१३–३)

यहाँ पर सीधे-सीधे कहा है कि ब्रह्म तो 'सत्' और 'असत्' दोनों की योनि या मूल बीज या बीज धारक गर्भ है या हिरण्य गर्भ है। हिरण्य तो सत् और असत् है, उनका गर्भ ब्रह्म है, वह सत्य है। इसीलिए अन्यत्र कहा है "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" (४०–१७)। यदि ये सद्, असद्, भाव, अभाव वाचक होते तो उनके जन्मदाता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ पर 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इत्यादि मंत्र के भाव को मन में रखकर 'सबुध्न्या उपमाऽस्य विष्ठाः' पद कहा गया है जिससे वह ब्रह्म के विकास को सृष्टि वृक्ष के रूप में वर्णित कर रहा है। श. प. ब्रा० ७–३–१–१४ में ब्रह्म 'असौ वाऽआदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्तात् जायते' यह आदित्य द्वादशादित्यों का आदित्य नहीं वरन् 'कः' ब्रह्म का 'अर्थ' है जिसका खुलासा ऐतरेय ब्राह्मण १–४–१९ में स्पष्टतया करते हुए लिखा है कि इस मंत्र का 'ब्रह्म' शब्द आदित्य वाची नहीं, परब्रह्म या बृहस्पति का ही वाचक है जैसे "ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति प्रतिपद्यते। ब्रह्म वै बृहस्पति र्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यतीयं पित्रे" इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण ब्रह्म को 'असावादित्य' इसलिए भी कह रहा है कि कर्मकाण्ड में ब्रह्म का अभिनय हमारे देदीप्यमान सूर्य द्वारा ही किया जाता है। अस्तु, मंत्र का अर्थ ब्रह्म परक स्पष्ट है कि पुरस्तात् या पूर्वार्द्ध में ब्रह्म प्रथम विकसित होता है, फिर 'विसीमतः' अर्थात् मध्य के २५ वें तत्त्व से वह सुरुच, वेन और भौतिक आवरण वाला बन जाता है, वह सबुध्न या समूल या सादक हो जाता है। दिशायें ही भौतिकता की मूल हैं। दिशाओं का सम्बन्ध भौतिक तत्त्व से है, जो अभौतिक तत्त्व भौतिक या केवल अभौतिक है उसका दिशाओं से कोई सम्पर्क नहीं हो सकता, वह तो एक है, अणोरणीयान् है, उसकी कैसी या क्या दिशायें होंगी?

अब इन सद्, असद् की व्याख्याओं को उपनिषदों में भी देख लें। सबसे पहिले तैत्तिरीय उपनिषद् एक लिखता है।

"असद्वा इदमग्र आसीत्ततो सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते।"

११—उपनिषदों में असत्सद्

और बृहदारण्यक उपनिषद् को भी लीजिए। वह लिखता है "नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया-शनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽचंन्नचरत्तस्याचंत आपोजायन्ताचंते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वम् ॥" (बृ० उप० १-२-१)। यह पूरा परिच्छेद नासदीय के प्रथम मंत्रों की पूरी वैज्ञानिक व्याख्या सी दे रहा है। जिसको नासन्नोसद् कहा गया है, उसी को मृत्यु नाम से दोनों स्थलों में पुकारा गया है। मृत्यु की परिभाषा अशन और अनशन हीनता बतलाई गई है। ऐसे तत्त्व ने मनस्वी होने की प्रथम कामना की, तप से अप् की सृष्टि हुई वह अर्क कहलाया। अब छान्दोग्य को लीजिए। वह लिखता है "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत् तु एव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (२-१) यह उपनिषद् परम्परा से चली आती हुई प्रथा का स्पष्ट उल्लेख करता है कि कुछ लोग कहते हैं कि पहले असद् था; उसी से सद् निकला। यह उपनिषद् 'नासद्-नोसद् शब्दों को बिरा रहा है और जो लोग असद् को 'अभाव' समझते हैं, उन्हें समझाने के लिए एक प्राचीन सिद्धान्त की रूपरेखा अपने शब्दों में प्रस्तुत करता है कि कार्यकारण भाव सर्वत्र लागू होता है; अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सद् या भाव की उत्पत्ति सत् या भाव से ही हो सकती है। जो लोग असद् से सद् की उत्पत्ति मानते हैं वे असद् को अभाव अर्थ में प्रयुक्त न करके भाव या सद् अर्थ में करते हैं। अतः समस्त सृष्टि का मूल सद् या भाव है उसे कोई किसी नाम से पुकार ले चाहे उसे सद् कहे, नासद् कहे, नोसद् कहे या असद्, वह किसी न किसी रूप में सद् ही है। छान्दोग्य के इस कथन के संकेत से गीता ने कार्यकारण भाव सिद्धान्त को "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" पद से प्रतिष्ठापित भी किया है। छान्दोग्य यहाँ पर एक तीर से दो पक्षियों का आलभन कर रहा है, (१) वैदिकों के प्राचीन नासद्, नोसद्वाद (२) के साथ-साथ उनके कार्यकारण वाद की स्थापना जिसके लिए उसे 'असद्' शब्द को श्लेष द्वारा 'सद् और अभाव' दो अर्थों में प्रयुक्त करना पड़ा है, अन्यथा छान्दोग्य उपमंत्रभाग या ब्राह्मण भाग के विरुद्ध कदापि नहीं जा सकता, न ऐसा करने का उसका अभिप्राय है, केवल भ्रम दूर करने के लिए अधिक स्पष्टता बरत रहा है। गीता के उक्त वाक्य का अर्थ यह भी है कि असत् का कहीं अभाव नहीं है (विद्यतेऽभावः) और असत् का अभाव भी नहीं हो सकता (विद्यतेऽसतः) तथा सत् का भी कहीं अभाव नहीं है इत्यादि।

वैदिक पारिभाषिक शब्द असद् और सद् के लिए कई अन्य पारिभाषिक

शब्दों का भी प्रयोग वेदों में मिलता है। वे नाम उत्तरायण और दक्षिणायन; रात्रि और दिन; शुक्ल और कृष्ण पक्ष; पुरस्तात् और

१२—असत्सद् के लिए अन्य पारिभाषिक शब्द

अवस्तात्; परावत, उत्तरावत और अर्वावत (८-८२-१) या दक्षिणावत; परा और अपरा, उत्तरापथ और दक्षिणापथ; विद्या और अविद्या इत्यादि विभिन्न सूक्तों, मंत्रों और शाखाओं में बिखरे पड़े मिलते हैं। कुछ अन्य वैदिक नाम बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्न दो उद्धरणों में मिलते हैं। "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च, सच्च त्यं च। तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रस य एष तपति सतो ह्येष रसः। अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यद् एतत्त्यम् तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत ह्येष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः॥ अथाऽमूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः एतदमृतमेतद्यदेतत् त्यत् तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य एष रसः॥" (२-४-१-, २, ३, ४, ५)। यहां 'असद्' के नाम हैं अमूर्त, अमृत, त्यत्, यत्; और सद् के नाम हैं:—मूर्त, मर्त्य, स्थित, और सद्। असद् का या अमूर्त का क्षेत्र वायु (द्वितीय-तृतीय सप्तक-मरुत् और मातरिश्वा) तथा अन्तरिक्ष प्रथम सप्तक हैं। ये २४ तत्त्वों के पूर्वार्द्ध के सूचक हैं। सद् या मूर्त का क्षेत्र चक्षु या सूर्य या २५ वें तत्त्व से आरम्भ होकर ५० वें तत्त्व तक है। पूर्वार्द्ध के असद् या अमूर्त नामक तत्त्वों को कोई अमृत नाम से कोई त्यत् नाम से और कोई यत् नाम से पुकारते हैं। मरुतों के लिए और इन्द्र के लिए प्रायः त्यद् शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के सूक्तों में सर्वत्र मिलता है। इसी प्रकार यद् का प्रयोग भी 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतं' इत्यादि। मरुतों के प्राणों को अन्तरात्मा भी कहा जाता है। आकाश खंब्रह्म का नाम है। शेष चतुर्थ सप्तक से सप्तम तक सब तत्त्व सद्, स्थित, मूर्त और मर्त्य कहे जाते हैं। यह बात यहां बिलकुल स्पष्ट है। 'रस' नामक तत्त्व इन्हीं असद् और सद् दोनों के स्वरूपों को बतलाता है। रसब्रह्म असद् भी है, सद् भी है या अभौतिक भी है, भौतिक भी। वह तत्त्वों के अनुसार ५० प्रकार की विकास श्रेणियाँ रखता है।

बृहदारण्यक ने उक्त असद् और सद् विभागों के कई अन्य नाम दिये हैं वे हैं नाम, रूप और कर्म जैसे "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म···तदेतत् त्रयं सद् एकमयमात्मा। आत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं

१३—बृहदारण्यक में असत्सद् के अन्य नाम

प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः॥" (१-६-१, ३) यहाँ पर 'नाम' असद् वाणी का नाम है। वाणी से नाम नामक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, रूप नाम सद् का

है। रूप की उत्पत्ति 'चक्षुः' नामक सद् तत्त्व में होती है। "अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्" (वहीं) 'कर्म' का सम्बन्ध आत्मा या द्वितीय सप्तक के वायु से है। ये तीनों अमृत हैं, एक ब्रह्म का नाना नामरूपकर्म भेद से वर्णन करते हैं। ये अमृत प्राण, सद् और नाम नामक सत्य (भौतिक तत्त्व) से आच्छादित हैं, सद् और सत्य में इतना अन्तर है कि सद् तो शुद्ध भौतिक तत्त्व है 'सत्य' शब्द असद् और सद् की ब्रह्म सत्ता का वाचक है इसीलिए कहा है "अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" वही (३-१-३-६) इसीलिए "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" भी कहा गया है। हिरण्मय पात्र नाम, रूप और कर्म है 'सत्य' स्वधारूप प्राण है, नाम, रूप, कर्म और असद् सद् से उस ब्रह्म रूप एक सत्य का मुख (स्वरूप) आच्छादित है, इनके आवरण के ज्ञान हटाने पर सत्य ब्रह्म का बोध हो जाता है। यहाँ पर दोनों उद्धरणों के सत्य की व्याख्या एक सी दे रखी है। प्रथम में 'नाम रूपे सत्य' ताभ्यां प्राणाच्छन्न और द्वितीय में 'नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राण' लिखा है। दोनों का अर्थ एक-सा है। उपनिषद् का यह भाव ऋग्वेद १०-७१-१ के मन्त्र "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः" के आधार पर लिखा गया है। यहां उपनिषद् देवत्व नामक तत्त्व को गुहा और नामधेय को अविः कहकर, अविः को गुहा में सुरक्षित कहा गया है। गुहा प्रथम २४ तत्त्वों का नाम है। अवि ३ तत्त्व है, पञ्चपशु में चतुर्थ पशु है।

गीता ने ब्रह्म की व्याख्या में "अनादिसत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते" (१३-१२) में नासदीय सूक्त के पारिभाषिक पदों का प्रयोग किया है, और "अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" (९-१९) में ब्राह्मण तथा

१४—गीता में असद्-सद् उपनिषदों की पारिभाषिक पदावली का सदुपयोग करके उक्त व्याख्यात विषय पर सत्यता की मुहर लगा दी है। छान्दोग्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्याद् असतः सज्जायते' को 'कार्य-कारण सिद्धान्त' के रूप में "नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः" (२-१६) लिखकर समस्त वैदिक भावनाओं के उल्लेख को प्रशंसनीय प्रयास मानकर स्वतः स्पष्ट कर दिया है।

असद् और सद् नाम के विभाजन तो वैदिकों के दर्शन के मुख्य स्तम्भ हैं। इनके कई अन्य नाम भी हैं जैसे शब्द ब्रह्म परक व्याख्या में असद् को अक्षर ब्रह्म और सद् को क्षर ब्रह्म कहा जाता है।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥"
(ऋ० १-१६४-३९)

मंत्र के 'अक्षरे' शब्द में अक्षर और क्षर शब्द का समाहार है। असद् या अक्षर का अन्तिम विकास २४ वाँ ॐ है और सद् से ऊष्माणों का निर्माण

प्रारम्भ होता है तब पञ्चवर्गीय ध्वनियाँ। स्वर और व्यञ्जन नामक ५० विकास तो तात्त्विक विकास हैं, आत्मीय और भौतिक विकास हैं, जिस प्रकार ध्वनियों का विकास होता है, उसी प्रकार तत्त्वों का भौतिक या अभौतिक विकास होता है। स्वर अभौतिक हैं तो ऊष्माण व्यञ्जन भौतिक। इनका मध्यबिन्दु ॐ है जिस आध्यात्मिक तत्त्व की प्राप्ति के लिए सब उपनिषदों ने यौगिक प्रक्रियायें दी हैं। गीता के 'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' (८-३) इत्यादि वाक्य वेदविद् दर्शन शाखा के हैं, यह सर्वश्रेष्ठ शाखा है।

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥" (१५-१६)

ये सब उक्त विभाजन के समर्थक हैं।

उपनिषद् काल में असद् और सद् विभाजनों के दो नये नाम आविष्कृत हुए हैं; वे हैं अव्यक्त (असद्) और व्यक्त (सद्)। इनकी सर्वप्रथम चर्चा कठ और श्वेताश्वतर में "महतः परमव्यक्तं" इत्यादि में मिलती

१५—अव्यक्त और व्यक्त है जिनका संकलन गीता ने

"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥"(८-१८)

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्' (८-२१) इत्यादि श्लोकों में किया है। अव्यक्त प्रथम २४ तत्त्वों का नाम है जिनको दिन कहते हैं, अहरागम या दिन का अन्त २५ वें सूर्य नामक तत्त्व में होता है, उसी तत्त्व से व्यक्त या सद् तत्त्व का आरम्भ होता है। प्रलय में व्यक्त अव्यक्त में लीन होता है। इसी अव्यक्त को अक्षर भी कहते हैं। परन्तु आजकल के दार्शनिक लोग तो व्यक्त माने यह दृश्यमान स्थूल ब्रह्माण्ड" समझते हैं। वैदिकों के 'व्यक्त' शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं है, वह उक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है। जहां विष्णु, रुद्र आदि देवताओं के लिए 'अव्यक्तव्यक्त' शब्द आता है, वहां-वहाँ वैदिक अर्थ अभीष्ट रहता है। हां, ब्रह्म को इस अक्षर और अव्यक्त से भी परे का तत्त्व (८-२०, १५-१८) कहते हैं। वह 'नासद् नोसद्' है या अव्यक्ताव्यक्त है। वैदिक असद् या अमूर्त और सद् या मूर्त नामक पारिभाषिक शब्दों के आधार पर सम्प्रदायवादी पौराणिकों ने दो जोड़े के अन्य शब्दों को गढ़ा है। वे हैं निराकार या निर्गुण और साकार या सगुण। इन शब्दों की सृष्टि अवतारवादी कथाओं की भूमिका पुष्ट करने के लिए की गई है। सबसे अधिक प्रचलित अवतारवाद वैष्णवों का है फिर शाक्तों का। विष्णु नामक तत्त्व २६ वां सविता नामक आदित्य है 'आदित्यानामहं विष्णुः' (गीता १०-१०)। यह विष्णु सद् तत्त्व की दूसरी श्रेणी है और नित्य ही सद् मर्त्य (मनुष्य) मूर्त, व्यक्त और स्थित है। अतः उसे उक्त नामों से पुकार कर उनपर पौराणिक कम्बल रूप 'साकार' या अवतार या सांख्य के गुणों के आधार पर सगुण नाम का आवरण डाल कर समस्त सत्य को उक्त हिरण्मय पात्र रूप कथानक से ढक दिया गया है। गीता ने पौराणिकों

के उक्त तथ्य को न समझ सकने वाले विद्वानों की खिल्ली लेते हुए बड़ी मार्मिक भाषा में सत्य को उगल कर रख दिया है कि पौराणिक अवतार के साकार सगुण कथानकों के पेट में कुछ और ही सत्य छिपा है, वैदिक दर्शन का रत्न ढका पड़ा है, उसे ये भद्र लोग नहीं समझ पाते जैसे—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (९-११)

बड़ी विचित्रता तो यह है कि वैदिक दर्शन के जिस चौथे सप्तक में २६ वां तत्त्व विष्णु है उस सप्तक का नाम 'नर' या मनुष्य है 'नृसद्' है। उसी आधार पर मानवी अवतारों की फुलझड़ी लगाने का चतुर आयोजन रहस्यमय कथारूप में किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि विष्णु देवता नित्य ही साकार सगुण मूर्त, मर्त्य और स्थित हैं। यह इषत्कृष्णपिंगल विद्युन्मय है और कृष्ण पक्ष में उत्पन्न होता है। जब इसका लय होता है तब वह निराकार निर्गुण या असद् अमृत त्यत् या यत् बन जाता है तो पहिले इन्द्रमित्र वरुणों में बदलता है। फिर रुद्रों में, फिर वसुओं तब अन्त में ब्रह्म में यही तीन विक्रम वाला विष्णु पूर्वार्द्ध का अमृत या असद् या अव्यक्त या निर्गुण या निराकार है। चतुर्थ सप्तक 'आपः' सागर का है। अतः विष्णु को समुद्रशायी कहते भी हैं। जिसको व्यक्त रूप या सद्रूप विष्णु कहते हैं उसे 'ब्रह्म' या आदि ब्रह्म समझने वाले भी नादान हैं इस बात का वर्णन देने में भी गीता नहीं चूकी है। उसने लिखा है।

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥" (७-२४, २५)

जब सद् या मूर्त तत्त्व या प्रथम भौतिक अणुरूप दिव्य शरीर ही ब्रह्म नहीं है तो जो लोग व्यक्ति को या किसी विशेष कुल में उत्पन्न व्यक्ति को अवतार आदि नाम से उस विष्णु के जन्म जन्मान्तरों में उत्पन्न होना समझते हैं वे भी कम भ्रम में नहीं हैं। यह यहाँ पर गीता स्पष्ट शब्दों में कह रही है। सामाजिक अवतारवाद लाक्षणिक या नैतिक चरित्र शक्ति या प्रतिभा विशेष का द्योतक समझें तो इसका वैदिक दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह भावना धर्म की है जैसे "यदा यदा हि धर्मस्य" वाक्य से सिद्ध है; पर निराकार और साकार की भावना इस प्रकार के अवतार वाद से अवश्य भिन्न है, वह तो चोखा वैदिक दर्शन का पररूप है। निराकार-साकार दोनों रूप भौतिक ही हैं, एक असद् भौतिक है, दूसरा सद् भौतिक, ब्रह्म इन दोनों से परे है। वह नासद् नोसद् ब्रह्म है, व्यक्ताव्यक्त है।

वैदिकों ने असद् से सद् का सम्बन्ध जोड़कर यह बतलाना नहीं भुलाया है कि जब असद् भौतिक तत्त्व से सद् भौतिक दिव्य शरीर रूप में उदित हुआ तो उस समय उसका स्वरूप क्या था? इसकी चर्चा

१६—सत् का स्वरूप

करने में उन्होंने अपने दर्शन की जो स्पष्ट रूपरेखा बनाई थी उसको अक्षरशः कार्यरूप में परिणत करते हुए लिखते हैं

कि सद् नामक भौतिक तत्त्व का पूर्व रूप सूर्य नामक २५वें तत्त्व से होता है, जब देवता भुवनों का २४ तत्त्व रूप तीन भुवनों का भूः, भुवः, स्वः या प्रथम, द्वितीय, तृतीय सप्तक का निर्माण कर चुके तब उन्होंने समुद्र रूप चतुर्थ सप्तक में सर्वप्रथम सूर्य की सृष्टि की। यह सूर्य २५वां तत्त्व है, यहां से दिन का आरम्भ होता है। यह "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड का दिव्य शरीर रूप भौतिक आत्मा (चतुर्थ आत्मा) है। जैसे

"यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन॥" (ऋ० वे० १०-७२-७)

इस सूर्य रूप भौतिक दिव्यशरीरी तत्त्व से सर्व प्रथम एक ऐसा तीव्र गति का 'रेणु' उत्पन्न हुआ जो दशों दिशाओं में नाचने सा लगा। उस समय वह सूर्यरूप भौतिक दिव्य शरीर विद्युत् तरंगों के समुद्र के समान था जिसमें प्रचण्ड संघर्ष चल रहा था, उसी संघर्ष के परिणाम स्वरूप यह सद् नामक प्रथम भौतिक अणु उदीयमान हुआ। जैसे—

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥"
(ऋ० वे० १०–७२–६)

एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामा—
युः क्षिणोति .... एष उऽएवान्तकः .... ॥
(श० प० ब्रा० १०–४, ३, १, २)

१७–असतो मा सद्गमय आदि की व्याख्या

अन्त में आर्य समाज में प्रसिद्ध 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्ग-मय, मृत्योर्मामृतं गमय" का अर्थ दे देना एक बड़े सनसनीपूर्ण रहस्य का उद्घाटन करेगा। आर्य समाजी या कोई भी समाजी उक्त तीन वाक्यों का अर्थ असद् और सद्; मृत्यु, अमृत और तमः ज्योति का अर्थ लौकिक संस्कृत के शब्दों के समान लगाकर यह कह कर कि बुराई से भलाई में ले जाओ, अंधेरे से उजाले में ले जाओ, मृत्यु से अमर बनाओ इत्यादि, इन वाक्यों की वैदिकार्थ आत्मा का हनन करते हैं, यह उक्त संदर्भ को दृष्टिपथ में रखते हुए बृहदारण्यक की इस मन्त्र की व्याख्या स्वयं अपने मुँह से बतला देगी। १–३–२८ में इस उपनिषद् ने उक्त तीन वाक्यों का भाष्य इस प्रकार दिया है "अथातः पवमानाना-मेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति। स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेद्, असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति। स यदाहा-सतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असद् सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैत-दाह। तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्माद् तेषु वरं वृणीत। यं कामं कामयेत्।" पिछले समस्त परिच्छेदों के विवेचनों से यह स्पष्टतया विदित हो चुका है कि

असद् और सद् ये दो तत्त्व वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध और परार्द्ध के वाचक हैं। तथा यह ध्यान में रखते हुए कि बृहदारण्यक ने मृत्यु और असद् तत्त्वों को सृष्टि के आदि काल की स्थिति बतलाया है 'मृत्युनैवेदमावृतमासीद्'। यह मृत्यु स्थिति अशनया अनशनया रहित बतलाई गई है ऐसा तत्त्व पूर्वार्द्ध की आसुरी शक्तिहीन होता है। आसुरी शक्ति का नाश मृत्यु है और पूर्वार्द्ध में आसुरी शक्ति नहीं है। अतः वहाँ इसकी मृत्यु है मृत्यु तत्त्व यही नहीं अन्य भी हैं जैसे मृत्यु नाम पूर्वार्द्ध के संवत्सर ब्रह्म का है। आदि से लेकर २६ वें सोम तक के विकासों को पद्धति में उत्तरोत्तर तत्त्व के विकास के बाद पूर्व-पूर्व के तत्त्व की आसुरी मृत्यु को मृत्यु नाम से पुकारा गया है। जब सोम चन्द्र रूप में उदित हो गया तब आसुरी मृत्यु का अन्त हो गया। अतः चन्द्र या सोम चमकता है। (बृह० उप० १-३-९ से १६ तक) अतः यहाँ पर इसी के अनुरूप व्याख्या देते हुए लिखा है 'मृत्युर्वा असद् सदमृतं' कि असद् पूर्वार्द्ध की आसुरी शक्ति का नाश है, उत्तरार्द्ध का सद् अमृत रूप है। अतः 'असतो मा सद्गमय' का सीधा अर्थ यह हुआ कि मुझे पूर्वार्द्धीय दैवी सृष्टि से उत्तरार्द्ध की दैवी भौतिकता में विकसित कर दो। इस बात का समर्थन अन्यत्र भी इसी उपनिषद् ने किया है। पूर्वार्द्ध के त्रिपादमृत को 'तदेतत्रयं सदेकमयमात्मा कहकर तदेतदमृतं सत्येन छन्नं, प्राणो वा अमृतं (सोम) नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' वाक्य द्वारा सद् को अमृत (सत्य) कहा है। अतः प्रार्थना की है कि मुझे भौतिकात्मा के अमृत रूप में परिणत कर दो। पर जब सद् रूपी अमृत या भौतिकात्मा मिल जाती है तब उसमें या उत्तरार्द्ध में रात्रि या दक्षिणायन का अन्धकार या आसुरी शक्ति फिर उत्पन्न हो जाती है। अतः प्रार्थना की है कि सद् रूपी अमृत मिलने पर भी हमें पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत की दैवी ज्योति को सदा प्राप्त रहने दो। इस प्रकार मुझे दोनों प्रकार की आसुरी मृत्युओं से अमृत ही दो, सद् में भी अमृत दो, उसके तमोरूप में भी अमृत ही दो। एक अमृत भौतिकात्मा है इसमें आसुरी मृत्यु से छुटकारा है, जिससे रात्रि के तमोरूप आसुरी मृत्यु से छुटकारा पाकर त्रिपादमृत की अमृत ज्योति मिलती रहे।

अध्याय १९

वेदों में अग्नि

जिसने वेदों को योंही उलट-पुलट कर भी देखा होगा, उसे विदित होगा और वह यह देखकर चकित भी हुआ होगा और ऊब कर भिन्नाया भी होगा कि समस्त वेदों का लगभग एक तिहाई से अधिक भाग केवल 'अग्नि-दैवता' से सम्बन्ध रखता है। बात यह है कि वेदों में केवल एक अग्नि का नहीं वरन् अनेकों अग्नियों की व्याख्या दी गई है जिनमें से लोग केवल दो-चार के ही नाम मात्र जानते हैं उनकी भी यथार्थता नहीं समझते, सबके तो नाम तक नहीं जानते, उनकी विशेषतायें जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः वे लोग इनमें पुनरुक्ति सी पाते हैं और ऊब कर पटक देते हैं पूरा देखने-पढ़ने, समझने का कष्ट हीं क्यों करें ? वास्तविक बात तो यह है कि 'अग्निवाद' तो वैदिकों की आत्मा है। अग्निवाद ही ब्रह्म विकास वाद है, 'अग्नि' ही ऐसा तत्त्व है जिसके एक नाम से कुल पचासों तत्त्वों को पुकारा जा सकता है क्योंकि कुल पचास तत्त्व उत्तरोत्तर विकासीय अग्नि तत्त्व ही हैं। अतः ऐतरेय ब्राह्मण तो अपने ग्रन्थ का उद्घाटन 'अग्निः सर्वा देवता' कहकर ही करता है और शतपथ भी प्रारम्भ में अग्नि का ही विवेचन देता है। ऋग्वेद का आरम्भ ही 'अग्नि' शब्द से होता है। इस महत्त्वपूर्ण अग्नि शब्द के रहस्य का उद्घाटन और विवेचन इस प्रकरण में क्रमशः पर संक्षेप में दिया जा रहा है :—

१—वेदों में अग्नि की महिमा

कर्मकाण्ड में वेदों में वर्णित अग्नि तत्त्व का अभिनय घी, लकड़ी, कोयले आदि से जलाने वाली आग से किया जाता है। उस अभिनेय पात्र रूप जलती आग को वेदों में वर्णित अग्नि तत्त्व का सच्चा प्रतिनिधि जान-मान और समझकर—आलोचकों ने कर्मकाण्ड के आधार पर, सचमुच में वैदिक अग्नितत्त्व को जलती आग ही समझ रखा है। एम० ए० के पाठ्य ग्रन्थों तक में यही भावना निबद्ध मिलती है। कहते भी जाते हैं वैदिक आर्य ठंडे देशों के रहने वाले थे। अतः उन्हें अग्नि का महत्त्व अधिक जचा। ये दोनों बातें अनभिज्ञता की द्योतक हैं। ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा निरुक्त में भी 'अग्नि' शब्द को आत्मा तत्त्ववाची बार-बार घोषित किया गया है, केवल अग्नि ही नहीं, वेदों में जितने जो कोई भी देवता हैं वे सब आत्मा रूप हैं यह मनु ने स्पष्ट लिखा है 'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्' (मनुस्मृति १२-११९)। पर अग्नितत्त्व तो कई स्तरों में विभक्त है। जैसे नृम्ण, वस्वग्नि, पुरोहिताग्नि, होता, परिजातवेदा, अपाँ नपात्, अतिथिः, जातवेदा, द्रविणोदाःस रत्नधातमं, सहस्पुत्र, सहसः सूनु, सहसोयहुम्, सहसो नपात्, आप्रियः,

२—कर्मकाण्ड और दर्शन में अग्नि का भेद

तनूनपात्, दूतमग्नि, कवि, प्रचेतस्, प्राणाग्नि, महिष, इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, मातरिश्वा, गावः पृश्नि, दधिक्रावन्, दिवोनपात्, मिहोनपात्, मनोनपात्, सूर्य, सविता, वैश्वानर इत्यादि ये नाम विभिन्न शैलियों में अग्नि के ही हैं। पर सब इनके भेदों को नहीं समझते हैं। यह वेदों का दुर्भाग्य है। वैदिकों ने नाना विद्याओं में वर्णित अनेक शाखाओं में व्याख्यात तथा ५० तत्त्वों में विभाजित अग्नि के नाना रूपों को भी विभिन्न रूप में समझते हुए भी एक ही रूप में देखने की धीरता का वर्णन प्रश्नोत्तर द्वारा इस प्रकार दिया है। पर यह समझदारी की एक रूपता है, ना समझी की एक रूपता नहीं; यह अन्तर ध्यान से न उतारा जाना चाहिये।

प्रश्नः—'यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित् सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्।
३—अग्नि की गवेषणा कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः ?।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्।
(ऋ० वे० १०-८८, १७-१८)

उत्तरः—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।
ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै॥
(ऋ० वे० ८-५८-२, ३)

'अग्निर्वै महिषः' प्राणा वै 'महिषा' (श० प० ब्रा० ७-२-३-२३; ६-५-४-५)
इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम्॥
(यजु० १२-१०५)

यहां इस अग्नि को राष्ट्रिय नाम से पुकारा है। यहाँ विशेषता यह है कि प्रश्न तो दशम मण्डल में और उत्तर है अष्टम मण्डल में। इससे यह प्रतीत होता है कि मण्डलों का विभाजन रचना क्रम से नहीं है। अतः जो लोग दशम मण्डल को अन्य मण्डलों से परवर्ती समझते हैं वे भी बड़ी भारी गलती करते हैं। इसी प्रकार दूसरा प्रश्न परिधि के बारे में ऋ० वे० १०-१३०-३ में है और इसका उत्तर तो १०-९०-१५ में उससे पहले ही मिलता है जिससे यह प्रतीत होता है कि दशम मण्डल के सूक्तों का संकलन भी रचना क्रम से नहीं हुआ है। १०-१३० सूक्त पहले रचा गया है, १०-९० उसके बाद में। अस्तु, यहाँ पर अग्नि इत्यादि के बारे में प्रश्न वाली ऋचा कहती है' आप ने दलों के अवर और पर या पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो भेद किये हैं, अग्नि इसमें किस पक्ष में है, हमें कौन बता सकता है और इसे कौन जानता है ? अग्नियाँ कितनी (शाखायें) हैं ? सूर्य कितने हैं, उषा कितनी हैं, आपः कितने हैं ? हे गुरुजनों ? हम आपसे पूछते हैं, आप लोग कवि, कारु या दार्शनिक हैं, यह ज्ञान के लिए पूछा जा रहा है (गर्व से नहीं)। इसके उत्तर में कहा गया है कि अग्नि तो केवल एक

ही है, आदि ब्रह्म ही है, पर उसका विकास (समिद्धः) अनेक प्रकार से—नाना विधियों की नाना नामावलियों से वर्णित किया गया है। सूर्य भी केवल एक ही (२५वां) तत्त्व है जिससे भौतिक सृष्टि (विश्व) का आरम्भ होता है, उषा भी केवल एक ही २४वां तत्त्व है, वह स्वयं प्रकाशमान तत्त्व है, भीतर ज्ञान भी, मन, बुद्धि आदि रूप में बाहर भी ज्योतिरूप में विभा ही है, प्रत्येक तत्त्व एक-एक ही है। आदि में २४वें तक सब तत्त्व त्रिधा होते हुए भी एक ही अभौतिक ब्रह्माण्डकार में अभौतिक गुहा रूप में थे 'एकं सदेतत्त्रयम्' (बृ०उप०)। रहा आपः तत्त्व-वह ज्योतिष्मान् केतुमान् त्रिनाभि सुरथ रूप में, सुसद् रूप में, बहुविद्युत् धर्मीतरंग (भूरिवारम्) रूप में था जिसका पूर्ण विकास ऋतसत्यशर रूप में, चित्रामघा या वृत्र के योग में हुआ। उससे पहिले केवल ऋतशर मात्र था। तब से पौराणिकों के कथनानुसार "जले ज्वाला स्थले ज्वाला ज्वाला चाकाशमण्डले। त्रैलोक्यव्यापिनी ज्वाला दीपज्वाला नमोऽस्तुते।" वह विद्युन्मयी ज्वाला सर्वतोमुखी जलने लगी; "अग्निर्हिवै चतुर्दिक्षु ज्वलति" श० प० ब्रा०। इस आपः तत्त्व की व्याख्या अतिरिक्त तत्त्व रूप में या हरियोजन ग्रह रूप में की गई है, इसी को सोमपान कहते हैं। सोमपान माने अभौतिक त्रिधात्मा का भौतिक खोल स्वीकार करना या दिव्य शरीर में बन्धन पा जाना है।

४—अग्नि को ब्रह्म क्यों कहते हैं ?

'अग्नि' नाम ब्रह्म का है, उसका यह नाम क्यों पड़ा ? इसकी विवेचना करते हुए श० प० ब्रा० (६-१-१-११) ने लिखा है "यो गर्भोऽन्तरासीत्सोऽग्निरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षं परोक्षकामा हि देवाः।" कि हिरण्यगर्भ रूप आदि ब्रह्म के अन्दर जो कुछ था वह अग्नि रूप में था, वह सबसे पहिले विकास को प्राप्त हुई। अतः उसे अग्रि-अग्रि कहते रहे, और अग्रि-अग्रि कहते-कहते उसे नीहारावृत करने के लिए अग्नि-अग्नि नाम से पुकारने लगे। यह रहस्यवादी वैदिकों की व्याख्या शैली का एक रहस्यपूर्ण नमूना है। इसी व्याख्या की पुष्टि यास्क ने लौकिक कर्मकाण्ड रूप में दे रखी है,—

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति सन्नममानः।
अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति॥
त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्।
स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीपरः॥"

(निरुक्त ७-४-१४)

इन व्युत्पत्तियों में प्रथम और रेखाङ्कित तो कुछ-कुछ ठीक हैं, शेष उनकी या निरुक्तकारों की अपनी ऊलजलूल कल्पनायें हैं। कठिनाई इन दोनों में भी है, इनमें भी नीहारावृतता माने बिना काम नहीं चल सकेगा; नहीं तो 'अग्रि या अङ्गि' समान ही रूप बनेंगे। इसीलिए सभी ब्राह्मण और उपनिषद् अग्नि को देवताओं या तत्त्वों का मुख या प्रथम स्वरूप मानते हैं। उदाहरण में श० प० ब्रा० (२-५-१-८) लिखता है "अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः"।

यहाँ पर 'प्रजनयिता' शब्द अग्नि को सब तत्त्वों का पिता उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार ब्रह्म को माना जाता है जैसे "मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता" (ऋ० वे० १-९०-७; वा० सं० १३-२८; तै सं० ४-२-९-३; तै० आ० १०-१०-२, श० प० ब्रा० १४-९-३-१२ इत्यादि)। अन्त में श० प० ब्रा० १४-३-२ ने 'अग्निरात्मा' कह कर अग्नि को आत्मा घोषित कर दिया है।

५—अग्नि का सम्बन्ध कई विद्याओं से है

अग्निवाद का सम्बन्ध कई विद्याओं से है जिनमें से सात विद्यायें मुख्य हैं; वे हैं (१) अहोरात्रवाद (२) तेजोवाद (३) आपोवाद (४) अश्मवाद (५) वृक्षवाद (६) ओषधिवाद (७) सन्तानवाद। तेजोवाद, रेतोवाद या बुद्धि-वाद है। इनकी व्याख्या ऋग्वेद स्वयं इस प्रकार देता है।

"त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥"
(ऋ० वे० २-१-१)।

अहोरात्र वाद में पूर्वार्द्ध-परार्द्ध; दिन और रात या शुक्ल और कृष्ण पक्षरूप अग्नियाँ हैं। पूर्णाहोरात्र में सृष्टि दिन, प्रलय रात्रि है। तेजोवाद सवितावाद या विष्णुवाद है 'विष्णुः सर्वा देवता' (ऐ० ब्रा० १-१-१)। यह बुद्धि, ज्ञान, प्रतिभारत्नरूप 'अग्नि' है। आपोवाद समुद्र, नदी, नदवाद रूप हैं।* इसी का अंग 'अपां नपात्' है। अश्मवाद, रसवाद का दूसरा नाम है। इसी से सम्बद्ध अरणिवाद है जो दो अश्म को दो अरणियों के नाम से पुकारा जाता है। 'अरण्योर्निहितो जातवेदाः' इत्यादि (ऋ० वे० ३-२९-२, साम ७९)। यह अरणिवाद वृक्षवाद का अंग है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः" (ऋ० वे० १०-३१-७; वा० स० १७-२०; तै सं० ४-६-२-५, तै ब्रा० २-८-९-६)। ओषधिवाद, वैश्वानराग्नि और सोमवाद है; अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः, गीता १५-१४। सन्तानवाद प्राणिवाद है 'तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते' (श० प० ब्रा० ६-१-२-१३) और "अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे १४-९-४८ आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् (श० प० ब्रा० १४-९-४-२६)। ब्रह्म पिता या प्रपितामह है, जीवात्मा, पितामह, तेजसात्मा पुत्र है, दिव्य शरीर पौत्र है। इनका विकास अग्निरूप में तेजोरूप के द्वितीय स्वरूप वीर्य या रेत रूप में होता है। दिव्य शरीर में इन सब का एकत्व रहता है। पौत्र (सन्तान) उत्पत्ति में ये चारों आत्मायें सम्मिलित रहती हैं। ये क्रमसे आकाशीय, वायवीय, तैजसीय और जलीय मिश्रण रूप में रहते हैं। हमारा शरीर इनकी जलीयता को पार्थिव रूप देता है, वही अखण्डब्रह्माण्डका पाञ्चभौतिक शरीर या स्थूल शरीर का दिव्य शरीर कहलाता है। इस शरीर में प्रपितामह, पितामह, पिता और पुत्र सबके बीज होते हैं। प्रत्येक सन्तान इन बीजों सहित उत्पन्न होता है। ओषधिवाद में भी यही सरणि चलती है। उक्तवादों की पुष्टि में शतपथ ब्राह्मण ने

* अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। (मुण्डक, २-१-९, नारायणोपनिषद्)

अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और वरुण पाँच आत्माओं को माना है। अग्नि ब्रह्म है, वायु जीवात्मा रुद्र, वरुण अबात्मा संगात्मा, सूर्य कामात्मा, चन्द्रभौतिकात्मा तथा इन्द्र ध्यानात्मा तेजसात्मा है (श० प० ब्रा० १४-३-२)।

६—अग्निवाद विद्युद्वाद है

अग्निवाद विद्युद्वाद है। आदि ब्रह्म विद्युत् की अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता मात्र है। इतना अतितमसूक्ष्मतम विद्युत् स्वरूपी है कि उसका नाम तक 'असत्' रख दिया गया है। यह सूक्ष्मता प्रमाण, परिमाण से हीन या व्यापक रूप, एक रूप होते हुए नितान्त अभौतिक सा है।

"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्॥" (यजु० ३२-२)

पचासवें तत्त्व तक सब विकास वैद्युतीय स्वरूप में ही होते हैं। इस ब्राह्मविद्युत्स्वरूप का सबसे बड़ा स्वरूप पचासवाँ तत्त्व केवल एक विवर्त परमाणु या अधिपुरुष है। विद्युत् की इन विकास श्रेणियों या पर्वों का नाम ही चेतना है, शब्द है, वाक् है, देवता है, प्राण है या अग्नि है, अन्य सभी नाम उन्हीं के हैं। यह प्राणमय, तापमय चेतनमय, प्रकाशमय, विज्ञानमय, शक्तिमय, बुद्धिमय, आनन्दमय, व्यापक, मधु विद्युत् स्वरूपी अग्नि है जिसका कभी किसी अवस्था में भी नाश नहीं होता, पर विकास और विकासों का प्रतिविकास या अतिविकास या ह्रास होता है, जिन्हें लोग जन्ममृत्यु कहते हैं।† जन्म, मृत्यु का उस मौलिक मधु विद्युत् से कोई सम्बन्ध है ही नहीं; इनका सम्बन्ध विकास परम्परा की सन्तान या तारतम्य की शृङ्खलाओं से है जिनके होने न होने, रहने न रहने से उस मधु विद्युतीय अग्नि में कोई अन्तर नहीं आता या नहीं आ सकता।

७—अग्निर्देवता के अनेक उद्धरण

अग्निर्देवता के सम्बन्ध में निम्नलिखित अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनमें से प्रत्येक अपना-अपना, पृथक्-पृथक् सन्दर्भ रखता है; तदनुरूप उसका स्थान, मान और मूल्याङ्कन निर्धारित करना चाहिए। आदि अग्नि तो शान्ततम अग्नि प्रजापति ब्रह्म है, उसके अन्य विकास, उसके अशान्ताग्नि रूप कहलाते हैं। अग्नि नाम रुद्र का भी है। अतः जो अग्नि का वर्णन है उसे रुद्र का भी वर्णन समझना चाहिए। जैसे "अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति, तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामान्यग्निरित्येव शान्ततमम्।" (श० प० ब्रा० १-७-३-८) यहां पर प्राच्य लोग शर्व को भव कहते हैं और बाहीक उसी को पशुपति रुद्र कहते हैं। जो रुद्र है वही अग्नि है "यो वै रुद्रः सोऽग्निः" (श० प० ब्रा० ५-२-४-१३)। अतः जिस प्रकार अग्नि सर्वा देवता है, उसी प्रकार रुद्र भी सर्वा देवता है। शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्देव, ईशान और कुमार नाम अग्नि के हैं और रुद्र के भी (श० प० ब्रा० ६-१-३-१८) यो वै रुद्रः सोऽग्निः (श०प०ब्रा० ५-२-४-१३)। अर्क नाम भी अग्नि

† विराजोऽधिपुरुषः (पु० सू०)

ही का है 'अग्निर्वा अर्कः' (श० प० ब्रा० २-५-१-१४ इत्यादि) अग्नि देवताओं का पशु है 'पशुरेष यदग्निः' (श०प०ब्रा० ६-३-१-२ आदि)। अग्नि अवम है विष्णु परम है 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः' (ऐ० ब्रा० १-१)। अग्नि पूर्वार्द्धीय है, विष्णु परार्द्धीय 'अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्द्ध्यः' (श० प० ब्रा० ३-१-३-१, ५-२-३-६) यही दो अग्नि के तनु हैं (ऐ० १-१)। अग्नि ही देवताओं का वसिष्ठ है (ऐ० १-२८), अग्नि ही शिर है (श० प० १०-१-२-५)। अग्नि ही यश की योनि है (श० प० ब्रा० ९-२-३-३१)। अग्नि ही यज्ञ का मुख है 'अग्निर्वै यज्ञमुखम्' (तै० १-६-१-८) अग्नि सब देवताओं की आत्मा है 'अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा' (श० ब्रा० १४-२-५)। अग्नि को सर्व प्रथम उत्पन्न किया गया 'अग्निमेव देवतानां प्रथममसृजत' (तै० २-१-६-४)। अग्नि ही ज्येष्ठ पुत्र है "अग्निमब्रवीत्त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि" (जै० उ० १-५१; ५-६)। अग्नि ही देवताओं का मुख है, अग्नि ही देवताओं का अन्नाद है (श० प० ब्रा० ३-७-२-६) अग्नि ही देवताओं की योनि है (ऐ० ब्रा० १-२२; २-३)। अग्नि देवताओं का जहर है (तै० २-७-१२-३)। अग्नि ही अन्नाद और अन्नपति भी है (ऐ०ब्रा० १-८)। अग्नि ही मिथुन कर्ता और रेतोधा है (श० प० ब्रा० ३-४-३-४; तै० २-१-२-११)। प्रजनन भी अग्नि ही है (तै० १-३-१-४)। पृथिवी भी अग्नि है, यह लोक भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ६-१-१-१४, १४-९-१-१४)। संवत्सर भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ६-७-१-१८)। वाक् भी अग्नि है (श० प० ब्रा० ३-२-२-१३)। तेज भी अग्नि है, ज्योति भी अग्नि ही है, रक्षोहा भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० २-५-४-८; ७-४-१-३४)। अग्नि ही पाप्माओं का हन्ता है (श०प०ब्रा० ७-३-२-१६)। तप भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ३-४-३-२)। अग्नि व्रतपति, यष्टा, होता और दूत है (श० प० ब्रा० ३-३-७-६; १-४-५-४)। अग्नि ही मृत्यु भी है (जै० उ० १-२५-८)। पुरुष भी अग्नि है (श० प० ब्रा० १०-४-१-६)। योषा, वृषा, स्त्री भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० १-१-१-१८, २-१-१-३)। मन, प्राण, तीर्थ भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० १०-१-२-३, ९-५-१-६८, तै० १-७-२-२)। गायत्री और गायत्र सब अग्नि हैं (श० प० ब्रा० ३-४-१-२९; ताण्ड्य १६-५-१९)। अग्नि गायत्री का मुख है (जै० उ० ४-८-२)। यह अग्नि ब्रह्म, क्षत्र दोनों हैं (श० प० ब्रा० ६-६-३-१५)। पर्जन्य भी अग्नि है (श० प० ब्रा० १३-९-१-१३)। अग्नि दिन है, ब्रह्म का वत्स है, दिशा भी अग्नि है (श० प० ब्रा० ६-२-२-३४, जै० उ० २-१-३-१)। अग्नि लोकों का अधिपति है (ऐ० ३-४२)। अग्नि आयु है, अतिथि है, (श० प० ब्रा० १६-८-४-८ तै० २-९-३-६)। अग्नि सब भूतों का अतिथि है (श० प० ब्रा० ६-७-३-११)। अग्नि नाम पवित्र और अनीक का है और वह देवताओं का गोपा है (तै० ३-३-७-१०, श० प० ब्रा० ५-३-१-१ ऐ० २-२८)। अग्नि वसु से उत्पन्न हुई (ऐ०१-२४)। अग्नि त्रिवृत् है (श० प० ब्रा० ६-३-१-२५)। अग्नि का प्रथम जन्म द्यौ है (श० प० ब्रा० ९६-३-३९)। अग्नि ही स्वाहा और हिम का भेषज है (पं० २-३-२ तै० ३-९-५-४)। आदित्य भी अग्नि है (श० प० ब्रा० ६-४-१-१)। अग्नि प्रातः सवन है (कौ० १८, १२-६)। अग्नि विलीयमान होकर पृथिवी (चतुर्थ सप्तक में आखु या अश्व रूप में प्रविष्ट हुई (तै० १-१-३-३९)। अग्नि ही अर्वा है (तै० १-३-६-४)। अग्नि की आहुति प्रथम होती है, अग्नि की पांच या सात चितियाँ होती हैं

(६-३-१-२५; ६-६-१-१४)। अग्नि का पुरोडाश एक कपाल या अष्ट कपाल होता है (ताण्ड्य २१-१०-२३; श० प० ब्रा० २-५-१-८)। अग्नि ही देवताओं का 'काम' है (कौ० १९-२)। पशु रूप में अग्नि को पवमान कहते हैं, आपः रूप में पावक; आदित्य-रूप में शुचि (तै० १-१ ६-२)। आदित्य नामक अग्नि को अनीकवान् कहते हैं (तै० १-१-६-२)। अग्नि नामक संवत्सर को नचिकेता कहते हैं (तै० ३-११-७-३)। हिरण्य नाम नाचिकेताग्नि के शरीर का है (तै० ३-११-७-३)। संवत्सर नामक अग्नि को ही वैश्वानर कहते हैं (ऐ० ब्रा ३-४१)। इस पृथिवी (चतुर्थ सप्तक) की अग्नि का नाम वैश्वानर है। अग्नि का ही नाम अग्निष्टोम है। ब्रह्म का नाम अग्निष्टोम है (श० प० ब्रा० ३-९-३-३२, कौ० २१-५)। अग्नि के सब विशेषण अग्निष्टोम पर लागू किये गये हैं। अग्नि होत्र गो का नाम है, इसका वर्णन अग्निष्टोम के समान है। अग्नि होत्री वाग् का नाम है (तै० ३-७-३-२)। यज्ञमुख का नाम अग्नीत् है (गो० उ० ३-१८)। अग्नीषोम, शुक्लकृष्ण, शुष्कार्द्र, आग्नेय सौम्य या अहोरात्र का नाम है। पूर्वार्द्ध अग्नि उत्तरार्द्ध सोम है, अग्नीषोम, पूरा दर्शन है "अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ" (का० १०-३)। इन्द्राग्नी भी सर्वा देवता है 'इन्द्राग्नी वै सर्वा देवाः' (श० प० ब्रा० ६-१-२-२८ कौ० १२-३; १६-१८)। अग्नि का नाम द्रष्टा भी है 'अग्निर्वै द्रष्टा' (गो० उ० २-१९)।

वैदिकों ने ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर का नाम अग्नि रखने में बड़ी ही कुशल बुद्धि का परिचय दिया है। ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर शब्द परिभाषाओं की आवश्यकता रखते हैं और परिभाषायें ऐसी जटिल, कठिन तथा अस्पष्ट रहती हैं कि समझाने वाला ही उन्हें अच्छी तरह नहीं समझे रहता, वह समझायेगा क्या? प्रत्येक को हठात् कुछ न कुछ मानने को बाध्य होना पड़ता है। पर अग्नि शब्द एक ऐसा संकेत है जो स्वयं स्पष्ट है। प्रत्येक चेतन की चेतना उसके तापमान से नापी जाती है, शारीरिक सुख-दुःख का निर्णायक भी यही तापमान या अग्नि है। वैदिकों ने ब्रह्मादि को उसके वास्तविक स्वरूप 'विद्युत्' में पहिचान कर उसे अग्नि कहा तो कितना बड़ा भाव सागर इस छोटे अग्नि रूप शब्द गागर में भर दिया; यह तो उनकी मार्मिक रहस्यवादिता का द्वार खोल देता है। तीसरे उन वैदिकों ने दर्शन का सरल और स्वाभाविक सरणि में विवेचन करने के लिए ब्रह्म को अप्, समुद्र आदि नाम का प्रतीक बनाया। समुद्र की वडवाग्नि को सब जानते हैं पर उसे कोई देख नहीं सकता। वैसे ही इस व्यक्त ब्रह्माण्ड रूप समुद्र में ब्रह्म वडवाग्नि के समान व्याप्त है, यह कितना सरल व्याख्यान है?

९—ब्रह्म का नाम अग्नि रखने का रहस्य

"समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्"॥

(यजु १२-२०; ऋ वे १०-४५, ३; श० प० ब्रा० ६-५-४-३, तै० सं ४-२-२-१ से ५ तक)

वैदिकों ने अपने दर्शन को साधारण जनता के लिए परम सरल बनाने के लिए उन्हीं रूपकों को रहस्य का प्रतीक बनाया जिन्हें सभी लोग भलीभाँति जानते हैं। अतः पूर्ण ब्रह्म को कहीं 'वृषभ' कहा तो कहीं 'पुरुष', कहीं 'पुरुष पशु और कहीं

'महिष'। इसकी अनन्तता बतलाने के लिए हमें साधारण वृषभादि से अत्यन्त विचित्र सा वर्णित किया। "सहस्रश्रृङ्गो वृषभो यः" "सहस्रशीर्षा पुरुषः" "सहस्रधारं वृषभं" (ऋ० वे० (१) ७-५५-७; अथर्व ४-५-१; (२) १०-१६०-१ साम ६१७ अथर्व १९-६ः१; वा० सं० ३०-१; तै आ० ३-१२-१; (३) ९-१०८-८ साम १३१५) इत्यादि।

इन्द्र सर्वा देवता भी है और हार्रायोजन इन्द्र तत्त्व १६ तत्त्वों का निर्देशक है, जो १७वें से प्रारम्भ होता है, यह इध्म रूप अग्नि है, यही बुध है, यही गोतमाग्नि है, यही वसिष्ठाग्नि। इसी अग्नि के प्रकाश रूप, काम, उषा, शची,

९—इन्द्र और अग्नि अहिल्या और उर्वशी हैं। इन्हीं पर नाना कथायें गढ़ी गई हैं।

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"॥
(१-१६४-४६ ऋ० वे; अथर्व ९-१०-१८)

नामक ऋचा को हमारे सभी विद्वान् ब्रह्म के नाना नाम देने वाली समझते चले आ रहे हैं। पर इनमें से एक भी नाम ब्रह्मवाची नहीं है, न यह ऋचा ब्रह्म के एकत्व का व्याख्यान करती है। यह ऋचा इन्द्र के १० नामों और विकासों का विवेचन दे रही है। इसमें ये दो सूक्त प्रमाण हैं—पूरे सूक्त पढें—अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयम् इत्यादि...ऋ० वे ४-२६-१ और 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' इत्यादि ऋ० वे २-१२-१ सूक्त में उक्त १२ प्रकार के इन्द्रों का वर्णन पृथक् किया है। इस दस तत्त्व वाची इन्द्र का नाम हारियोजन ग्रह है। ये दस नाम इन्द्र के हैं। इतना ही इस ऋचा का आशय है। इन्द्र सत्रहवां तत्त्व है; मित्र २४ वें का पूर्वार्द्ध और वरुण २४ वें का उत्तरार्द्ध है, इन दोनों को दक्षक्रतू भी कहते हैं। अग्नि शब्द यहाँ दो बार आया है। प्रथम शब्द २३वां ॐ कार का वाचक है, द्वितीय अग्नि वैश्वानर २६वां और स्वयं इन्द्राग्नि १७वें तत्त्व का; दिव्य सुपर्ण २६वाँ चन्द्र या सोम है, सुपर्ण सूर्य २५वां, गरुत्मान् २४वाँ श्येन है, मातरिश्वा २४ से ३१ तक के तत्त्वों का नाम है, यम २८वाँ तत्त्व है। इनमें से प्रत्येक तत्त्व को अनेक नामों से पुकारा और वर्णन किया गया है, यही यह ऋचा भी कह रही है ('द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' के द्वा सुपर्ण २५, २६वें तत्त्व हैं,)। १७वें से २८वें तत्त्वों में से प्रत्येक के और भी अनेक नाम और व्याख्यायें हैं जैसे तनूनपात्, मनोनपात्, दिवोनपात्, मिहोनपात्, दधिक्रा, महिष, सहसो नपात्, सहस्वान् ऋभु, भुज्यु, अश्विनौ, चक्षुः अतिथि, जातवेदा, अत्रि, कश्यप आदि। यही भाव है यहाँ के 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का। इसका आदि ब्रह्म से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान भी अग्नि ही है "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः" (गीता ४-१९)। उपनिषद्कारों ने विशेषकर गर्भोपनिषद् (५) ने उक्त अग्नि को इस प्रकार विभाजित किया है—(१)ज्ञानाग्नि(२)दर्शनाग्नि (३)कोष्ठाग्नि, जिन्हें क्रम

१०—ज्ञानरूप अग्नि से (१) दक्षिणाग्नि (२) गार्हपत्याग्नि (३) और आहवनीयाग्नि भी कहते हैं। ये तीनों परार्द्ध के प्रथम, द्वितीय और तृतीय सप्तक के ४८ तत्त्व तक की अग्नियों का वर्णन करते हैं। इनके तीन स्थान हृदय,

कण्ठ और उदर हैं। ये नाम हमारे शरीर के अंगों के न होकर 'पुरुषपशु' के अंगों के नामों का संकेत करते हैं, जिसका हृदय शिर था, मस्तिष्क समुद्र रूपी अप् था। हृद् या हृदय चतुर्थ सप्तक है। कण्ठ में दो तत्त्व २४वें, २५वें आते हैं। उदर वृत्र है "वृत्रं वै उदरं"; वह २६वें से ५०वें तत्त्व तक के सब तत्त्वों के दिव्य शरीर का वाचक है। इन अंगों का विवेचन श० प० ब्रा० १०-३-२ में तथा ८-१-२ में देखें। पूर्वार्ध की तीन अग्नियों का विवेचन निम्नलिखित ऋचायें स्पष्टतया देती हैं।

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः"॥
(ऋ० वे० १०-४५-१; वा० सं० १२-१०, तै० सं० १-३-१४-५; ४-२-२-१)

इसमें उल्टा क्रम है। आदि अग्नि नृमणा, अजस्र इन्धान है, द्वितीय परि-जातवेदाः, तृतीय जातवेदाः। अन्तिम का उदय दिव या तृतीय सप्तक में होता है; यहीं यह सर्व प्रथम प्रकाशमान होती है।

(२) "विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ"॥
(ऋ० वे० १०-४५-२; यजु० १२-१९; तै० सं० ४-२-२-१)

हम तेरे तीन विभाजनों के उक्त तीन-तीन प्रकार की व्याख्यायें जानते हैं, तेरे स्थानों को जानते हैं और तीनों स्थानों का एक नाम गुहा है, और हम तुम्हारे उस उत्स या उद्गम (ब्रह्म) को भी जानते हैं जहाँ से तुम प्रकट हुई हो।

(३) अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानो ऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम"॥
(ऋ० वे० ३-२६-७; यजु १८-२६)

(४) "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वो देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।
यो मा ददाति स इदेव मावा अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि"॥
(तै० ब्रा० २-८-८-१)

जातवेदा का नाम घृतपृष्ठ (घृत माने भौतिकात्मा रूप प्राण) है। चक्षु का नाम अमृत भी है; वह इस घृत रूप अमृत को वाहन बनाकर उसकी पीठ पर बैठता है, अतः धृतपृष्ठ कहलाता है। अर्क आदि कम् ब्रह्म है उसका रजः २५वाँ तत्त्व है। प्रथमाग्नि प्रथम नाभि है, द्वितीयाग्नि द्वितीय नाभि है, तृतीयाग्नि तृतीय नाभि, जिससे 'अन्नं ब्रह्म' या वाग्ब्रह्म या ॐ की उत्पत्ति होती है।

जिसका नाम 'सँस्कार' कहते हैं वह 'जातवेदाग्नि' या ज्ञानाग्नि ही है। यह अग्नि जन्म-जन्मान्तर में सदा एक रूप में बीज रूपेण रहती है। स्थूल शरीर में इस संस्कार रूप जातवेदाग्नि को अधिक उद्दीप्त सा करने की आवश्यकता रहती है। स्थूलशरीर वृत्र या सोम रूप दिव्यशरीर का विकास है, जातवेदाग्नि इन्द्र का प्रतिनिधि है। इन दोनों का निरन्तर युद्ध चला करता है। हमारा जीवन इन दोनों की धूपछाँह या प्रकाश, अन्धकार की सम्मिश्रित यात्रा है।

११—सँस्काररूप अग्नि

अतः लिखा है। "जन्मन्जन्मन्निहितो जातवेदा विश्वामित्रोभिरिध्यते अजस्रः।" (ऋ० वे० ३।१।२१) "महान्ति वृष्णै सवना कृतेमा जन्मन्जन्मन्निहितो जातवेदाः।" (ऋ० वे० ३-१-२०)। गीता ने जीवन के जन्म-जन्मान्तर में विद्यमान रहने वाली इस जातवेदाग्नि की प्रकाशान्धकारता या धूप-छाँह या इन्द्रवृत्र द्वन्द्व का वर्णन एक नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है।

"धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥" (गीता ३-३८)

गीता ने वृत्र या सोम को कामरूपी अग्नि और जातवेदाग्नि का जन्मजात नित्य शत्रु कहा है।

"आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥" (३-६९)

गीता का यह कथन सोलह आने भर वैदिक भावना पर आधारित है। वृत्र या सोम का जन्म कामरूपी २५ वें तत्त्व सूर्य से होता है, वह समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर देता है। अतः गीता उसे 'दुष्पूरेणानलेन' नाम से पुकारती है। यह 'काम' सृष्टि का मूल कारण है, यही काम या सोम विद्या का महाभण्डार है, विद्या जातवेदस् अग्नि, होताअग्नि (परिजातवेद अग्नि) और नृम्णाग्नि ही हैं। गीता को पढ़ने और पढ़ाने वाले उक्त श्लोकों में ज्ञान की व्याख्या में अग्नि की उपमा दी हुई सी समझते और समझाते चले आ रहे हैं। उन्हें कौन बता सकता है कि यहां ज्ञान स्वयं अग्नि है, हमारा शरीर उसका धुआँ सा, अन्धकार सा स्वयं है। इसीलिए इसे प्रकाश में बाधक होने के कारण शत्रु या भ्रातृव्य कहा जाता है। इस अन्धकारमय दिव्य-शरीर वृत्र को भ्रातृव्य तो भाई का पुत्र होने के कारण कहा जाता है, पर यह भ्रातृव्य शत्रुरूप का व्यवहार करता है। अतः भ्रातृव्य माने भी 'शत्रु' माना जाने लगा। पूर्वार्द्ध में तीन सप्तक या पाद आते हैं, प्रत्येक पाद एक भाई है।

"अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१)

यहां वामस्य माने 'आदि ब्रह्म का' है "विश्वा वामानि धीमहि" (ऋ० वे० ५-८२-६) और "वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती" (ऋ० वे० ४-३० अन्तिम) मंत्र इसका प्रमाण है। पलितस्य माने वृद्ध 'श्वेत रंग वाले का' है, यह प्रथम भ्राता है; होतुः, होताग्नि या पारिजातवेदाग्नि द्वितीय भ्राता द्वितीय सप्तक है। मध्यम भ्राता २५ वां तत्त्व चतुर्थ भ्राता है, यही घृत है, अशन युक्त है, इसकी पीठ पर तृतीय सप्तकरूप जातवेदस् अग्नि तृतीय भ्राता है, यह विट् या वैश्य है, इसके सात पुत्र हैं, चतुर्थ सप्तक के सात अङ्गिरस नामक ऋषि हैं, ये भौतिक हैं, कृष्ण हैं। द्वितीय सप्तक क्षत्र है, प्रथम ब्राह्मण। तृतीय भ्राता का पुत्र वृत्र भी है। अतः वह भ्रातृव्य और शत्रु भी कहलाता है। यजुर्वेद ने इन चारों

सप्तकों को क्रम से बन्धु, सुबन्धु, प्रियबन्धु और विश्वबन्धु नाम के चार भाई कहा है। 'विश्वबन्धु' वृत्र है पर यह अपने प्रथम तीन भाइयों का शत्रु है; अतः इसे मारा (क्या जाता है वृत्र के समान विजित किया) जाना लिखा है। 'विश्व' माने भौतिक शरीर है। विश्वबन्धु को वैश्वानराग्नि द्वारा विजित या पराजित किया जाता है। विश्वबन्धु या वृत्र का मारा जाना या वैश्वानराग्नि की चिता में जला देना' माने केवल भौतिक दिव्य शरीर की अन्धकारमयता को प्रदीप्त या प्रकाशित या ज्ञानमय बना देना है - "तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य" (ऋ० वे० ६-१६-११) की व्याख्या में श० प० ब्रा० १-३-५-६४ ने प्रत्येक अग्नि का तादात्म्य प्राण, उदान, अपान आदि से किया है।

१३—वेदों में अग्नि का इतना महत्त्व क्यों है?

वेदों में जितना अधिक वर्णन अग्नि देवता का है उतना किसी अन्य देवता का नहीं। इसका क्या कारण है। इस पर कम लोगों ने विचार किया है। वेदों में जितने भी देवता हैं वे सब मिलकर 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' की रचना करते हैं। या यों कहिए कि ब्रह्म अखिल ब्राह्माण्डीय एक शरीर है, अन्य सब देवता उसके अङ्ग और प्रत्यङ्ग हैं। इनमें से ज्ञान और मुख ये दो मुख्य अंग ब्रह्म के अग्नि रूप मुख्य अंग हैं। ब्रह्मरूप ब्रह्माण्ड का मुख अग्नि है। वही मुखाग्नि सब कुछ का सार रूप सोम (भौतिकात्मा) को पीने (या शरीर पाने का मुख्य द्वार है। जितने शेष देवता हैं वे ब्रह्म के अन्य अंग हैं। उनको भी यह सोमात्मा इसी मुख के द्वारा हमारे मुख से खाये अन्नों की तरह सभी अंग रूप देवताओं का भी मिल जाता है। अर्थात् अन्य किसी भी देवता के पास मुख है ही नहीं, वे इसी अग्नि के मुख से हवि पाते हैं। अतः अग्नि को देवताओं का मुख कहा गया है और यह भी कहा गया है कि मुख से अग्नि पैदा हुई। 'अग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयिता (श० प० ब्र० ३-७-२-६) और 'मुखादग्निरजायत' (पु० सू०) कौन देवता ब्रह्म का कौन अंग है, यह आगे 'देवाः' शीर्षक में दिया जायगा। इस अग्नि का रूप अन्नमय और अन्नाद या आध्यात्मिक वाक् या आध्यात्मिक शरीररूप वाक् का आत्मा या देवता है। ज्ञानमयी, मनोमयी वाक् दूसरी है, नाम भी दुसरा है। इसको धी, धियः मेधा कहते हैं, यह बृहती है जिसका पति बृहस्पति है, शब्द ब्रह्म या अमृत ज्ञानमय है। उत्तरार्द्धीय ज्ञानमयी बृहती का देवता वाचस्पति विश्वरूप या विश्वधर्मा है।

अध्याय २०

घृत और आज्य

वेदों में वर्णित 'घृत' तत्त्व के बारे में विद्वानों ने प्रायः अपनी-अपनी कल्पनाओं को प्रमाणित करने का प्रयास किया है न कि वेदों में इसका क्या स्थान या मान है, इसकी खोज का। वेदों में जिसे जातवेदस् नाम की अग्नि

१—अग्नि

कहते है उसका स्थान तृतीय सप्तक है; यह बताया जा चुका है। उसी जातवेदस् अग्नि रूप पुरुष की चक्षुस् का नाम घृत है जैसे

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम" ॥
(ऋ० वे० ३-२६-७! यजु १८-६६)

यह जातवेदस् अग्नि तो त्रिपादमृत की तृतीय पाद् रूप अमृत है, पर इसका अन्तिम विकास 'चक्षुः' नामक सूर्य तत्त्व में होता है। 'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' (ऋ० वे० १-११५-१) के 'अग्नेः' के माने इसी जातवेदस् नामक अग्नेः या अग्नि की चक्षुस है। उसी को 'घृतं' कहते हैं, इसी का नाम हवि है। जातवेदस् रूप सूर्य या चक्षुस् में 'अमृत और घृत' दो तत्त्व है, अमृत आध्यात्मिक आत्मा है, 'घृत' भौतिक रजस्, यह घृत भी अमृत है। अतः 'अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानः' नामक यह चक्षु; 'त्रिपादमृत रूप त्रिधातु आत्मा रजोरूप घृत के विमान में बैठा है। ये दोनों अपरिमित मान रहित हैं। इसी रजोरूप घृत को 'हवि' कहते है। यह नित्य अग्नि रूप (धर्म) है। अतः 'सोम' का और शरद् ऋतु का नाम भी हवि है, जैसे "सोमो वै देवानां हविः" (श० प० ब्रा० सोम देखें) 'शरद्धविः' (पुरुष सूक्त)। ये भौतिकात्मा रजस् के प्रतिनिधि हैं। ये उत्तरार्द्ध पृथिवी के स्थानीय हैं। अतः लिखा है 'घृतेन पृथिवी व्युद्यते' (ऋ० वे० १-१५२-४७) कि सम्पूर्ण पृथिवी या दक्षिणार्द्ध इस भौतिक रजोरूप दिव्य शरीर घृत से गीली है।

रेत दो प्रकार का है—आध्यात्मिक और भौतिक। वस्तुतः रेत नाम आपोमयी सृष्टि-विकास पद्धति में प्रयुक्त होता है। अदिति और अप् तत्त्व पूर्वार्द्धीय भी हैं, उत्तरार्द्धीय भी, ये पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक हैं, उत्तरार्द्ध में भौतिक

२—रेतः

अतः लिखा है 'रेतो वा आपः' (ऐ० ब्रा० १-१-०)। रेत पर आगे एक स्वतन्त्र शीर्षक है; देखें। जब भौतिक रेत की चर्चा आती है तब इसे 'घृतं' नामक रेतस् कहते हैं। यह रेत नाम प्रायः तब दिया जाता है जब उक्त 'चक्षु' रूप अमृतघृतीय तत्त्व को 'चक्षु' नाम से न पुकार कर मन नाम से पुकारते हैं। मन नाम चक्षु नामक सूर्य ही का है। अतः 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' (पु० सू०) लिखा है कि उस अमृतघृत रूप चक्षु से 'सूर्य' और उस

'अमृतं मनः' से चन्द्रमा उत्पन्न हुए। अर्थात् अमृतघृत से सूर्य रूप, अमृतसूर्य के मनोरूप से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। अमृतघृत का नाम काम (ब्रह्म) भी है। इसी काम से मनोरूप रेतस् या घृत का विकास है। उसी को रेतस् कहते हैं "कामस् तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"॥ काम ही मनस् का रेत या घृत है। इसकी पुष्टि में निम्न अन्य प्रमाण दिये जाते हैं। 'रेतो वै घृतम्' (श० प० ९-२-३-४४) 'आग्नेयं वै घृतम्' श० प्र० ब्रा० ७-४-१-४१)। 'एनद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्' (तै० ब्रा० १-१-९-६) 'एतद्वै प्रत्यक्षाद्यज्ञरूपं यद्घृतम्' (श० १२-८-१५) इत्यादि। इनमें जातवेदस् से उत्पन्न घृत रूप चक्षु ही रेतस् आग्नेय, अग्निप्रियधाम और यज्ञ रूप हैं। ये सब चतुर्थ सप्तक के भौतिकात्मीक तत्त्व हैं। इसीलिए ऐ० ब्रा० (१-१-३) ने लिखा है कि घृत तत्त्व मनुष्य नामक चतुर्थ सप्तकीय भौतिक तत्त्वों के लिए ही प्रयुक्त होता है जैसे 'घृतं मनुष्याणाम्'

इस जातवेदस् अग्नि का नाम वेदों में कई स्थलों पर 'घृतपृष्ठ' आया है। 'अस्य वामस्य' सूक्त के चार भाइयों में तृतीय भ्राता इसी जातवेदस् को भी 'घृत पृष्ठ कहा गया हैं जिस पर हजारों कल्पनायें की जा चुकी हैं।

३—अग्नि का नाम धृतपृष्ठ

जातवेदस् अग्नि के सात भेद रूप सात तत्त्व तृतीय सप्तक के कहलाते हैं, इनसे आठवां घृत नामक चक्षु उपनामक सूर्य, मन, आत्मा आदि अन्य नामवाला तत्व उत्पन्न होता है, इसकी पीठ पर यह जातवेदस् रूप तृतीय भ्राता बैठा है। अतः इसे घृत पृष्ट या भौतिकात्मा के घृतपृष्ठ रूप या वाहन के पीठ पर बैठा हुआ कहा है तो कितना रमणीय रुपक बनाया है। घृत भौतिकात्मा रूप रजस् और तमस् है, उसकी पीठ पर सूर्यरूप प्रकाश युक्त वह जातवेदस् बैठी है। यह सीधा आशय है। दशाक्षरी विराट् विधि में पञ्च-सागर या सप्तसागर विद्या में प्रथय १० तत्वों का सागर पय का है, दूसरा १० तत्त्वों का दधिक्रा (दधिक्रा) २० से ३० तक तीसरा घृत का उसी की पीठ पर यह तृतीय भ्रातृ रूप त्रिपादमृत बैठा है, अतः घृतपृष्ठ कहलाता है। यह भौतिकात्मा रूप घृत अमृत है। यह वही अमृत है जिसे श्येन रूपी गायत्री लाती है, वही कुलायी घृतमत् कहलाता है, वह इस घृतामृत को देवताओं में बांटता है। यही चतुष्कपर्दी युवति आनुष्टुभी गायत्री है। इसे भी 'घृत प्रतीका' कहा गया है 'तस्मिन्वसति धृतसत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः' (यजुः नारा० उप) चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा घृत प्रतीका' (ऋ० वे० १०-११४-३) इत्यादि।

'आज्य' नाम घृत का नहीं है, यह अज एकपाद् सृष्टि वृक्ष की ऋतु रूप विकास को देनेवाली सरणि का पारिभाषिक शब्द है। अज एकपाद् आदि ब्रह्म का प्रथम ऋतु रूप विकास जब 'वसन्त' ऋतु नाम से होता है तब इसे

४—आज्य शब्द की व्याख्या

'आज्यम्' कहते हैं जैसे 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः'। यह वसन्त प्रथम सप्तक है, इसी का नाम आज्य है, यह देवताओं की सुरभि है 'आज्यं वै देवानां सुरभिः' (ऐ० ब्रा० १-१-३)। फलतः अजस्य अजाज्जातं आज्यम्' है पूर्वार्ध पूरा 'आज्य'

है, उत्तरार्द्ध पूरा घृत। पितरों के लिए 'आयुत' और 'गर्भ' के लिए 'नवनीत' का प्रयोग करते हैं। पूर्वार्धीय रेत का नाम भी आज्य है 'रेतः आज्यं' (श० प० ब्रा० १-३-१-१८) 'अग्नेर्वा एतद्रूपं यदाज्यम्' (तैत्ति ब्रा० ३-८-१४-२)। अतः पुरुष सूक्त उस सर्वहुत या सर्वस्वाहा कृत आदि तत्व में 'आज्य' सम्भृत बतलाती हुई कहती है 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्य' (पु० सू०)। पृषदाज्य माने प्राणरूप आज्य है। इस सम्बन्ध में, अश्वमेध' शीर्षक में दिये ऐ० ब्रा० के (१-१-३) के अवतरण को पुनः पूरा पढ़ लिया जावे (पृ० १५४ देखें)।

अध्याय २१

आपोब्रह्म और पञ्चामृत

आपोब्रह्म, वैदिक दर्शन का सबसे जटिल विषय है। पर जब इसको अच्छी तरह समझ लिया जावे तो वैदिक दर्शन का अधिकांश भाग सुबोध और सरल-तथा भावगम्य हो जाता है। वैदिक दर्शन नाना तत्व के पारस्परिक सम्बन्धों से ऐसा निविड़तया गुथा और उलझा सा है कि इनको पखारना एक बड़ी समस्या प्रस्तुत कर देता है। आपोब्रह्म में प्रायः सभी तत्व सन्नद्ध, सम्बद्ध, प्रबद्ध तथा निबद्ध हैं। वैदिकों का 'आपः' शब्द ही एक समस्या है। लोग इसका लौकिक अर्थ जल-पानी लगाकर वैदिक ऋषियों की गम्भीरता की ऊपरी तह में तैरते दिखाई पड़ते हैं, फिर वेदों का अर्थ कैसे लगे ? वैदिकों ने तो इस आपोब्रह्म ही से सृष्टि के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ की है। यदि इस 'आपः' का अर्थ पानी या जल है और महाभूतों में भी चौथा महाभूत है तब इससे प्रथम तीन महाभूतों का क्या हुआ ? यह तो कोई सोच भी नहीं सकता। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह भी बतला देना उचित है कि यदि हमारे वर्तमान दार्शनिक लोग 'आपः' नामक महाभूत को भी पानी या जल ही समझते हैं तो आजकल के रसायनिक वैज्ञानिकों का इसका खण्डन करते हुए यह कहना कि हमारे पीने का पानी या जल तो दो पदार्थों का सम्मिश्रण है, जो पदार्थ सम्मिश्रण है वह तत्व नहीं हो सकता, बिलकुल ठीक ही है ? तब तो हमारे सब दर्शन गलत हैं, क्योंकि सब में ये महाभूत स्वीकृत हैं। नहीं! ऐसा नहीं है। हमारा भौतिक अप् तत्व पीने का जल नहीं वरन् इस अखिल ब्रह्माण्ड का प्रथम व्यक्त या भौतिक स्वरूप है; जिसे दिव्यशरीर या भौतिकात्मा या सोम या चन्द्र या विश्वकर्मा या परा वाग् या धाता, विधाता कहते हैं, यह वैद्युतीय सर स्वरूपी, भौतिकात्माणुओं का प्रवाही मधूर्मिमान् समुद्र सा है, केवल आत्मा स्वरूपी, सर्वव्यापी विभु, विश्वतोमुख चक्षुपादादि है। परन्तु आपोब्रह्म जिसकी यहां पर व्याख्या की जा रही है; वह इससे भी अनन्तानन्त गुना सूक्ष्मातिसूक्ष्मतम आदि ब्रह्म का सर्वप्रथम विकास रूप महानात्मा है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। आपोब्रह्म आकाश की उच्चतम मेखला बतलावे तो भौतिक अप् पाताल की सर्वतोऽधोऽधोभाग सिद्ध हो जावे। वैदिक दर्शन में आपोब्रह्म; दर्शन के पूर्वार्द्ध का प्रथम विकास है तो भूत नामक अप् उत्तरार्द्ध का प्रथम सप्तक। दर्शन के येही दो भाग हमारे वैदिकों के स्वर्ग और पाताल या नरक है; दृश्य ब्रह्माण्ड में इनका इस रूप में मिलना नितान्त असम्भव है, हां लाक्षणिकतया इन्हें कोई कहीं घटित कर ले, शरीर में, या भावनाओं में, या गोलों में, या पुण्यापुण्य परिस्थितियों में, जैसा कि भागवत में कपिल ने अपनी माता देवहूति से कहा—"इहैव नरकः स्वर्गः" यह लौकिक स्वर्ग-

१—वैदिक और तात्त्विक आपः

नरक है, आध्यात्मिक, दार्शनिक या वैदिक नहीं। महाभूतों का आपः तत्त्व भी सर्वात्मा रूप है, वह परमाणु बनने पर चौथे परमाणु में प्रस्तुत होता है।

अस्तु, अब इस आपोब्रह्म की व्याख्या यथोपलब्ध रूप में दी जाती है। आप चाहे किसी भी ग्रन्थ को उठा कर देखें, चाहे वेदों को लेलें, चाहे ब्राह्मणों को, चाहे उपनिषदों को और चाहे महाभारत, स्मृतियों, पुराणों या अन्य धर्म ग्रन्थों को लेलें, उन सब में आपको सृष्टि के आरम्भ में 'अप्' तत्त्व की उपस्थिति का वर्णन अवश्य मिलेगा। उदाहरणतः वेदों में—सबसे पहले अक्षरब्रह्म के अक्षरो के पिण्ड-रूप हिरण्यगर्भ के जल रूप आपोब्रह्म का वर्णन लीजिए—

२—सभी ग्रन्थों में सृष्टि का आरम्भ अप् से

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥
तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति"॥
(ऋ० वे० १-१६४-४१, ४२)

इनका अर्थ 'ऋचो अक्षरे' और 'गौरी-धेनु' शीर्षकों में देखें। अब नासदीय सूक्त लीजिए—

"तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३ दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसत् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥५॥
(ऋ० वे० १०-१२९-३, ४, ५)

इनकी व्याख्या 'नासन्नोसद्वाद' में विस्तार पूर्वक दी गई है। इन दोनों उद्धरणों में आपोब्रह्म को आदि तत्त्व का प्रथम स्वरूप बतलाया है, ये कामरूपिणी अप् थे, रेतोधारी या अक्षरब्रह्म के अक्षरबीज धारण करने की महिमा से युक्त थे। ऊपर-नीचे अपनी स्वधा से, निराधार से स्वयं-स्वयं में व्याप्त थे। इनमें से रश्मियाँ सी फूट-फूट कर ऊपर-नीचे को निकल रही थीं। इनमें इतना अधिक प्रकाश था कि अन्धकार सा प्रतीत होता रहा। इसी आपोमय, आपोब्रह्म से सप्तसागर रूप सात सप्तक, या सात नदियाँ निकलती हैं; पञ्चपर्वा विद्या में पञ्चसागर तथा पञ्चनदियाँ हैं। इसका समुद्रमय वर्णन इस प्रकार है "ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नोऽविता भव" - (ऋ० वे० ७-९६-५; का० स० १९-१४, तै० सं० ३-१-११-३;

---

* पञ्चभौतिक अप् या जल तत्व अग्निरूप तृतीय तत्व की ज्वाला या दीप्ति है जो सूर्यादि तारों में जलती या चमकती रहती है, उसी की मूर्धन्य कालिमा पृथिवी तत्त्व है। उसी तापरूप अप् से यह भौतिक ब्रह्माण्ड बनता है। अप् अग्निरूप हैं हमारे पीने के जल नहीं। पीने का जल तो पार्थिव है, मिश्रण है।

वा० स० ४-१०-१-१४२)। इन आपः का जन्म केवल एक ही बार होता है जैसे

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद् भूमिरजायत।
पृश्न्या दुग्धं सकृत् पयस्तदन्यो नानु जायते" ॥

(ऋ० वे० ६-४८-२२)

इस प्रकार का यह आपोमय सागर अमृतमय ऊर्मियों वाला और प्राणों को चुवाने वाला है, उससे हमारी रक्षा करो।

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः" ॥

(ऋ० वे० १०-५-१)

यह एक मूलाधार समुद्र सा है, वह अनन्त जन्म लेने वाला एक ह्रद् है (नानारूपों में विकसित होने वाला है)। यह रूप का सिञ्चन करने वाला है और उसके विकासीय धारा के प्रपात के मध्य में सुपर्ण का स्थान निर्धारित है, इत्यादि। सप्तवाद के 'सप्त सिन्धवः' तथा 'सप्तार्णवाः' शीर्षक देखें। 'आपः' सर्वा देवता हैं "आपो वै सर्वा देवताः" (ऐ० ब्रा० २-१६, को० ११-४; तै० ३-२-४६; श० प० ब्रा० १०-५-४-३)

अब ब्राह्मण ग्रन्थों को लीजिए। ब्राह्मण ग्रन्थों ने 'अप्' तत्व की व्याख्या सबसे उत्तम दी है। नवधा सृष्टि के विवेचन में सप्तपुरुषी प्रजापति (प्रथम) ने सर्व प्रथम 'आपः' की सृष्टि की, यह बतलाते हुए सर्व प्रथम आपः की व्याख्या भी बड़े वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत की है। 'आपः' माने वह तत्व है जिसमें सर्व बीजात्मायें समायी हुई है इसी 'अप्' शब्द से 'आत्मा' शब्द भी निकलता है, जिसमें आप्तता है, विश्वस्तता है, धैर्य से विना सन्देह के, जिसमें भरोसा किया जा सकता है, जिसको निश्चित आधार पर माना जा सकता है, जो संरक्षण के लिए चारों ओर से व्याप्त होकर चौकन्ना रहता है, वह है 'अप्; या स्वयं सा या आत्मा या 'वारि,। यह आपः या आत्म वास्तव में वाग् या वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है या ब्रह्म की पत्नी या ब्रह्म की प्रथम आधेयात्मा है। ये अप् ब्रह्म के प्रथम-प्रथम या अग्र-अग्र विकास होने से 'अग्नि' भी कहलाते हैं। इन 'आपः' 'आत्मा, या अग्नि की उत्पत्ति ब्रह्म रूप प्राणों से होती हैं। जैसे "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत भूयान्त्स्यां प्रजायेय इति····ब्रह्मैव प्रथममसृजत,·······सोऽपोऽसृजत, वाच एव लोकाद् वाच एवास्य सासृज्यत-सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किंच तस्मादापो यदवृणोत्तस्माद्वाः" ॥ इसका समर्थन (गो० पू० १-२) इस वाक्य से करता है "आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्याभि यदिदं किञ्च तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति वै"।

३—ब्राह्मण ग्रन्थो में आपः की व्याख्या

इसी (अप) से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है जैसे 'सोऽकामयत। आभ्यो ऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्तत आण्डं समवर्तत'। उसी से अग्नि का जन्म होता है जैसे 'अथ यो गर्भोन्तरासीत्सोऽग्निरसृज्यत स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत् तस्मादग्निरग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षं परोक्षऽकामा हि

देवाः"। इत्यादि (श० प० ब्रा० ६-१-१-१० से ११ तक)। इस प्रकार नवधा सृष्टि का ही नाम गायत्री ब्रह्म भी है "सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायत्यदगायत्तस्मादग्निर्गायत्र इति·· गायति वैव गीते वा रमते (गायत्री) (वहीं १५)। यह इतना अधिक प्रचलित मार्ग था कि पुनः श० प० ब्रा० ६-१-३-१ में इसी बात को स्पष्टतया दुहराते हुए लिखा है "प्रजापतिर्वाऽइदमग्र आसीद्। एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानादापोऽसृज्यन्त तस्मात्पुरुषात्तप्तादापो जायन्ते"। इसी प्रकार का वर्णन अन्य ब्राह्मणों में भी मिलता है जैसे ऋ० वे० (१०-१९०) ने लिखा है "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥१॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ कि ऋत और सत्य नामक तत्त्व, उस ब्रह्म के तप से निकले, उससे समुद्र (आपः), उससे संवत्सर प्रजापति, उससे अहोरात्र नामक दो भाग (दर्शन के) और इनसे भौतिक सृष्टि आगे चलाने के लिए उत्तरार्द्ध में सूर्याचन्द्रमसौ नामक धाता-विधाताओं की रचना हुई, जिन्होंने इस भौतिक ब्रह्माण्ड की मौलिक रचना यथापूर्व निश्चित रूप रेखा में प्रस्तुत कर दी। इन अप् को स्त्री या ब्रह्म की स्त्री या वाग् या वाग्ब्रह्माणी कहा है तथा इनका स्वरूप वज्र या वैद्युतीय या मधुवैद्युतीय, और वह भी श्री या कान्ति रूप, शिर रूप, वैद्युतीय शोभा सी कही गई हैं जैसे "वज्रो वाऽआपः" "श्रीर्हि वै शिरः" इत्यादि (श० प० ब्रा० १-१-१-१७; १-२-३-२०; १-४-१-५; १-५-३-८ इत्यादि) इस अप् या वाग् को पुल्लिङ्ग में शब्द ब्रह्म या पुरुष या प्रजापति भी कहते हैं। 'प्रजापति' शीर्षक देखें।

उपनिषदों में बृहदारण्यक ने अपने ग्रन्थ का आरम्भ ही इसी आपोब्रह्म की चर्चा से किया है जिसका भाव प्रायः उसी प्रकार का है जैसा कि श० प० ब्रा० और तै० ब्रा० के पूर्वोद्धृत उद्धरणों (१-१-३-१) में मिलता है जैसे "नैवेह किञ्चनाग्र आसीद्। मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया-शनाया हि मृत्युः (अहोरात्राभ्यां) तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति, सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्त अर्चते वै मे कमभूदिति। तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद। आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत"। "यहां पर मृत्यु' रूप स्थिति अशन और अनशन से या उत्तरार्द्ध-पूर्वार्द्ध के भागों के संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्र रूपों का विवेचन देती है। उस समय दोनों नहीं थे, दोनों की मृत्यु रूप अवस्था थी, जिनका लय अहोरात्रों की समाप्ति से हो चुका था। तब उस स्थिति से सर्वप्रथम आपोरूप वाग्ब्रह्म उत्पन्न हुआ जो उस ब्रह्म का अर्क सा 'अपांसर' या वैद्युतीय किरण प्रवाह रूप था, जिसको दूसरे सीधे शब्द में 'अग्नि' भी कहते हैं। उत्तरार्द्ध में यही 'शम्' नामक प्रजापति कहलाता है। ऐतरेय उपनिषद (१-१, २) ने इसका विवेचन निम्न पंक्तियों में दिया है, "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन

४—उपनिषदों में अप् की व्याख्या

मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥ स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवम्। द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरः या अधस्तात्ता आपः। स ईक्षेतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद् वाग्। वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येताम् अक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत। त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत। हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत। नाभ्या अपानः। अपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत। शिश्नाद्रेतः। रेतस आपः॥ "ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्" ॥ इत्यादि। यहाँ पर जो सृष्टिक्रम है, वह सब इन्हीं जल देवियों के गर्भ से पूर्व मौलिकावस्था में अक्षरब्रह्म के बीजाक्षर रूप में वर्णित किया गया है। आगे इनका विकास ठीक इसी क्रम से उत्तरोत्तर होता जायगा। यहाँ पर ये सब आपोरूप (महत्यर्णवे) महान् समुद्र के गर्भ में मछलियों की तरह तैरने लग गये हैं जो क्रमशः अपनी-अपनी भूमि (स्थान) में पूर्ण विकसित होकर क्रमशः उतरने लगेंगे। श्वेताश्वतर ने इसका वर्णन इस प्रकार दिया है।

"एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ॥
(६-१५)

यहां पर हंस नामक आदि पुरुष को जिस भुवन के मध्य में सलिल निविष्ट बताया है। वह भुवन भौतिक ब्रह्मलोक है जिसे नृषद् नाम से या पवित्रतम सदन या सभा या निवास या 'परमं पदं' कहते हैं जैसे "हंसः...नृषद्" (ऋ० वे० ४-४०-५)

"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि" ॥
(ऋ० वे० १-१५४-६)

यहाँ पर इन आपोमय ब्रह्म की किरणों या अक्षरब्रह्म के अक्षरों को 'भूरिशृङ्गा गावः' अनेक सींगों वाली गायें बतलाते हुए उनके गोष्ठ को विष्णु का परम पद कहा है। यही मथुरा या मधुरा है जो तीन लोक से न्यारी, अनन्त गायों वाली है। मथुरा माने जो उर या हृदय का मन्थन कर के नवनीत रूप अमृत निकालती है और मधुरा माने जो उरों में मधु या अमृत सींच देती है। यह है आपोब्रह्म। मुण्डक और नारायण उपनिषदों ने उक्त कथनों की पुष्टि में लिखा है "अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः"। (२-१-९)। जिन ग्रन्थों ने 'सलिल' शब्द का प्रयोग किया है उनका आशय आपोमय शरीर से है, सलिलं=सरिर=शरीरं =श्रीः="प्राणाः श्रियोऽथ यत्सर्वमस्मिन्नात्मन्नश्रयन्त तस्माद् शरीरम्। स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्"। (श० प० ब्रा० ३-१-१४,५ और गर्भोपनिषद्) अप् का जन्म अश्मा से (अश्रु से) बतलाया है (श० प० ब्रा० ९-१-१-४)। तप्त पुरुष से इनकी उत्पत्ति होती है (श० प० ब्रा० ६-१-३-१)। १७ प्रकार के अप् है (श० प० ब्रा० ५-३-४-२२) नाम प्राणों का है (तै० ३-२-५-२; ताण्ड्य ९-९-४, श० प० ब्रा० ३-८-२

४, जै ९-३-१०-९)। ये अप् अमृत हैं (ऐ० ब्रा० ९-२०; श प ब्रा० ३-९-४-१६; कौ १२-१)। ये आपः उत्स हैं, शान्ति हैं, भेषज हैं, ओषधिरस हैं, रस हैं, सत्य प्रतिष्ठित हैं, श्रद्धा हैं, मेधा हैं, अन्न हैं, वज्र हैं, वीर्य हैं, अर्क हैं, देवी हैं, यज्ञ हैं, रेतस् हैं, तेज हैं, सर्वा देवता हैं, वरुण की पत्नियाँ हैं, चतुर्थ लोकीय हैं, योषा हैं; इसे विभिन्न ब्राह्मणों ने विभिन्न रूप से सर्वतोमुखी व्याख्या में लिखा है।

आपोदेवता या आपोदेवी--आपोब्रह्म के बारे में एक दूसरा भ्रम भी विद्वानों के मन में बैठा रह गया है। वे आपोब्रह्म तथा अपोदेवता या आपोदेवी को एक ही वस्तु समझते हैं। पर इन दोनों में भी वही आकाश-पाताल का अन्तर है जिसकी चर्चा इसी प्रकरण में पहिले की जा चुकी है। बात यह है कि आपोब्रह्म के सप्तकों के अनुसार सात सागर माने गये हैं तो पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार पाँच ये हैं

५ – पञ्च या सप्तसागर

"इक्षुनीरघृतं चैव पयो दधि मधुस्तथा।
लवणं सप्तमं ज्ञेयं सागराःसप्त कीर्तिताः" ॥

(१) ईख के रस का (२) जल का (३) दूध का (४) दधि का (५) घी का (६) मधु का (७) नमक का। इनका उचित क्रम यह होगा दूध, दही, घी, मधु, नीर, इक्षु और लवण पञ्च सागरों में (१) जल का (२) दूध का (३) दही का (४) घी का (५) मधु का। छान्दोग्य उपनिषद् (१-३-५-६, ७-८-९-१०) ने इन्हें पञ्चामृत नाम से पुकार कर इनका विभाजन क्रम से वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ऋषयों में किया है। प्रथम अमृत वसुओं का, द्वितीय रुद्रों का, तृतीय सोम या अग्नि का, चतुर्थ मरुतों का, पञ्चम साध्यों का है। इनको क्रम से पयस्, आहुति, आज्याहुति, सोमाहुति, मेदाहुति और मध्वाहुति भी कहते हैं। इनका प्रथम आपोब्रह्म है और मध्यवर्ती सागर सोम या मधु सागर है। सोम सागर ही का नाम मधुसागर या आपोदेवता सागर या आपोदेवी सागर है। यहाँ मधु नाम अमृत का है शहद का नहीं। शहद को तो कर्मकाण्ड में अभिनय करने मात्र के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इक्षु सागर ईक्षतेऽधिकारी सागर है, पयस् सागर खंब्रह्म है, दधि और घृत प्राण सागर हैं। लवण सागर रसमय सागर है, जलसागर स्वयं आपोब्रह्म भी है, आपोदेवी सागर भी है। ये सागर विभिन्न सप्तकों में भी हैं, एक में सब भी हैं, जिस प्रकार की वर्णना हो वैसा समझना चाहिए। ये सब ब्रह्म की नाना रसमयता का या रस ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। सातों सागर सोम के भी हैं, मधु के भी, पय के भी, घृत के भी, नीर के भी, इक्षु के भी, लवण के भी, और दूध के भी। अतः "पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे" इत्यादि मन्त्र में सभी सप्तकों में पयस् सागर की भावना की गई है तो "मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नःसन्त्वोषधीः॥ मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः"। में सब देवताओं में मधु सागर की लहरें उमड़ती रहने की प्रार्थना की गई है।

आपोब्रह्म का सागर पूर्वार्ध का प्रथम सप्तकीय सागर या प्रथम पञ्चकीय सागर है तो आपो देवता या आपो देवी का सागर उत्तरार्द्ध का प्रथम सप्तकीय या प्रथम पञ्चकीय सागर है जो आदि के सप्तकों में चतुर्थ सागर है, तो पञ्चकों में तृतीय सागर है। यह सोम सागर है, मधु सागर है, अतः लिखा है "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" (कौ० १८-२)। अतः सोम का धाम तुरीय और तृतीय दोनों बतलाये गये हैं जैसे "अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति" (९-९६-१९)। "तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्" (ऋ० वे० ९-९६-१८)। यहाँ पर स्पष्ट लिखा है कि सोम विराट् छन्दसम्बन्धी १०, १० के तत्त्वों के पाँच गुच्छों में से तृतीय धाम या पञ्चक का निवासी है। यह सोम सागर या मधुसागर सुपर्ण का सागर भी है। सोम मधु भी (अमृत भी) है, सुपर्ण भी है। अतः लिखा है कि एक सुपर्ण था वह समुद्र में प्रविष्ट होकर अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करने लगा जैसे—

६—आपोब्रह्म और आपोदेवी के सागरों के स्थानों का अन्तर

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्" ॥
(ऋ० वे० १०-११४-४)

यहाँ पर इस समुद्र के, आपोदेवताओं या देवियों को सुपर्ण की माता के नाम से पुकारते हुए लिखा है कि यहाँ पर माता उसे चाटती या प्यार करती है तो पुत्र (सुपर्ण) माता को चाटता या प्यार करता है, और कहा है कि इस तथ्य को परिपक्व दार्शनिक ज्ञान से, और इस परिपाक को प्राप्त कर इस सुपर्ण को हृदय में देखने का यत्न करो (इन आपोदेवियों का वर्णन 'आपोदेवता' शीर्षक में पृथक् किया गया है, वहीं देखें)। यजुर्वेद (१३-३८-३९; १७-८९) तथा नारायणोपनिषद् (५-४०) में उक्त सन्दर्भ के अनुकूल वर्णन करते हुए इसमें रहस्य और कार्य पर वैज्ञानिक प्रकाश डाला है। यह इस चतुर्थ सप्तकीय या तृतीय पञ्चकीय सोमसागर और आपोदेवियों का ऐसा महत्त्वपूर्ण परम वैज्ञानिक वर्णन है जो ऋ० वे० ४।५८।६ के सूक्तों में दिये गये आपो देवताओं के वर्ण्य विषय की भूमिका सी है। जैसे "ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः (अन्नं सोमो वा)। अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः घृतस्य धारा अभिचाकशीमि। हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्त्सुपर्णो घृतमत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः। तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्" ॥ कि उस सोम सागर में ऋचाओं के या पूर्वार्द्धीय अक्षरों के (ऋचो अक्षरे देखें) समिधों या प्राणों की नदियाँ अन्नरूप भौतिकात्मा के स्वरूप में निर्झरित होती हैं। यह अन्तर्हृद या आभ्यन्तर जगत् है, और उन घृत या प्राणों की धाराओं को भीतर शुद्ध मन से अनुभूत करता हूँ। इस प्राण सागर या सोम सागर या भौतिकात्मा के हिरण्यगर्भ के भीतर प्राणमय घोंसले में वह सोम नामक सुपर्ण अन्य देवताओं या विश्वेदेवताओं को मधु या सोम बाँटता रहता है (गरुड़ का अमृत लाना देवताओं को बाँटना रूपान्तरीय कथा है)। इसके किनारे सात अन्य प्राण रूप अश्व

या ऋषि हैं जो इस सोम सागर की स्वयं धारित की हुई अमृत या सोम की धाराओं का दोहन करते रहते हैं। इस सप्तक में सभी देवता सोम का दिव्य शरीर पा जाते हैं। यही उनके लिए अमृत या मधु बाँटना या अमृत दुहना कहलाता है।

अब ऋग्वेद के उक्त दो सूक्तों में आये आपोदेवियों का वर्णन देख लीजिए।

७—आपोदेवियों का वर्णन

"परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥
तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः"॥
(ऋ० वे० १०-८२-५, ६)

पूर्वार्द्ध से परे (दिवा पूर्वार्द्ध) और पृथिवी या उत्तरार्द्ध से परे, द्यावा पृथिवी है। अतः पूर्वार्द्ध के देवताओं तथा उत्तरार्द्ध के भौतिक बहुल असुरों से पृथक् अर्थात् इन दोनों के मध्यवर्ती स्थान पर, आपो देवियों ने कं नामक प्रजापति को गर्भ (हिरण्यगर्भ) में धारण किया (हिरण्यगर्भ का अण्डा यही परिपूर्णता को प्राप्त होता है)। अतः इस प्रजापति के गर्भ में आ जाने से सब देवता अपने भौतिकात्मा के मौलिक स्वरूप में दीखने लगे। "जब आपो देवियों ने उस (तम्) कम् प्रजापति को धारण करके विश्वे देवताओं को भौतिकात्मा का मौलिक स्वरूप प्रदान करा दिया तब तो उस परमब्रह्म की इस नाभि या मध्यवर्ती तत्त्व में अखिलब्रह्माण्ड के अनन्त लोक भी (मौलिक स्वरूप को प्राप्त हो गये या) उसमें मौलिक रूप में विराजमान दीखने लगे। *

जब उक्त मौलिकात्मा रूपी भौतिकात्मायें उस सोम सागर में व्यक्त होकर प्रस्तुत हो गईं तब उसी भौतिकात्मा का प्रतिपक्षी आसुरी भौतिकात्मा वृत्र का उदय भी साथ-साथ हुआ। देवताओं की भौतिकात्मा सोम या चन्द्रमा तत्त्व का दैवी स्वरूप है। वह तब तक स्थिति में ही नहीं आ सकता जब तक उसमें आसुरी भौतिकात्मा का पुट न मिल जाय। यह आसुरी भौतिकात्मा, दैवी भौतिकात्मा का खोल है, शरीर है, आधार है, यद्यपि दोनों भौतिक हैं, पर दैवी भौतिकात्मा अमृत है, सोम है, चन्द्रमा है, एक है, और आसुरी भौतिकात्मा मर्त्य है; पृथक् या विभक्त है, विष है, वृत्र है, असुर है, यह दृश्यब्रह्माण्ड सब उसी का परिवर्द्धित स्वरूप है, परिवर्तन शील है (वृत्र देखें)। इसका सर्व प्रथम उदय रज, या रेणु रूप में हुआ जैसेः—

८—भौतिकात्मा और आसुरी खोल

---

* जो भाव इन ऋचाओं में निहित है वही हिरण्यगर्भ सूक्त के निम्न दो मंत्रों में तत्त्वों के दूसरे नाम से वर्णित मिलता है जैसे "आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम" "यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्। यो देवेष्वधि देव एक आसीद्···,(१०-१२१-७-८) यहां पर असु नामक तत्त्व रेणु है" अग्नि या यज्ञ या दक्ष प्रथम गर्भ है जिससे यह रेणु निकला।

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत" ।।
"यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन" ।।
(ऋ० वे० १०-७२-६, ७)

जब उक्त देवता अपनी भौतिकात्मा के दैवी स्वरूप के सागर में संक्षुब्ध हुए तब उस संक्षुब्ध भौतिकात्मा के दैवी सागर से एक रेणु या रज का उदय हुआ। वह बड़ी तीव्रता के साथ नाचता सा प्रतीत हुआ। तब देवताओं ने अखिल आसुरी भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना के लिए ग्रहणग्रस्त सूर्य के समान प्रजापति (कम्) का स्वरूप धारण किया ('सूर्य' शीर्षक देखें)। यह रज या रेणु उस दैवी भौतिकात्मा के सामने राई के दाने के बराबर रहा। इस लोक से देखने या समझाने वाले आर्य दार्शनिकों ने इस स्थिति का वर्णन दिखला कर उस स्थिति का जहाँ तक हो सके उचित वर्णन दिया है। इतना छोटा होने से यह अखिल ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म का एक अंश कहलाता है "एकांशेन स्थितो जगत्" (गीता १०-अन्तिमश्लोक) "इमा गिर आदित्येभ्य......वरुणो दक्षो अंशः" (ऋ० वे० २-२७-१) वरुण और दक्ष से ही भौतिकात्मा का उदय होता है; वे अंश रूप हैं, (दक्ष-क्रतू और मित्रावरुणौ देखें)।

आज के वैज्ञानिक युग में इस रजस् या रेणु नामक एक अंश का क्या प्रमाण माना जाना चाहिए यह कठिन नहीं रह गया है। अमेरिका के आधुनिकतम नोबेल पुरस्कार विजेता डा० ग्लासेर ने 'फेन प्रकोष्ठ' (Bulbe chambar) नामक यन्त्र द्वारा प्रोटोन (परमाणु के मूलभाग) के ३० भाग करके उसके फेन या बुलबुले के प्रवाह के चित्र अङ्कित कर लिए हैं। पर अभी इसके ३० नहीं ७२० भाग किये जाँय और उन ७२० को चार अरब बत्तीस करोड़ भागों में विभक्त किया जाय तब जो उसका चार अरब बत्तीस करोड़ अंश होगा उसे इस रजः या रेणु का समकक्ष कहा जा सकेगा। क्योंकि ये आत्मायें हैं। सम्भवतः इनके चित्र न उतरें पर कौन जाने, इन सबसे उत्पन्न फेन लहरियों का चित्राङ्कन सम्भव हो जाय।

९—आधुनिक युग और भौतिकात्मा

कौन कह सकता है कि जब श० प० ब्रा० (६-१-३-१ से ६ तक) उक्त आपो देवताओं से भौतिक सृष्टि का विकास क्रम देता है वह सम्भवतः आज के वैज्ञानिकों की खोज से मेल खाले। वह क्रम यह है कि प्रजापति (कम्)—आपः (त्रिपादमृत)-फेनं (प्रथम भौतिकात्मा का आभास)-मृद (दैवी भौतिकात्मा)-सिकता) आसुरी भौतिकात्मा-अबतक सब एक या अविभक्त हैं)-शर्करा (आसुरी भौतिकात्मा विभक्ताविभक्त)-अक्षरा (प्रटोन के चार अरब बत्तीस करोड़ मुखी सर्वतो मुखी प्रवाह) —[लोकों का मौलिक स्वरूप, पारिवारिकों का मौलिक स्वरूप-वैक्तिकों का मौलिक स्वरूप (महत्)—परमाणु (अहंकार)—पञ्चगुण विवर्त (एक गुणी, द्विगुणी, त्रिगुणी,

१०—आपोब्रह्म का विकास क्रम

चतुर्गुणी, पञ्चगुणी क्रम से)–पञ्चेन्द्रियाँ रसमय···पञ्चगुणी महाभूत—व्यक्त ब्रह्माण्ड का महा हिरण्यगर्भ –विस्फोट—यथापूर्वक्रम से नव सृष्टि निर्माण·············] बड़े कोष्ट के अन्तर्गत वैदिक दर्शन से प्राप्त सामग्री के आधार पर है 'ऋचो अक्षरे' और 'अङ्क निर्देश से तत्त्व निर्णय' देखें।

यहां पर जिस अंश रूप भौतिकात्मा के रजस् या रेणु रूप की व्याख्या दी जा रही थी; उसका नाम दैवी रूप में सोम या चन्द्रमा है तो आसुरीरूप में वृत्र। इन दोनों से यानी दैवी, आसुरी आत्माओं से अप् चूता है, टपकता है, और बरसता है। अतः इनके इस स्वरूप को वैदिकों में 'पर्जन्य' नाम दिया है। सोम से पर्जन्य, वृत्र से 'अप्' प्रवाहित होते हैं। येही चतुर्थ सप्तकीय सागर को प्रस्तुत करते हैं। "वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार" (ऋ० वे० १-३२-११)। इसलिए इन आपः का नाम अन्नं या सोम भी है जैसा कि श० प० ब्रा० (२-१-१-३) लिखता है "अन्नं हि वा आपः" बृह० उप० और वेन सूक्त इनको 'अपां सरः' अपां संगम वैद्युतीय उर्मी या विद्युत् का तार कहता है

११—रेणु और सोम

"अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपाँ संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति"॥
(बृह० उप० १-१-१, २ ऋ० वे० १०-१२३-१)

इनके विद्युत् किरणों का नाम सूर्यशिशु दिया है। इन भौतिकात्मा रूप अप् को श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-१३) और भगवद्गीता 'मोहकलिल' नाम से पुकारती हैं। यह त्रिपादमृत के लिए मोह या अज्ञान या अविद्या का पर्दा बनाता है जैसे:—श्वे०

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"॥

यहाँ पर भी इस तत्त्व को वृणोतीति वृत्रः की तरह विश्वस्य परिवेष्टितारं कहा है। गीता लिखती है

"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च"॥ (२।५२)

यही कलिल सागर, रज सागर या रेणुसागर या चतुर्थ सप्तकीय है।

विष्णु पक्ष में यह सोमसागर, पयस् सागर या क्षीर सागर कहलाता है उसको शेषशय्या में सोया कहते हैं। शेषनाग वृत्ररूप अहि वही आसुरी भौतिकात्मा का शरीर है उसमें दैवी आत्मा का निवास विष्णु शयन है। दोनों व्यापक हैं उनकी वही व्यापकता सागर है जिसमें आसुरी व्यापकता के ऊपर दैवी व्यापकता सोई हुई कही जाती है। कम् स्वयम् दैवी आत्मा विष्णु है, कमला उनकी वाग् ब्रह्माणी है, कम् से लगी हुई (कस्य लग्ना कमला), कम् से अभिन्न वाग् कमला है। शेष के सिर में पृथिवी का भार माने आसुरी भौतिकात्मा के सिर में भौतिक सृष्टि निर्माण का भार है, भौतिक सृष्टि इसी से आगे चलती है न कि विष्णु आदि

१२—आपोदेवी और पौराणिक विष्णु

से। वे तो प्रेक्षक या निर्देशक या संचालक हैं। पृथिवी का भार माने भौतिक सृष्टि निर्माण का भार है इत्यादि। ये सब व्यापक तत्त्व हैं; उनका निर्देश पृथक्-पृथक् नामों से किया है; वास्तव में सब एक दूसरे में व्याप्त हैं। विष्णु का शयनागार सागर यही चतुर्थ सप्तकीय मधुसागर है जिसे विष्णु पक्ष में पयस् सागर कहते हैं। अप् माने और आपोब्रह्म माने वैद्युतीय व्यापक ब्रह्म है जो दो प्रकार का है। आध्यात्मिक त्रिपादमृत रूपी पूर्वार्द्धीय और भौतिकात्मामय उत्तरार्द्धीय। दोनों के संयोग से या मिलन या विकास से इस अखिल ब्रह्माण्ड की क्रमिक उत्पत्ति होती है। यज्ञ नाम प्रत्येक तत्त्व का है पर दक्षक्रतू नामक तत्त्वों के अनुसार शतक्रतु के अनुसार सौवां क्रतु ३१वां तत्त्व भी मुख्य क्रतु यज्ञ कहलाता है। इससे इस चतुर्थ सप्तकीय आपो-देवियों का रस रूप में प्रस्तावित होना भी इस प्रकार लिखा है "यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽछिद्यत तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनेवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसं स्यन्द-मानं मन्यते" (श० प० ब्रा० ३-७-३-१)। पौराणिकों ने इसी यज्ञ के शिरोच्छेद को रुद्र से दक्ष के शिरोच्छेद की कथा दी है दक्षक्रतू ही यज्ञ या दक्ष है। उसी से इस आपो रूप रस ब्रह्म की उत्पत्ति होती है। यह २४वां तत्त्व है; जब इसका विकास ३१ वें में 'अजा' रूप में होता है तो कहा जाता है कि दक्ष के शिर में अजा का शिर लगा दिया। सब कथायें नितान्त वैज्ञानिक हैं।

अध्याय २२

चतुष्पाद्ब्रह्म और चारवर्ण

ब्रह्म तो है, उसके न कोई पैर है, न हाथ, जैसा कि अपाणिपादो जवनो ग्रहीता आदि वाक्य से स्पष्ट है। ऋ०वे० स्वयं लिखता है "अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः" ॥ (१०-९९-४) और "अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत" ॥ (१-१५२-३) तब ब्रह्म को चतुष्पाद् क्यों कहा गया है, सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है। वास्तव में मूलपुरुष आदि ब्रह्म 'अपाणिपाद' ही है। परन्तु इस अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि की आदि की विकास परम्परा में ५० तत्त्व या ५० श्रेणियाँ हैं। वे सब एक-एक करके ब्रह्म के उत्तरोत्तर विकास ही हैं। अतः प्रत्येक तत्त्व ब्रह्म ही कहलाता है। यद्यपि उनके पृथक्-पृथक् नाम भी हैं जो पृथक्-पृथक् देवता, ऋषि, समुद्र, पर्वत, नदी, पुरुष, पक्षी, पशु आदि के नामों से चुनकर रखे गये हैं। इनके (५० तत्त्वों या ब्रह्मों या देवताओं आदि के) अनेक प्रकार के स्थूल विभाजन किये गये हैं जिससे समझने और समझाने में बहुत सरलता हो जाती है। इन स्थूल विभाजनों का विवेचन "वैदिक दर्शन के तत्त्व निर्णय" नामक प्रकरण में विस्तार पूर्वक दिया जा चुका है। इन सब सरणियों में वैदिकों ने अपनी अत्यन्त प्यारी सरणि और सर्वश्रेष्ठ सरणि छान्दस दर्शन को अपनाया है। "वैदिक दर्शन के तत्त्व निर्णय का मूलाधार-छान्दस दर्शन" नामक शीर्षक में पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। छान्दस दर्शन की सरणियों में भी वैदिकों को जितनी प्यारी गायत्री छन्दोमय ब्रह्म की सरणि है, उतनी विराट् को छोड़कर अन्य नहीं। वैदिकों की दूसरी प्यारी सरणि है ब्रह्म को अग्नि यज्ञ या पुरुष संवत्सर नाम से वर्णित करना। इन वैदिकों ने अपने इन दोनों प्यारे तत्त्वों का परस्पर विवाह कर दिया है। अतः अग्नि यज्ञ या पुरुष या संवत्सर गायत्री का पति कहलाता है। "गायत्रो वै पुरुषः" (ऐ० ब्रा० ४-१-३) और 'अग्नेर्गायत्र्यभवत्' (ऋ० वे० १०-१३०-४)। और इन दोनों के सम्मिलन से, अग्नि या यज्ञ या पुरुष का वर्णन गायत्री के शरीर से किया जाता है। ब्रह्म या अग्नि या पुरुष या यज्ञ का कोई शरीर ही नहीं है, उसका वर्णन कैसे हो सकता है ? अतः उसको गायत्री के पात्र में, शरीर में, व्याप्त मानकर उस ब्रह्म या पुरुष या संवत्सर या अग्नि या यज्ञ का वर्णन गायत्री के अङ्गप्रत्यङ्गों के द्वारा किया जाता है। यह सबको विदित होगा कि गायत्री के तीन पाद होते हैं, प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। यह २४ अक्षर रूप तत्त्वों की गायत्री या गायत्री ब्रह्म या दोनों, दर्शन के पूर्वार्द्ध कहलाते हैं। इतने ही पाद या अक्षर उत्तरार्द्ध में भी होते हैं। इस प्रकार इसको षड्विधा गायत्री कहते हैं। वैदिकों के ३३ देवताओं का स्थान गायत्री के चार पदों में या आनुष्टुभी गायत्री में पूर्ण होता है। अतः इस दृष्टिकोण

१—छन्दोदर्शन द्वारा वैदिक दर्शन

से इन ३२ या ३३ तत्त्वों को चतुष्पदा गायत्री कहते हैं जैसा कि छान्दोग्य (३-१२) लिखता है—"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री"। गायत्री के इन चार पदों या पादों के पति रूप पुरुष, यज्ञ और अग्नि को ही चतुष्पाद्ब्रह्म कहते हैं; येही चार वर्ण हैं। विराट् व्याख्या में कुल ५० तत्त्वों में विराट् के पांच पाद (१०, १० के) होते हैं उनके अनुसार ब्रह्म को पञ्चपाद कहते हैं "पञ्चपादं पितरं" (ऋ० वे० १-१६४-१२)। इन्हीं को पञ्चसागरीय व्याख्या में पञ्चामृत कहते हैं, 'आपो-ब्रह्म और पञ्चचक्रीवाद तथा सोम देखें'। अब इनका एक-एक करके पृथक्-पृथक् विवेचन लीजिए।

२—देवताओं के पादादि छन्दों ही के पाद हैं

छन्द प्रायः चतुष्पाद् होते हैं: यद्यपि गायत्री त्रिपाद् ही है पर यह अधिक पादों की भी है, इसे गायत्री चतुष्पदा भी कहते हैं। यही चतुष्पदता या चतुष्पादता इसको या यज्ञ, पुरुष, अग्नि, संवत्सर आदि को पशु नाम से पुकारने को बाध्य करती है। और जहाँ-जहाँ चतुष्पाद् या त्रिपाद् या द्विपाद् या एकपाद् का विवेचन आता है वहां निश्चय पूर्वक गायत्री के ही पादों का वर्णन समझना चाहिए क्योंकि यह बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध सरणि है। इन चार पादों की चतुष्कलता को चार जन्म रूप में मानने वाले ऐतरेय आरण्यक का उद्धरण लीजिए "पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः-सम्भूतमात्मानमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद् यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म। ता स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यै तमात्मानमत्रगतं भावयति सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्रीगर्भं बिभर्ति सोऽग्रएव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेधिभावयति आत्मानमेव तद्भावयति एषां लोकानां सन्तत्या एव सन्तता हीमे लोका तदस्य द्वितीयं जन्म। सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इत प्रयत्नेन पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म तदुक्तमृषिणा 'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्" (ऋ० वे० ४-२७-१), इति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच"॥ (२-२४) यहाँ पर हिरण्यगर्भ के गर्भ में पादरूप का विकास है, उसका प्रथम विकास उसकी स्त्री जैसा बन जाता है, विकास आकाशात्मा या खंब्रह्मरूप आत्मा है। यह विकास अष्टधा होता है जिसका विवरण आगे दिया जायेगा। फिर यह अष्टधा आकाशात्मा अपने अष्टमी स्वरूपिणी माता के गर्भ से पुनः द्वितीय आत्मा को जन्म देती है इसे कुमार या रुद्र कहते हैं। यह ब्रह्म का द्वितीय जन्म है, इसे जीवात्मा या अन्तरात्मा कहते हैं। फिर इससे इतर या तृतीय आत्मा का रूपात्मा में जन्म होता है। यह ब्रह्म का तृतीय जन्म है। इसी भाव को उल्लिखित ऋचा "गर्भेनु ''निरदीयम्" व्यक्त करती है। इस रूपात्मा से बाद में भूतात्मा का अभ्युदय होता है। छान्दोग्य उपनिषद् ब्रह्म के इन चार विकासों को दिशा रूप में चतुष्कल ब्रह्म कहता है—

"प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः" (४-५-३)। इसमें जो दिशायें दी हैं; उस सप्तसप्तक को रथ या चक्र मान कर उसकी दिशायें पादों में वर्णित की गई हैं। वैदिकों की यह भी अपनी एक प्रधान प्रचलित शैली है।

ऐतरेय के उक्त कथन की पुष्टि बृहदारण्यक दो ढंग से करता है "स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां...अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्। ततो मनुष्या अजायन्त"। (१-४-३)। यहाँ पर ब्रह्म को पहिले भय लगा और द्वितीय सहायक की इच्छा हुई तो अर्द्धनारीश्वर बन गये, उनसे पति और पत्नी, ब्रह्म और जीवात्मा बन गये, इन दोनों से मनुष्य-रूपात्मा उत्पन्न हुये। रूपात्मा से भूतात्मा की चर्चा यहीं पर गो, वृषभ, अश्व, रासभ की विवेचना से कर रखी है। चतुर्थात्मा का विवेचन, १-२-३, ४, ५, में 'स त्रेधात्मानं व्यकुरुत' कह कर करते हुए, 'अन्नं करिष्ये' लिखकर दे दिया है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहते हुए लिखा है "अथातः सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन् मन्यतेऽथ पुत्रमाह (कुमारं रुद्रं प्राणात्मानं) त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति।...प्राणैः सह पुत्रमाविशति...पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति। अथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति"॥ (१-५-१७)। यहाँ पर अक्षरब्रह्म, अन्तरात्मा को पुत्र और ब्रह्म कहता है, वह प्राण द्वारा पुनः पुत्र की उत्पत्ति करते बतलाया गया है, यह रूपात्मा का प्रतिनिधि है। उक्त चतुष्पाद् ब्रह्म की स्थिति हमारे शरीर में इस प्रकार बताई गई है, ब्रह्म मस्तिष्क में, अन्तरात्मा कण्ठ, फेफड़े में, रूपात्मा हृदय में और भूतात्मा नाभि में है जैसे:—

३—अवस्थाओं, वेदों, अंगों और देव विभागों से चतुष्पाद्

"अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्द्धा च।
तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्"॥
ब्रह्मोपनिषद्

अथर्व शिखोपनिषद् चारों वेदों को ऋग्स्वर, यजु, अन्तःस्थ, साम, ऊष्माण, अथर्व पञ्चवर्गों को क्रम से चतुष्पाद् कहता है, साथ में ॐकार के चार भाग करके उन्हें ब्रह्म के चतुष्पाद् कहता है और प्रत्येक पाद को क्रमसे रक्त, पीत, कृष्ण, शुक्ल, सर्ववर्ण बताते हुए सभी को विद्युन्मय बतलाता है (१-१) नृसिंह तापिनी उपनिषद् अवस्था भेदों से (जाग्रत्, सुषुप्ति, स्वप्न, तुरीय) 'अयमात्मा ब्रह्म चतुष्पाद्' कहता है (१-२) नृसिंहोत्तर तापिन्युपनिषद् भी इसी ढंग से 'सोयमात्मा चतुष्पाद्' कहता है। वही आगे चलकर इस चतुष्पाद् शब्द के बदले 'चतुरात्मानं' का प्रयोग करता है (१-२) फिर नृसिंहतापिनी उपनिषद् की शैली में देवताओं के अनुसार (वसु, रुद्र, आदित्य) से पादों की वर्णना दी है। ये दोनों पुरुष को १९वाँ तत्त्व या एकोनविंशतिमुख कहते हैं जिसकी पुनरावृत्ति नारदपरिव्राजकोपनिषद् करता है "चतुष्पाज् जागरित स्थूलः......एकोनविंशतिमुखः" (७, ८)। त्रिपाद्विभूति

महानारायणोपनिषद् लिखता है "ब्रह्मणः पादचतुष्टयं निर्विशेषं भवति" और आगे उसी स्वर में लिखता है "पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म। तत्रैकमविद्यापादं पादत्रयममृतं भवति"॥ इन दोनों उद्धरणों के पूर्व में फिर लिखता है "किं तत्पादचतुष्टयं ब्रह्म भवति। अविद्यापादः सुविद्यापादश्चानन्दपादस्तुरीयपादश्चेति"। (पृ० ४७२) पहले दो उद्धारण पृ० ४७९, ४८० में है। अन्त में लिखता है "तस्मात्पादत्रयं परमः मोक्षः, पादत्रयं परमो वैकुण्ठः" पृ० ५०३ (बम्बई तत्त्वविवेक मुद्रणालय शक सं १८१७) रामोत्तरतापिन्युपनिषद् ने नृसिंहतापिन्युपनिषद् के समान उन्हीं शब्दों में ॐकार की मात्राओं द्वारा चतुष्पाद्ब्रह्म की व्याख्या दी है (पृ० ५३१)। आत्मोपनिषद् त्रिधात्मा का वर्णन देता है "त्रिविधः पुरुषोऽजायतात्माऽन्तरात्मा परमाऽत्मा चेति"। (प्रथम पंक्ति)। रुद्रहृदयोपनिषद् भी इन्हीं त्रिधा आत्माओं को मानते हुए लिखता है

"आत्मानं परमात्मानमन्तरात्मानमेव च।
ज्ञात्वा त्रिविधमात्मानं परमात्मानमाश्रयेत्"॥

(१२ श्लोक)।

गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् कुछ और ही हांकता है "तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भू-मिर्द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेजश्चतुर्थपदात् वायुश्चरमपदाद् व्योमेति"॥ (३-४, ५)। सरस्वतीरहस्योपनिषद् तथा कई उक्त उपनिषद् 'चत्वारि वाग्परिमिता-पदानि' को उद्धृत करके भी तथा सरस्वती (वाक्) सम्बन्धी विशिष्ट मंत्रों का संकलन देते हुए भी चतुष्पाद् ब्रह्म के ज्ञान से अपरिचित से ही प्रतीत होते हैं। 'चत्वारि-वाक्पदानि' वास्तव में ब्रह्म के चतुष्पादों का सप्तकों के रूप में वर्णन देता है।

४—कर्मकाण्ड में चतुष्पाद्ब्रह्म

ब्राह्मण ग्रन्थों ने ब्रह्म की व्याख्या विशदता और स्पष्टता से दे रखी है। इन वैदिकों ने अक्षरब्रह्म का अभिनय पुरोडाश और व्रतपति, अग्निरूप आदि प्रजापति ब्रह्म और उसके क्रमिक विकास रूप तत्त्वों को देवताओं के नाना रूपों और नामों के द्वारा परम वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर रखा है। ऐतरेय ब्राह्मण ने पुरोडाश रूप ब्रह्म से कुमार रूप रुद्र की उत्पत्ति करके तदन्तर अग्निमन्थन द्वारा अग्निरूप रूपात्मा का विकास, तदन्तर आदित्य रूप चतुष्पाद् पशु ब्रह्मों का क्रमिक विकास दिया है तब 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममभ्याहरत्' कहकर भौतिक सृष्टि का सूत्रपात किया है। ठीक यही शैली शतपथ ब्राह्मण ने भी अपनाई है। दोनों ने स्थान-स्थान पर प्रत्येक देव या तत्त्व पर पूर्ण दार्शनिक प्रकाश भी डाला है जिससे उनके यथोचित अभिनय में बाल की खाल के बराबर भी भूल न हो सके। बीच-बीच में उनके क्रमिक विकास के स्थानों का निर्णय देने के लिए यथोचित छन्दाक्षरों की गिनती देते हुए सब भ्रम मिटाये गये हैं। इनमें वैदिक विश्वदर्शन का कोई भी अंग कहीं भी भंग नहीं हुआ है, प्रायः सभी प्रकार के मतमतान्तरों की यथेष्ट व्याख्या कर दी गई है। इनमें दो पलड़े हैं—ज्ञान-काण्ड और कर्म-काण्ड। दोनों पलड़े सर्वत्र बराबर समानान्तर रेखा में वर्णित किये गये हैं, एक के बिना दूसरे की चर्चा ही नहीं है।

ऐसे अद्भुत अलौकिक ग्रन्थों का अध्ययन अब तक एकांगी होता चला आ रहा है, जिसको उपनिषदों ने सविता कहा है उसे शतपथ "सविता वै देवानां प्रसविता" कि सविता तत्त्वों का विकास करके कहता है (१-१-२-१७)। जिसे उपनिषद् 'पतिश्चपत्नी चाभवताम्' कहते हैं उसे यह ब्राह्मण स्पष्ट स्थान देते हुए लिखता है "आपो वै वञ्रो योषा' (१-१-१-१७) और 'योषा वै वेदिः' (१-२-३-१५) कि वेदि द्वितीय सप्तक. स्त्री या पत्नी है जिससे रूपात्मा (अग्नि) की उत्पत्ति होगी। इसी की विशद व्याख्या में आगे लिखा है "योषा वै पत्नी रेतः आज्यं" "यज्ञो (महः) वेदिः यज्ञः आज्यं" (१-२-३-१८, २१)। त्वष्टा, अग्नि का नाम है। द्वितीय सप्तक का अन्तिम ब्रह्म है उसके पुत्र का नाम त्रिशीर्षा षडक्षः' कहा है (५-४-६-२७-१-५-२७)। यह त्रिशीर्षा तीन आत्मा का सूचक है, षडक्ष इसके छः विकासो का। आगे चलकर संवत्सर ब्रह्म को चतुर्मुख कहते हुए चतुष्पाद् ब्रह्म की वैज्ञानिक व्याख्या दे रखी है "संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाणि अहो रात्रयोः सन्धी पौर्णमासी अमावास्या चतुर्मुखानि' (१-५-२-३५)। यही चत्वारि शृङ्गा है, यही 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' हैं। पुनः ऋचा ही को उद्धृत करके द्विपाद् (जीवात्मा) और चतुष्पाद् (चतुर्धात्मा) की स्थिति पक्की करते हुए लिखा है—'शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' (१-७-२-२८)। द्विपाद् की व्याख्या में "द्विपादो वयांसि" (द्वितीय सप्तक अन्तरिक्ष) लिखते हुए साफ लिखा है कि एकपाद् प्रजापति से पहिले इसी द्विपाद् (जीवात्मा) की सृष्टि हुई "प्रजापतिर्ह इदमग्र एक आस। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा पराबभूवुस्तानीमानि वयांसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टं द्विपाद् अयं पुरुषस्तस्माद्विपादो वयांसि"। (२-४-२-१) त्रिपाद् को यहाँ पर सरीसृपं कहा है "क्षुद्रं सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीया ससृजे" (२-४-२-२) इन त्रेधात्माओं की व्याख्या की ऋचा भी है "प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे। महद्धि तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश॥ (२-४-२-३, ४)। आज कल आर्यों की सरीसृप पूजा को जंगलीपना बताते हैं। पर ध्यान रहे यह सरीसृपवाद सृष्टिविकास का एक बड़ा भारी महत्त्वपूर्ण अंग है। यह क्षुद्र सरीसृपवाद कीटाणुवाद का ठेठ पूर्वरूप है जब कि रूपात्मा का आत्मा रूप में लहर रूप या क्षुद्र सरीसृप रूप में अभ्युदय होता है। यह रूप का पूर्व रूप है या अणु रूप भूतात्मा का पूर्व रूप है जिसे क्षुद्र सरीसृप या लहर में वर्णित किया गया है। यह आग्नेय लहर है जिसका विकास वारुणेय या वैद्युतीय प्रवाह में होकर, उससे भौतिक अणु का प्रथम उदय होता है। अतः इसके अनन्तर "तद्वै पय एवान्नम्" कहकर अन्न रूप भौतिक सृष्टि के उदय की बात कही है इस अन्न को (अणु को) 'इदं हि यदैवस्त्रियै स्तनावाप्यायेते ऊधः पशूनामथैव यज्जायते तज्जायते" (२-४-२) कहकर पशु या चतुष्पाद् बतला दिया है। इसी को 'रेतो वै सोमः' (३-७-१-१) कहकर सोम भी बतलाया है, और इसी को 'वृत्रो वै सोमः' (४-१-४-८) कहकर वृत्र भी कहा है। (४-३-५-५)

आगे चलकर पूरे सप्तसप्तकों का उल्लेख करते हुए पुरुष की त्रिधात्मा (त्रिपाद-मृतता) और चतुर्धात्मा को स्वीकार करते हुए लिखा है "सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्च-त्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि चत्वारो हि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुच्छानि, अथ यदेकेन पुरुषेण (भौतिकेन पुरुषेण) आत्मानं वर्द्धयति तेन वीर्येणायमात्मा पक्षपुच्छान्युद्यच्छति" (१०-२-२४ श० ६-१-१-६)। इस चतुर्धात्मा को पिता, पितामह, पुत्र और पौत्र नाम से भी पुकारा गया है "तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते" (६-१-२-१३)। ऐतरेय ब्रा० और श० प० ब्रा० के स एष पिता पुत्रः (६-१-२-२६) नामक वाक्य को कौन नहीं जानता ? पर खेद है इसका भाव अबतक सब ने गलत समझ रखा है। यह वाक्य उक्त पिता, पितामह, पुत्र और पौत्र के बारे में कहा गया है जो लौकिक अर्थ में भी घटित हो ही सकता है। अंग्रेजों ने इसके आधार पर कहावत तक बना डाली है 'चाइल्ड इज द फादर आफ मैन'। पौत्र भौतिक अणु है, पुत्र-रूपात्मा अग्नि ब्रह्म है, पितामह रुद्र है, या कुमार है, पिता स्वयं ब्रह्म है। जीवात्मा को द्विपाद् कहा है "द्विपाद् यजमानः" (६-३-१-२१; ६-३-२-३, ६-३-२-१२, ६-३-५-१८; ६-५-१-२४)। इस चतुर्धात्मा को दो अन्य प्रकार से भी कहा है कि आत्मा के चार अंग हैं और वाणी चार अक्षर की है। अतः सर्वदिग्प्रवाही है "चत्वार्यङ्गा-न्यात्मा" (६-१-४-२३; ६-२-१-९) "चतुरक्षरा वै सर्वा वाग्......तस्मात्सर्वासु दिक्षु वाग्वदति" (६-२-३-४३, ४४)। अन्त में "अथ सर्वसम्पद्, चत्वारः पादाश्चत्वार्य-नूच्यानि" (६-५-१-२८) "तद्ये चतुष्पादाः पशवस्तैरेवैनमेतत्संभरत्यथोऽन्नं वै पशवः" (६-५-६-७) कह कर चतुष्पाद् का स्पष्ट विवेचन दे दिया है, चतुष्पाद् को पशु और पशु को अन्न कह कर वैज्ञानिक स्थिति भी स्पष्ट कर दी है कि पशु नाम प्रथम भौतिक अणु का है। यह भौतिक अणु ही बढ़कर प्राणियों या जड़ों का स्वरूप पाता है। अतः श्राद्ध करने वाले उक्त त्रिपादों को वसुरुद्र, आदित्य मानकर उनका प्रतिनिधित्व पिता, पितामह और प्रपितामह से करके ब्रह्म से अपना पूरा नाता जोड़ने का सच्चा अभि-नय या प्रयास करते हैं।

५—सप्तकों द्वारा चतुष्पाद्ब्रह्म

श्राद्ध चतुष्पाद् ब्रह्मोपासना है, त्रिपाद् अमृतोपासना है 'स एष पिता पुत्रः' की साक्षात् उपासना है। यह पूजा गायत्री उपासना या ज्ञान से कम नहीं है। इन अमृत-पादों की 'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परिजातवेदाः तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः' अग्नि के नाम से पुकारते हैं नृमणा स्वाधी ब्रह्म है* परिजात वेदा दूसरी है तृतीय है "विद्मा ते धाम परमं गुहा यत्' से इन्हें गुहा नाम के धाम में बतलाया है। त्रिधात्मा या त्रिपाद् ब्रह्म या त्रिपाद् पुरुष का वर्णन त्रिचक्रवाद गुहावाद तथा पुरुष सूक्त के "त्रिपादूर्ध्व पुरुषः" "त्रिपा-दस्यामृतं दिवि" की व्याख्या के अवसर पर दिया जा चुका है। यज्ञ पुरुष, संवत्सर अग्नि या ब्रह्म तो विवक्षानुसार पाद संख्या वाला है। इसके पञ्चपाद,

६—श्राद्ध तथा देवताओं द्वारा चतुष्पाद्

* अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुः (ऋग्वेद ३।२६।७)

षट्पाद, सप्तपाद भी हैं, त्रिपाद्, द्विपाद्, एकपाद् भी जैसा कि चक्रों की व्याख्या से स्पष्ट है। पर चतुष्पाद्ब्रह्म तो केवल गायत्री के ही पादों से विवक्षित किया गया है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। इसके प्रत्येक पाद में एक-एक मुख्य आत्मा का विकास होता है। प्रत्येक आत्मा के विकास में आठ-आठ तत्त्वों की आठ-आठ सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। पादों के अनुसार जिन चार आत्माओं का मुख्यतः विकास ३३ देवताओं में होता है उनका विशिष्ट वर्णन श० प० ब्रा० १४-३-२-५ से १४ तक में विशदतया दिया गया है। चार क्रम से विकसित आत्माओं के नाम ये हैं "अग्निर्वैदेवानामात्मा" (प्रथमपाद) "वायुर्वैदेवानामात्मा" (द्वितीयपाद) सूर्यो वै देवानामात्मा" (चतुर्थपाद) "चन्द्रो वै देवानामात्मा" (चतुर्थपाद) इसी चतुर्थ पाद का पुनः विकास वृत्र या वरुण रूप में होता है उसे "वरुणो वै देवानामात्मा" भी कहते हैं। इनको आत्मा घोषित करने वाली ऋचायें मिलती हैं जो इन्हीं की व्याख्या के शीर्षकों ('अग्नि' 'वायु' 'सूर्य' 'चन्द्रमस् या सोम' और वरुण' या 'वृत्र') में उपलब्ध हो जावेंगे। वैसे सभी देवता आत्मा रूप ही हैं।

"आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।"
(मनुस्मृति १२-११९)

७—चतुष्पाद्ब्रह्म की चार आत्मायें कौन हैं ?

चतुष्पाद्ब्रह्म की पूर्वोक्त चार आत्मायें "सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि चत्वारो हि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुच्छानि (श० प० ब्रा० ६-१-१-६; १०-२-२-४) दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से निम्न प्रकार से वर्णित किये गये हैं। प्राणविद्या में ये चार आत्मायें क्रम से प्राण, उदान, व्यान, अपान हैं (श० प० ब्रा० ४-१-२-२) जिनका विकास प्रथम चार पादों में क्रम से एक-एक पाद एक-एक देवता रूप तत्त्वों में बड़ी लम्बी प्रणाली से होता है। गणदेवता विद्या में ये चार पाद वसु, रुद्र, आदित्य (प्रथम भाग) और आदित्य द्वितीय भाग है। ब्रह्मविद्या में प्रथम पाद ब्रह्म है, द्वितीय प्राणात्मा है, तृतीय कर्मात्मा या तैजसात्मा है, चतुर्थ भौतिकात्मा। पुरुषवाद में इनके नाम क्रम से ब्रह्म, पुरुष, प्राणात्मा, सततकर्ममयात्मा और बुद्धि या आसुरी आत्मा (भौतिकात्मा) है। यज्ञवाद में इनके नाम आदि ब्रह्म-अक्षर ब्रह्म (कूटस्थ), विसर्गब्रह्म और क्षर ब्रह्म हैं। इनका यह क्रम गीता में इस प्रकार मिलता है। अक्षरब्रह्म, जीवब्रह्म, कर्मब्रह्म और यज्ञब्रह्म। ये चार आत्मायें हैं। यज्ञब्रह्म से विकास की सीढ़ियाँ-यज्ञब्रह्म, पर्जन्य, अन्नब्रह्म (या सोम)-अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मूल बीज। जैसे—अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।" आदिब्रह्म इन सबका मूल स्रोत है। वैयक्तिक देवतावाद में इन चार पादों के नाम क्रम से [ब्रह्म] कः (अक्षर ब्रह्म)-रुद्र, इन्द्र, सूर्य, चक्षु, सोम, चन्द्र, विष्णु, सविता, त्वष्टा, वृत्र,-अश्विनी, सूर्या, सावर्णि, यम] आदि हैं। अग्निवाद में ये अग्नि-परिजात

वेदस्-(अतिथि या) जातवेदस्:—वैश्वानर हैं। सप्तर्षिवाद में ये प्राणवाद के अनुरूप हैं, चतुर्थ ऋषि अत्रि हैं, उन्हीं की चक्षु का नाम सूर्य है, चन्द्रमा उसीसे उत्पन्न होता है। चतुर्थ पाद के तत्त्वों के तो सैकड़ों नाम हैं। कहां तक गिनाया जाय। "चत्वारि वाक् परमिता पदानि" के तीन पद प्रथम तीन सप्तक हैं। चतुर्थ पद या पाद परा या उत्तरार्द्ध की वाक् है 'पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी' वाणियों का इन चार पदों या पादों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तो पारमाणविक या महाभूतीय वाणियाँ हैं जिनका उदय वैदिक दर्शन के पूरे तत्त्वों के विकास के पश्चात् होगा। श. प. ब्रा. की दी हुई पञ्चात्माओं का विकास क्रम यह है कि अग्नि, आत्मा, वायु, आत्मा, सूर्यात्मा [वरुणात्मा-चन्द्रात्मा] सोम। इन चारों आत्माओं का सम्मिलन हिरण्यगर्भ है, सहस्रशीर्षा पुरुष है, बृहस्पति है, ब्रह्मणस्पति है, महादेव है, (वृषभ) अग्नि है, सोम है, इन्द्र है, प्रजापति है, द्यावापृथिवी है, द्यावाभूमि इत्यादि है।

जिनको पिछले परिच्छेद में चार आत्मायें या चतुष्पाद् अक्ष कहा गया है। वे ही वैदिक दर्शन के तत्त्वों की जाति परक व्याख्या या कल्पना के आधार भी हैं।

८—चार वर्ण

वैदिक दर्शन के प्रथम चार पादों के ३२ तत्त्वों में से प्रथम पाद के तत्त्वों का नाम ब्राह्मण है, द्वितीय पाद के तत्त्वों का क्षत्र या राजन्य है, तृतीय पाद के तत्त्वां को विट् या वैश्य कहते हैं और चतुर्थ पाद के तत्त्वों को शूद्र या दास नाम से भी पुकारा जाता है। यह तो ठेठ पुरुष सूक्त के निम्न दो मन्त्रों का सीधा अर्थ है जिनका पाठ इस प्रकार है।

"यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥"

बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि कई मध्ययुग के उपनिषदों से लेकर सायण तथा आधुनिक आलोचकों या अनुवादकों ने इस ऋचा में वर्णित ब्राह्मणादि जातियों को लौकिक या हिन्दुओं की जातियाँ ही समझ कर बहुत बड़ा अनर्थ कर रखा है। वैदिक युग में आर्यों में निःसन्देह चार जातियाँ थीं, पर ये जातियाँ सब आर्य ही थे और सब कर्ममय भेद से बँटे थे, सबमें बराबरी का अधिकार था। प्रत्येक आर्य ब्राह्मण भी था, क्षत्रिय भी था, वैश्य भी था और शूद्र भी था जैसा कि वेदों में प्रत्येक देवता कर्म और स्थान भेद से ब्राह्मण भी है, क्षत्रिय भी है; वैश्य भी है, शूद्र भी है। जैसे "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" में ब्राह्मण शब्द समस्त ब्रह्मवादी आर्य जाति के लिए आया है। वैदिक आर्य ब्रह्मवादी थे। अतः उन्होंने भारत का नाम ब्रह्मावर्त रखा, भाषा का नाम ब्राह्मी रखा, आर्य जाति का नाम ब्राह्मण रखा, लिपि का नाम भी ब्राह्मी ही रखा और वेदों का नाम भी ब्रह्म रखा, तदनुकूल जो वेदों के दर्शन का अनुयायी रहा वह ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, ब्रह्माध्यायी, ब्राह्मण तथा

ब्राह्मी भाषा और लिपि का भाषी और लेखक भी ब्राह्मण ही कहा जाता रहा। इतना अवश्य था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की श्रेणियों की ऊँचता-नीचता भी उनके मुख्य कर्म के अनुकूल समझी जाती रही। कर्म में ऊँचता-नीचता रही न कि वंशानुगत। जो कोई ब्राह्मण का सा कर्म करे वह ब्राह्मण था, पैदा कहीं हो ऐसा ही जो क्षत्रिय का सा काम करे वह क्षत्रिय ही था, पैदा कहीं हो इत्यादि। यह सब होते हुए भी वेदों में या उक्त ऋचा में जिन ब्राह्मणादिकों के जन्म की कथा ब्रह्म या ब्रह्मरूप पुरुष के विभिन्न अंगों से बतलाई गई है। वे जातियाँ आर्यों की सामाजिक जातियाँ न होकर देवताओं या तत्त्वों की जातियाँ हैं। यह भी तो किसी ने समझने का प्रयत्न नहीं किया कि लौकिक जातियाँ ब्रह्म से सीधे कैसे उत्पन्न हो जातीं हैं और वे भी उसके विभिन्न अंगों से ?

वास्तविक बात यह है कि यहाँ पर जिन ब्राह्मणादिक जातियों की चर्चा है वे तत्त्वों के क्रमिक विकास देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए बिलकुल साफ लिखा है कि ये जातियाँ तत्त्वों

९—वैदिक चतुष्पाद्ब्रह्म और वैदिक वर्ण

या देवताओं की हैं जैसे "ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात्क्षत्रात् परं नास्ति। तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते॥ स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत। यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥ स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च॥ (१-४-११, १२, १३) इसमें ब्राह्मण तत्त्व तो ब्रह्म है, प्रथम सप्तक है, वही मुख है, द्वितीय सप्तक क्षत्र या राजन्य है। इसमें क्षत्र जाति के देवताओं के नाम स्पष्टतः दिये हैं कि वे इन्द्र, वरुण, सोम रुद्र, पर्जन्य, मृत्यु, ईशान देवता हैं। तृतीय सप्तक वैश्य या गुरु हैं। ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वे देव और मरुत हैं। चतुर्थ सप्तक शूद्र और चरण हैं। इस जाति में केवल पूषा देवता है, पूषा आदित्य है। कई बातें ध्यान देने योग्य और हैं। उक्त ऋचा में 'ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ' ऐसा नहीं कहा है वरन् 'ब्राह्मण मुख था, कहा है, ऐसे ही 'राजन्य को बाहू बनाया' कहा है, न कि राजन्य बाहु से उत्पन्न हुआ है, कहा है। इसी प्रकार उसके उरु वैश्य जाति से तादाम्य या रूपक बताया है न कि ऊरू से उत्पत्ति, हाँ शूद्र की उत्पत्ति पांवों से बताई है पर शूद्र भौतिक तत्त्व है, यही एक जन्म लेता है। अतः अजायत कहा है। दूसरी बात, प्रश्न में 'कतिधा व्यकल्पयन्' 'कितने प्रकार से कल्पना की' वाक्य स्पष्ट बतला रहा है कि तत्त्वों की इन जातियों की तो केवल वर्णन के लिए कल्पना की गई है। तीसरी बात जो उल्लेखनीय है वह यह है कि एक ही देवता कभी ब्राह्मण है, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य, कभी शूद्र जैसे उक्त उद्धरण में प्रथम पाद वसुओं का है। ये ब्राह्मण हैं पर गणरूप में वे विश हैं। रुद्र अकेले क्षत्र हैं, गजरूप में वैश्य हैं। बृहस्पति ब्राह्मण हैं पर विश्वदेवताओं में विश हैं। अग्नि, सोम, इन्द्र

रुद्र, वरुण सर्वादेवता हैं इनकी सब जातियां हैं। प्रत्येक देवता का विकास चतुर्थ पाद में अवश्य होता है। वहाँ वह नियमतः शूद्र ही है शूद्रता भौतिकात्मा की प्राप्ति है।

ऋषिरूप देवता और प्राणरूप देवता सब ब्राह्मण हैं। प्राणरूप देवताओं में सु और असु तथा इनसे उत्पन्न सुर और असुर हैं। ये दोनों के दोनों बाह्य सृष्टि हैं, ब्राह्मण हैं देवता भी ब्राह्मण हैं, और असुर भी ब्राह्मण हैं। प्रजापति भी ब्राह्मण हैं, सप्तर्षि भी ब्राह्मण हैं। पुलस्त्य, रावण, वृत्र, त्वष्टा, विश्वरूप त्वाष्ट्र, विश्वकर्मा सब ब्राह्मण हैं, ऋषि हैं। क्योंकि ये सब प्राणरूप, ऋषि-रूप ब्रह्म या प्रजापति की सन्तानें या विकास हैं। परन्तु जब इनका वर्णन चतुर्थपाद या चतुर्थ सप्तक के विकास के रूप में वर्णित किया जाता है तो इनको शूद्र कहा जाता है। दास नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इनमें आसुरी शक्ति की बहुलता और भौतिक शरीररूप दासता होती है। रावण ब्राह्मण था, यह सब जानते हैं। वृत्र की हत्या से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी। तब उसके शरीर में हजारों भग हो गये यह कथा पुराण में आती है, यह वैदिक कथा है। दार्शनिक कथा है। भग २४ वें तत्त्व वाली योनियाँ हैं उनसे सहस्रचक्षु सूर्य उत्पन्न होता है। तब सहस्राक्ष सोम या वृत्र का पूर्णदमन या बन्धन या बध होता है। यह ब्रह्म-हत्या नहीं ब्रह्म विकास है। जिसका लौकिक रूपान्तर उक्त रोचक कथा के रूप में वर्णित है।

१०—वैदिक दर्शन के तत्त्वरूप ब्राह्मण

लौकिक संस्कृत के प्रथम महाकवि वाल्मीकि तो भाग वीयाङ्गिरसीय तत्त्वों के विकास रूप च्यवन ऋषि के प्रतिनिधि हैं और उनका वाल्मीकिरूप शरीर जीर्णिः कृत्या रूप शरीर है। 'कविमिव प्रचेतसं' (ऋ. वे. ८-८४-२) के आधार पर इनका प्रचेतस और कवि नाम वरुण या मित्रावरुण रूप में दिया गया है। इनका रावण भी आसुरी विराट् पुरुष है जिसका बध उन्होंने रामरूप इन्द्र से कराया है और यह आसुरी विराट् वेदों का वृत्र है। सीता वाग्ब्रह्माणी हैं, दैवी वाग् हैं। यह उत्तरार्द्ध की परा वाग् है। कवि वाल्मीकि ने वैदिकदर्शन के उद्धार की प्रतिज्ञा में इसी सीता के उद्धार की प्रतिज्ञा भी की है "अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव" (सुन्दरकाण्ड)। इन्होंने नष्ट वेद श्रुतियों का व्याख्यान नवीनरूप में प्रस्तुत किया है। अस्तु ! रावण तो 'वृषभो रोरवीति' का प्रतीक रावण (रोरवीति इति रावणः) है। इसके मुखों और शिरों का वर्णन अथर्ववेद ने इस प्रकार दिया है।

११—वैदिक और पौराणिक ऋषियों में रूपान्तर

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषम् ॥" (४-६-१)

जहाँ दस-दस तत्त्वों से दर्शन के तत्त्वों का विभाजन होता है वहां विराट् दल की व्याख्या होती है क्योंकि इनमें विराट् छन्दके अक्षरों से वर्णना की जाती है,

बृहदारण्यक के उक्त उद्धरण के क्रम से ही ब्राह्मणादि जातियों का विकास, क्रम से १०, १० तत्त्वों का होता है। इसको दशाङ्गुलि सरणि कहते हैं* आदि के दस तत्त्व दस मुख्य प्राण कहलाते हैं। शेष हाथ की दस अङ्गुलियां, पाद की दस अङ्गुलियां सब मिलाकर ३० तत्त्व होते हैं। प्रथम तीन पाद चाहे किसी सरणि के हों विद्या नाम हैं, अन्तिम पाद अविद्या का है अर्थात् अविद्या माने भौतिक तत्त्व होता है। अतः शूद्र को 'अविद्या' या अविद्यः या निर्विद्य या विद्याधिकार-हीन या विद्या क्षेत्र से बहिर्भूत कहते हैं। लोगों ने इसका अर्थ भी चौपट कर दिया है। वे शूद्रों को वेदों के पढ़ने का अधिकार ही नहीं मानते। यही बात स्त्रियों के लिए है। शूद्र तत्त्व रूप भौतिकात्मा को पूर्वार्धीय द्यावा रूप पुरुष की पृथिवी रूप 'स्त्री' कहा जाता है। 'द्यावापृथिवी' के स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त शरीर में द्यावा विद्या है, पृथिवी अविद्या। अतः स्त्रियों को भी वेदाध्ययन अधिकार से उक्त प्रकार की समझ के कारण शूद्रों की तरह वञ्चित मानने और करने लगे। वेदों में तो कई स्त्रियाँ स्वयं मन्त्र रचयिता ऋषि हैं, कई वेदज्ञ महिलाओं की चर्चा ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलती है। इनके महत्त्व की ओर भी वे ध्यान नहीं दे सके (ऋ० वे० १०-१५६;१०-४५; १-१२६-७; ५-९; ५-२८, १०-१६० आदि देखें) यहां तक कि एक शूद्र आर्य भी वेदों के मन्त्रों का रचयिता है, ऊर्ध्वग्रावा उसका नाम है। एक और बात है। प्रत्येक देवता जब-जब चतुर्थ सप्तक या शूद्र सप्तक या भौतिकात्मा को धारण या बन्धन रूप में प्राप्त करता है। उसे नियमतः असुर नाम से भी पुकारा गया है। 'देवासुर' शीर्षक देखें। जिनको 'अस्य वामस्य पलितस्य' मन्त्र (ऋ० वे० १-१६४-१) पालन, होता, मध्यम भ्राता, तृतीय भ्राता के नाम से पुकारता है वे उन्हीं चार भ्राताओं में से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ भ्राता हैं। जिन्हें यजुर्वेद 'बन्धु, सुबन्धु, प्रियबन्धु और विश्वबन्धु के नाम से पुकारता है। प्रत्येक पाद एक भाई है। चारों भाई मिलकर चतुष्पाद् ब्रह्म कहलाते हैं। येही चार भाई ही चार वर्णों के मूल स्रोत भी हैं। एक ही पिता के चार पुत्र चार वर्ण हैं, अतः वर्णों के सम्बन्ध में वेदों में सामाजिक भेद नहीं है। केवल धार्मिक और अवस्था (छोटी-बड़ी अवस्था) का भेद है। बड़ा भाई ऊँच, छोटा नीच नहीं होता। भाई सब बराबर ही समझे जाते हैं केवल अवस्था (आयु, धनादि, पद) भेद को छोड़कर।

---

* श. प. ब्रा. ३-८-४-१—"दश पाण्या अङ्गुलयो दशपाद्या दशप्राणाः, प्राण उदानो व्यान इत्येतावान्वै पुरुषः।

† अव्यय उपनिषद् तो ब्राह्मण को १२ तत्त्वों का बतलाता है, क्षत्रिय और वैश्यों को १०, १० का (५) इनमें आठ वसुओं को मिलाकर कुल ४० तत्त्व हो जाते हैं।

अध्याय २३

'हमारा वास्तविक ब्रह्मसूत्र' ('गायत्रीब्रह्म')

१—गायत्री और वैदिकदर्शन

भारतीय आर्यों का ब्रह्मसूत्र तो प्रत्येक वैदिक सन्तान के गले का हार बन गया है, वैदिकों के ब्रह्म सूत्र* के दो भाग थे, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रत्येक अर्द्ध में २५, २५ तत्त्व थे। उन्हीं तत्त्वों को वे ब्रह्म-सूत्र कहते थे। कुल ५० मुख्य सूत्री तत्त्व थे, इनमें चतुष्पाद् ब्रह्म या चार आत्मायें जोड़कर, कुल ५४ सूत्र बन जाते थे। इन ५४ सूत्रों के प्रतीक और अमर प्रतीक के पूर्वार्द्ध-परार्द्ध के २७, २७ सूत्रों के दो प्रतीकों के दो उपवीत बनाये गये थे। इनमें भी सचमुच ५४ ही सूत्र होते हैं जो सचमुच में वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों और उनसे बने इस पवित्र ब्रह्माण्ड के, और चतुष्पाद् ब्रह्म रूप इस देह के पुनीत प्रतीक थे। और उपवीत संस्कार इसी ब्रह्मज्ञान के संस्कार को नित्य रूप से देह और अन्तर्देह में स्थापित करने का 'न भूतो न भविष्यति' के समान अमरज्ञान का संस्कार था। उपवीत की ग्रन्थि का नाम अबतक 'ब्रह्मग्रन्थि' ही कहा जाता है। ये ग्रन्थियाँ भी दो होती हैं, ये ग्रन्थियाँ दो मुख्य ब्रह्मों की असद्ब्रह्म और सद्ब्रह्म की प्रतीक थीं। एक पूर्वार्द्ध का प्रथम ब्रह्म है, दूसरा उत्तरार्द्ध का प्रथम ब्रह्म। वैदिक साहित्य में सूत्र साहित्य का सूत्रपात भी गायत्री के इन्हीं ५४ सूत्री वैदिक दर्शन की प्रणाली की अनुकृति में हुआ था। इसी ५४ सूत्री वैदिक ब्रह्मसूत्र में वैदिकदर्शन के ५० तत्त्व और चतुष्पाद् ब्रह्म या ४ आत्मा रूप मणियाँ 'सूत्रे मणिगणा इव' उद्ग्रथित थीं।

२—जनेऊ और चोटी क्यों रखते हैं ?

आज यदि किसी से पूछा जाय कि आप जनेऊ क्यों पहिनते हैं ? चोटी क्यों रखते हैं ? इनका उत्तर किसी के पास कुछ है ही नहीं, केवल सनातनधर्म या संस्कृति या परिपाटी की दुहाई दी जाती है। इसी लिए कई नये-नये पढ़े-लिखे लोगों ने इसे या इन्हें सदा के लिए तिलाञ्जलि दे दी है। हां, हमारे यहां के वैदिक चोटी क्यों रखते थे ? चोटी एक शब्द में, 'ज्ञान ज्योति' का प्रतीक है। क्योंकि ब्रह्मसूत्र जिसके गले का हार है, उसका ज्ञानी होना अनिवार्य और स्वभावतः स्वयं सिद्ध वस्तु होती है। जिसको वैदिक ब्रह्मसूत्र का, ५४ सूत्र का पूर्ण ज्ञान है। उसके पास ज्ञान दीप शिखा अपने आप प्रज्वलित बनी

---

* वैदिकों के ब्रह्मसूत्र में आठ अध्याय थे और ५ पाद। प्रथम सूत्र था 'श्रीः' दूसरा 'गणपतिं हवामहे' पच्चीसवां सूत्र "चक्षुर्मित्रस्यवरुणस्याग्नेः सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। चौबीसवां 'ॐतत्सत्' चालीसवां ततो वै विराडजायत 'तस्माद्विवर्तः' इत्यादि।

रहती है। इस प्रकार हमारे पूर्वज वैदिक आर्य अपनी भावी सन्तानों को ब्रह्म ज्ञानी रूप में या ब्रह्मज्ञानज्योति शिखा रूप में देखना चाहते रहे। इसीलिए उन्होंने इस आदर्श जीवन प्रणाली की अमर नींव डाली थी। वे यह चाहते रहे कि उनकी सन्तानों का बच्चा-बच्चा ब्रह्मज्ञान का पूर्ण ब्रह्माण्ड बना रहे, गायत्री ब्रह्म उनके गले का उज्वल हार बना रहे, उनके मस्तिष्क में ब्रह्मज्ञान की दीप शिखा निरन्तर प्रदीप्त रहे। कितनी दूरदर्शिता की, सर्वजन मंगलकामनाकी, सर्वाभ्युदय की उदात्त भावना थी जिसे आज हमारा अज्ञान भार सा समझता है या पगपगपर ठुकराया जाता है। इससे अधिक दयनीय दशा और क्या हो सकती है? यह तो रही प्रतीक के तिरस्कार या अवहेलना की बात। वास्तविक बात तो यह है कि आज के युग में, लगभग तीन हजार वर्ष पहले से गायत्री के बारे में जितना भ्रम है उतना अधिक अन्य विषयों में नहीं। लोग तो यह भी नहीं जानते कि गायत्री है क्या वस्तु? और उसका जो सूर्य है, वह कौन है? 'गायत्री' वास्तव में पूरा वैदिक विश्वदर्शन है। उसका सूर्य, आकाश में चमकने वाला सूर्य न होकर, दर्शन के उत्तरार्द्ध के भौतिक सृष्टि के प्रथमोदय का प्रथम विन्दु है, जिसको सविता २५ वाँ तत्त्व या सोम भी कहते हैं। उस अर्क-सविता का सर्वप्रथम विकास पूर्वार्द्ध का सर्वप्रथम तत्त्व है।

गायत्री को आजकल के लोग केवल एक छन्द या बहुत हुआ तो इस छन्द का एक मन्त्र, वह भी 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि ही तक सीमित समझते आ रहे हैं। ऐसा नहीं है। 'गायत्री' काम तो वास्तव में साक्षात् ब्रह्म ही का नाम है। ब्रह्मवाद की सरणियों में जितनी प्यारी वैदिकों को यह सरणि है उतनी और कोई दूसरी नहीं। गायत्री छन्द इस सरणि का मुख्य मेरुदण्ड है।

३—गायत्री क्या वस्तु है?

गायत्री छन्द में तीन पाद और २४ अक्षर होते हैं। ये २४ अक्षर गायत्री ब्रह्मवाद के २४ तत्त्वों का संकेत करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३-२२) में लिखा है "छन्दसां देवता अक्षरभाजः करोति, अक्षरमक्षरमेव तद् देवता।" वेदों और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में 'देवता' शब्द तत्त्ववाची है, पूजा और प्रार्थना में ही उन्हें 'देवता' नाम से पुकारा जाता है। इसी से लोगों को भ्रम होता चला आ रहा है। वेदों में ब्रह्म को जो एकपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद् या चतुष्पाद् नाम से पुकारा जाता है, उसका आधार भी इसी गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के तत्त्वरूप ब्रह्म के विकासों का विवेचन देना है, प्रथम आठ विकासों को एकपाद् ब्रह्म कहते हैं, द्वितीय पाद के आठ ब्रह्मों को द्विपाद् ब्रह्म कहते हैं, तृतीय पाद के आठ ब्रह्मों को त्रिपाद् ब्रह्म कहते हैं। चतुर्थ पाद अनुष्टुप् का मिलाकर 'चतुष्पदा गायत्री कहते हैं, इसीलिए गायत्री को 'दर्शत चतुर्थपदा' नाम से पुकारा जाता है (आगे का उद्धरण देखिए। जिसको वेदों में 'गुहा' या 'त्रिःसप्त' कहते हैं वह भी इसी गायत्री के तीन पादों के २४ तत्त्वों का संकेत करते हैं। 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' मन्त्र में जिन्हें 'गुहा त्रीणि निहिता' और जिसे 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति'

कहा है कि वे भी तीन सप्तकों के प्रथम तीन पदों के २३ तत्त्वों का निर्देश करते हैं। समस्त संवत्सर ब्रह्मवाद जिसमें अयनवाद, ऋत्रवाद, द्विधा अहोरात्रवाद, पक्षवाद, ब्राह्ममुहूर्त, उषा, सूर्यचन्द्रोदयवाद हैं। इन सबको इसी गायत्री ब्रह्मवाद की उपासना के अनुकूल ढालने का परम वैज्ञानिक प्रयास किया गया है। इसी गायत्री ब्रह्मवाद पर सोमवाद और सवितावाद भी लटका है। गायत्री ब्रह्म वैदिकदर्शन का पूर्वार्द्ध या २४ तत्त्वों का संकेत करता है। अतः २४ वें में चौथे पद को दिखाने वाली यह 'दर्शत चतुर्थपदा' कहलाती है। इसे यज्ञ (दर्शन) का पूर्वार्द्ध माना जाता है "गायत्री पूर्वार्द्धो यज्ञस्य" (शतपथ ब्राह्मण ३-४-१-१०; ३-५-३-२०)। पुरुष सूक्त में 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' और 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' इत्यादि वाक्य इसी गायत्री ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। लोग इन 'पाद' शब्दों का अर्थ हम आप जैसे लोगों के 'पावों' को समझते हैं, ब्रह्म का जो परम प्रसिद्ध नाम 'पुरुष' है जिससे 'पुरुषसूक्त' नाम पड़ा है, जिसे सांख्य में 'पुरुष' कहते हैं। उपनिषदों, ब्राह्मणों में भी वह इसी गायत्री ब्रह्म का पति कहलाता है। ऐतरेय ब्राह्मण ने स्पष्ट लिखा है "गायत्रो वै पुरुषः" (४-१-३)। अतः पुरुष सूक्त, गायत्री सूक्त है, जहाँ-जहाँ उपनिषदों में पुरुष शब्द है वह केवल गायत्री ब्रह्म की ही व्याख्या देता है। इस प्रकार इस गायत्री ब्रह्म सूत्र में वैदिक दर्शन के अनेकों मार्ग मणियों की तरह पिरोये गये हैं। जैसे पुरुष सूक्त में वैदिक कालीन कई मार्गों का एकत्र अन्तर्भाव किया गया है, पुरुष सूक्त स्वयं गायत्री सूक्त है। अतः स्वयं पुरुष सूक्त ने अपने समय में प्रचलित वैदिक दर्शन के उज्वलतम हीरों के समान मार्ग रूप या शाखा रूप दर्शनों की सरणियों का इस गायत्री ब्रह्म को चूडामणि बना रखा है। यह किसी से छिपा नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि गायत्री ब्रह्मवाद वैदिकों का सबसे अधिक प्यारा, प्रधान ब्रह्मज्ञान मार्ग है, जिसकी आज यह दशा है।

४–गायत्री ब्रह्म और छान्दोग्य उपनिषद्

गायत्री ब्रह्मकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या छान्दोग्य उपनिषद् ने दे रखी है कि गायत्री तो इस अखिल ब्रह्माण्ड का मूलभूत तत्त्व और शब्दरूप तत्त्व है। गायत्री माने जो गाता है या ध्वनिमय वाक है और सबका त्राता या आधार भूत तत्त्व है" वह प्राण स्वरूपिणी है, जिसके बल पर यह समस्त जगत् जीवित सा कार्यरत है। यह वही गायत्री है जिसे चतुष्पदा या षड्विधा गायत्री कहते हैं, इसके पाद समस्त तत्त्वों का विस्रंसन करते हैं जिनमें से त्रिपाद् या प्रथम तीन पाद, २५ तत्त्वों को अमृत नाम से पुकारा जाता है इत्यादि जैसे "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच। वाग्वै गायत्री; वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च। या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी (भू आदि तत्त्व)। अस्यां हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमे तामेव नातिशीयते। या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः(गायत्री)प्रतिष्ठिताः····सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री. तदेतदृचाऽभ्यनूक्तं 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि

त्रिपादस्यामृतं दिवीति। (३-१२-१)। इसी बात को शतपथ ब्राह्मण इस प्रकार लिखता है "सर्वः कृत्स्नो मन्यते सानोऽगायात् गायति वैव गीते वा रमते गायत्री (६-१-१-१५) बृहदारण्यक उपनिषद् ने उक्त सिद्धान्त के समर्थन में एक और नई बात सामने रखते हुए लिखा है कि 'गय' नाम प्राणों का है, जो प्राणों का त्राण करती है, वही गायत्री कहलाती हैं। "गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँस्तत्रे तद्यत् गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम" (५-१४-४) ध्यान रहे स्वस्तिवाचन मंत्र में 'अंहोमुच्चमाङ्गिरसं गयं च में जो 'गय' शब्द आता है। वह इसी 'गायत्री' के गयाः—प्राणाः का संकेतक है। इस गय की कथा ही निराली है उसके विवेचन का यहां स्थान नहीं है। यह उपनिषद् गायत्री के सूर्य को उसके चतुर्थ पाद में २४ वें के पश्चात् मानते हुए लिखता है 'अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा....चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं' तस्या उपस्थानं—गायत्र्यस्येकपदीद्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसा-वदो मा प्रापदिति ॥(५-१४-३-६) चक्षुर्नाम (छा.उप) देवं चक्षुः माने तत्त्व रूप चक्षु होता है, इसी का उपस्थान किया जाता है। यह तत्त्व रूप सूर्य भौतिक सृष्टि का पूर्व रूप तत्त्व है जहां से भौतिक शरीर का दिव्य शरीर बनना आरम्भ होता है। यास्क ने "त्रिगमना वा विपरीता गायतो मुखादुदपतद्" ब्राह्मणवाद को उद्धृत करते हुए त्रिगमना वा विपरीता व्युत्पत्ति किसी प्राचीन निरुक्त से उद्धृत करके बिना समझे दी है, पर ठीक है। त्रिगमना माने त्रिपाद गमना ठीक बैठता है और विपरीतं मुखादुदपतत् भी मरा से रामकी तरह त्रि गाय से गायत्री ठीक ही है; (नि. ७-३-५)।

वेद शब्द ब्रह्म या गायत्री ब्रह्म का रूप है, यह स्वयं वेद लिखता है "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः॥" (शतपथ ब्राह्मण १-७-३-३३; यजुर्वेद-२-२१) "वेदेन रूपे व्यपिबत्'(यजु०१९-७८)।

५—वेद और गायत्री

ब्रह्म ही वेद है। ब्रह्म के प्रथम तीन पादों के क्रमिक विकासों का नाम ऋक्; यजुः और साम है। पुरुष सूक्त भी जब यह कहता है कि 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि तब वह इसी बात का स्पष्ट विवेचन करता है कि वे इसी ब्रह्म के ध्वनि रूप, प्राणरूप विकास हैं, मन्त्ररूप नहीं क्योंकि बृहदारण्यक गायत्री के पादों से तादात्म्य करते हुए स्पष्ट लिखता है "ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराणि वा एकं गायत्र्यै पदम्" कि ऋग् नाम आठ अक्षरों के गायत्री के प्रथम पाद का नाम है, यजुः पुनः आठ अक्षरों के द्वितीय पाद का नाम है, साम तृतीय पाद के आठ अक्षरों का नाम है। प्रथम में शुद्ध स्वर का विकास होता है। द्वितीय में दीर्घ या द्वित्व या अन्तःस्थ स्वरों का, तृतीय से प्लुत और सानुनासिक ऊष्माणों का। यह शब्दब्रह्म का क्रमिक विकास है। जो २४ वें तत्त्व में 'ॐ' या 'हरि ॐ' का निर्माण प्रस्तुत करते हैं। यही शब्द ब्रह्म वेद है, अपौरुषेय है और नित्य है। इसमें किसी के खण्डन-मण्डन का कोई स्थान नहीं है। इस वेद ब्रह्म की व्याख्या, मंत्र रूप वेदों

में की गई है। उक्त शब्द ब्रह्म रूप वेद व्याख्या करने वाले मंत्रों को भी वेद नाम से पुकारते आ रहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्म शब्द माने 'ब्रह्म' भी होता है। ये मन्त्र न तो अपौरुषेय हैं, न नित्य, इन्हें ऐसा सिद्धकरना केवल वितण्डा है, व्यर्थ की माथा पच्ची है। ठग विद्या है और पढ़े लिखे की भाषा में हठ है। हमारे उपवीत के तीन वेद रूप ब्रह्म के विकासों के द्योतक हैं। प्रत्येक पलड़े में ९, ९ सूत या सूत्र होते हैं। उनकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण ने फिर परम वैज्ञानिक ढंग या प्राणवाद में घटाते हुए इस प्रकार दे रखी है। जैसे "गायत्रीभिः प्राणो गायत्री प्राणामेवास्मिन्नेतद्धाति;तिसृभिस्त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्धाति तासां नव पदानि नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तानेवास्मिन्नेतद्धाति।" (६-४-२-५)। मुख्य प्राण तीन हैं, प्रथम पाद में प्राणों का, द्वितीय में उदान का, तृतीय में व्यान का मुख्यतः विकास होता है, पर प्रत्येक में विकास होता है, पर प्रत्येक के विकास में नौ-नौ सीढ़ियाँ लगती हैं, उन्हें नव प्राणाः कहते हैं। इसी प्रकार गायत्री ब्रह्म प्राणमय ब्रह्म का विकास है। यही प्राणमय ब्रह्म शब्द ब्रह्म है। यही शब्द ब्रह्म ॐ ब्रह्म है। यह ॐ ब्रह्म हम-आप लोगों का उच्चरित ध्वनि रूप प्राणमय शब्द ब्रह्म है।

६—गायत्री और सप्तलोक

नारायणोपनिषद् गायत्री ब्रह्म को ओंकार ब्रह्म मानकर सप्तधामों का विवरण देता है। वे हैं "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्"। इनका प्रयोग प्राणायाम खींचते समय किया जाता है। ये नाम दर्शन के सात लोकों, सात पुरुषों, या सात सदों के हैं। लोग इन्हें उलटा समझते हैं, वे भू माने हमारी पृथिवी ही समझते हैं, यह सबसे महान् भूल है। यहाँ तो ब्रह्म के विकास की बात है। इस पृथिवी की कहीं भी नहीं। हमारा ब्रह्म दर्शन 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं' वृक्ष है, उलटा वृक्ष है। इस वृक्ष की उत्पत्ति की मुख्य भूमि को, जड़ों वाली भूमि को 'भू' कहते हैं, यह भू साक्षाद् ब्रह्म ही का नाम है, भुवः नाम उस भूमि का है जहाँ पर वृक्ष भूमि पर खड़ा दीखता है। भू प्रथम पाद है, भुवः द्वितीय पाद, स्वः तृतीय पाद है, महः चतुर्थ पाद, जनः पञ्चम पाद है, तपः षष्ठ, तब सत्यम् (या व्यक्तब्रह्माण्ड) सप्तम पाद। यह वैदिक दर्शन की सप्तपदी है। इस सप्तपदी में पूरे ५० तत्त्व आ जाते हैं। उक्त उपनिषद् गायत्री को त्रिसुपर्ण नाम से पुकारता है, ये तीन सुपर्ण,-गरुत्मान् (अत्रि २४ वां) सुपर्ण (सूर्य २५ वां) और दिव्यः सुपर्ण (२६ वां सविता) है। 'द्वासुपर्णा सयुजा सखायः' के दो सुपर्ण अन्तिम हैं। 'भूः' को साक्षाद् ब्रह्म कहने का प्रमाण शतपथ ने इस प्रकार स्पष्ट दे रखा है "स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवत् भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत् स्वरिति सासौ द्यौरभवत्" (११-१-६-३) कि प्रलयकाल में सर्व प्रथम वाणी जिसका ब्रह्म ने उच्चारण किया वह थी 'भूः' उससे भुवः नामकी (पृथिवी धरातल तत्त्वों का) प्रगट हुई, प्रथम को अन्तरिक्ष भी कहते हैं, भुवः को पृथिवी या वेदि भी, और द्यौ से,

उसी ब्रह्म से तब तृतीय पद 'स्वः' उत्पन्न हुआ। यहां ब्रह्म के प्रथम तीन पदों की चर्चा है जिन्हें "गुहा त्रीणि निहिता" कहते हैं*। ये पद प्रथम तीन पादों के संकेतक हैं हमारी मिट्टी की भूमि की कहीं भी चर्चा ही नहीं है।

ब्रह्मोपनिषद् ने गायत्री ब्रह्म की जितनी चोखी व्याख्या दी है; सम्भवतः उतनी किसी अन्य ग्रन्थ ने नहीं। उसने हमारे शरीर में गायत्री ब्रह्म के पादों का स्थान बतलाते हुए गायत्री ब्रह्मसूत्र की बड़ी ही अनमोल व्याख्या प्रस्तुत की है जो ध्यान देने योग्य है "अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्द्धा च। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्"

७—ब्रह्मोपनिषद् में गायत्री व्याख्या

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुरिति॥
यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद् योगी योगवित्तत्वदर्शिवान्॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते।
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा॥
स शिखीत्युच्यते विद्वान् नेतरे केशधारिणः।
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः॥
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्।
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्॥
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः।
इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्॥
स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञस्तं यज्वानं विदुः॥"

(ब्रह्मोपनिषद्)

---

* चत्वारि वाक् परिमिता पदानि के 'गुहा त्रीणि निहिता' पद यही भूः, भुवः, स्वः है, इसका ही नाम पद या पाद है।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् ने उक्त उद्धरण 'सशिखं वपनं' से लेकर 'इति ब्रह्मविदो विदुः' तक ज्यों का त्यों उद्धृत करके दे रखा है (७७ से ८५ तक)। इसी पाठ को पुनः 'परम ब्रह्मोपनिषद्' ने भी श्लोक १ से ९ तक दुहरा रखा है। शाट्यायनीयोपनिषद् ने गायत्री को ज्ञान यज्ञ बतलाते हुए लिखा है "ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयःसर्वयज्ञोत्तमोत्तमः। ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥ शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम्॥" (१६, १७)। सरस्वती रहस्योपनिषद् में सरस्वती वाक् और चत्वारि वाक् को गायत्री के रूप में वर्णित किया है। अब आपने गायत्री के पूरे महत्त्व को जान लिया होगा कि इसके जनेऊ के सूत्र ब्रह्मज्ञान के तत्त्वों के सूत्र हैं और हमारी शिखा ज्ञान-दीप की शिखा है।

८—अजपा गायत्री

योगियों के प्राण, योगचूडामणि उपनिषद् ने साक्षात् व्यक्त स्वरूपिणी गायत्री की अद्भुत व्याख्या देकर वैज्ञानिक और दार्शनिक चमत्कार दिखलाया है। इसका कहना है कि 'गायत्री ब्रह्म' प्राण, उदान और अपान स्वरूपी है; प्राण हमारे शरीर को ऊपर खींचता है, अपान नीचे को, जिससे हमारे शरीर की गति कन्दुक के समान उत्थान-पतन स्वरूपिणी है। प्राण हकार रूप में बाहर आता है तो अपान सकार रूप में उसे नीचे या भीतर घसीट ले जाता है। अतः यह बेचारा जीवात्मा प्रतिक्षण 'हं+स' का जप सा करने को बाध्य होता है। इसी 'हंस' का जप ही हमारे सच्चे जीवन, चेतना, गति या ज्ञान का मूल स्रोत है। इस जप या गति या ज्ञान कणों की संख्या एक दिन में ७२०००० बतलाई गई है। यह जप लहरी के समान है। अतः इसकी परम्परा ही चेतना और ज्ञानपरंपरा को, स्मृति, मेधा, बोध आदि में संचित करती रहती है, यह लहरी जब से चली तब से अटूट रहती है, यही अविच्छिन्नता की तान या गुण या संतान या पंक्ति ही हमारी बुद्धि, विवेक, स्मृति, मेधा या बोध आदि की संरक्षिका रेखा है। इसका नाम अजपा गायत्री (ब्रह्म) है। इसकी उत्पत्ति कुण्डलिनी (भौतिक शब्द ब्रह्म) से बताई गई है। जो इस ज्ञान से युक्त है वही सच्ची गायत्री का ज्ञाता है। इस अजपा गायत्री का विवेचन 'निर्वाणोपनिषद्' भी देता है। इस अजपा गायत्री की व्याख्या इस श्लोक से होती है।

"सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा।
नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम्॥"

इस 'हंस' ध्वनि को यह अनाहत हंस ध्वनि कहता है (२७) योगचूडामणि का प्रसिद्ध उल्लेख इस प्रकार दिया हुआ मिलता है।

"आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति॥

ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः॥

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः॥

एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा॥

अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः॥

अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।
कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी॥

प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः॥

ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति···।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह॥

सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया···।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥

योगचूडामणि २७–३९

जिस अजपा गायत्री का विवेचन उक्त उपनिषद् दे रहे हैं, वह गायत्री शरीरिणी है, पाञ्चभौतिक है और पारमाणविक है। अतः इसकी जागृति में कुण्डलिनी, सुषुम्ना और ब्रह्मरन्ध्र भेदन की आवश्यकता बतलाई गई है। जिस गायत्री का ध्यान 'सविता' तत्त्व के रूप में 'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यमित्यादि' मन्त्र से की जाती है। वह पारमाणविक या पाञ्चभौतिक नहीं है, वह यद्यपि शरीरिणी भी नहीं है। दिव्य शरीरिणी माने वह तत्त्व होता है जो भौतिक ब्रह्माण्ड का भौतिक तत्त्व है। इसका नाम दिव्य शरीर केवल इसलिए पड़ा है कि इसकी उत्पत्ति तृतीय पाद से होती है। तृतीय पाद का नाम स्वः या दिव् है। अतः इस प्रथम भौतिक मौलिक तत्त्व को 'दिव्य' या दिव्य शरीर कहते हैं। इसमें अखिल ब्रह्माण्ड के नाना जड़-जीवों के दिव्य शरीर 'मधु' की तरह (नाना फूलों के रसों के ऐक्य की तरह) 'एक' रूप में रहते हैं। यह 'एक रूप' केवल

९—गायत्री और दिव्य शरीर

वैद्युतीय ऋत और सत्यशरों के प्रचण्ड ताण्डवनृत्य रूप में रहता है। परन्तु जिसे ॐ या गायत्री ब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप कहते हैं वह तो उक्त वैद्युतीय-शरों के ताण्डव नृत्य से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इतना सूक्ष्मतम है कि जिसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह अभौतिक है। केवल ऋतशर या ऋतविद्युत् या मधुविद्युत् स्वरूप है, प्रमाण परिमाण हीन है, अतः व्यापक है। दिव्य शरीर भी व्यापक है पर उसमें प्रमाण के लक्षण या भौतिकता के चन्द्र का उदय हो गया है। यदि दिव्य शरीर अणु है तो ॐकार 'अणोरणीयान्' है; परन्तु यह तो तैजसात्मा मात्र का विवेचन हुआ; अभी तो २४ सीढ़ी ऊपर 'ब्रह्म' है, ९ वीं सीढ़ी में प्राणात्मा है। इन्हें क्या कहें ? प्राणात्मा को यदि 'महान्' शब्द से पुकारें तो ब्रह्म को केवल 'महतोमहीयान्' मात्र कह सकेंगे। 'ब्रह्म' की सर्वतोमुखी व्याख्या देने का यहाँ स्थान नहीं है। वह तो वैदिकों के ब्रह्म सूत्र की व्याख्या के अवसर पर दिया जायगा।* यहाँ तो गायत्री ब्रह्म की केवल रूपरेखा मात्र प्रस्तुत की गई है। उपनिषदों का वाक्य 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' केवल एक तत्त्व का विवेचन नहीं देता, यह संक्षेप में चतुष्पाद् ब्रह्म या चतुर्धात्मा की व्याख्या 'सूत्र' रूप में करता है। इस प्रकार दिव्य शरीर (चतुर्थ पाद) अणु है, ॐकार (तृतीय पाद) अणोरणीयान् है; जीवात्मा, (द्वितीय पाद) महान् है। ब्रह्म (गायत्रीब्रह्म) जिसे एक पाद या प्रथम पाद कहते हैं, वह महतोमहीयान्† या 'ऋतं बृहत्' है। ऋत् माने ऋतशरीय मधु वैद्युतीय स्वरूपी, बृहत् माने वाग्ब्रह्म धर्मी (बृहतां वाचां पतिर्बृहस्पतिर्वै ब्रह्म) है। यह ब्रह्म प्राण-मय ऋतशरीय विद्युत् है, इस ऋतशरीय बृहत् की अनिर्वचनीय गतिविधि ही को 'गीते गायति' कहते हैं, उस गीत या संगीत की परम्परा को नित्य अखण्ड काल तक नेति-नेति रूप में संचालित करने वाले को उसका त्राता कहा जाता है। अतः उसे 'गायत्री' नाम से पुकारा गया है। यह अर्थ है 'गायति च त्रायते च गायत्री' और 'गयाः प्राणाँस्तत्रे गायत्री' का या 'गायत्रीब्रह्म' का। हम गायत्री मंत्र का जप ऊँचे स्वर में क्यों नहीं करते ? इसका मुख्य कारण यह है कि गायत्री ब्रह्म अनिरुक्त अभौतिक तूष्णीं और उपांशु रूप शब्द ब्रह्म का विकास देता है। उसके विकास की परम्परानुकूल जप भी तदनुरूप अनुच्च-रित ध्वनि में करना जप की वैज्ञानिकता की प्रतिष्ठा करता है। ऐसी ध्वनि अजपा गायत्री के समान पूर्ण मन्त्र को 'हंस' रूप में ही परिणत कर देती है। इसलिए यह श्वासीय योजना रखी गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों को 'गायत्री इतनी प्यारी थी कि उन्होंने पृष्ठ-पृष्ठ पर इसका जप सा कर रखा है जिसे प्रायः कम लोग समझ पाते हैं। उनकी दी हुई

---

* वैदिकों के वास्तविक ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद ४ सूत्र १, २ और ३ देखें।

† महान् और महतोमहीयान् शब्द भौतिकता हीन ब्रह्म सृष्टि या तत्त्व के निर्देशक हैं, ॐकार इनसे स्थूल है या भौतिक अणु से सूक्ष्म।

१०—गायत्री के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में कथायें

श्रद्धाञ्जलियों की झाँकियाँ बड़ी विस्तृत हैं। यहां विस्तार-भय से संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। उन्होंने गायत्री के बारे में अनेकों कथानक गढ़े हैं जिन्हें अपनाना हमारे पुराण भी भूल गए हैं* । ऐतरेय ब्राह्मण (३-३-२५, २६) लिखता है कि राजा सोम (सविता) किसी लोक में था, उसे लाने के लिए अनेक छन्दों को भेजा गया सब विफल रहे, केवल गायत्री उसे ला सकी। अतः 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममभ्याहरत्' की कथा कही गई है। सुपर्ण २५ वां तत्त्व बनकर गायत्री २६ वें सोम या सविता रूप में परिणत हुई, यही इसका भाव है। यही ब्राह्मण ३-३-३४, और ४-३-२० में 'ब्रह्म वै गायत्री' कहता है, इसी वाक्य को ६-३-१४ में फिर दुहराता है। शतपथ ने लिखा है कि सोम साम का वशीभूत होकर गन्धर्वों में मिल गया। उसे लाने में सुपर्णी (गायत्री) और कद्रू में बाजी लगी। गायत्री या सुपर्णी वाणी रूप स्त्री बनकर गन्धर्वों के यहां से सोम को ले आई (३-२-३ पूरा)। ४-२-३-३० में यह लिखा है कि २४ अक्षरों की गायत्री, ब्रह्म का शिर 'श्रीः' है "तस्या एषः शिरः श्रीवै शिरः"। ४-२-३-२१ और ३-५-१ पूरे में पुनः सुपर्णी और कद्रू का आख्यान दुहराया गया है। सोम लाने के उपलक्ष्य में 'गायत्री' को संध्या काल में जपे जाने का पुरस्कार दिया गया। ३-७-५-१० में कहा है कि 'गायत्री श्येनो भूत्वा सोम आजहार' यहां सुपर्णी के स्थान में वह श्येन (अत्रि २४ वां तत्त्व बनकर) सोम को लाई। इन लम्बी-लम्बी कथाओं का एक मात्र तात्पर्य यह है कि गायत्री के त्रिपादों के २४ तत्त्वों के अनन्तर ही सुपर्ण रूप भौतिक सृष्टि के दिव्य शरीर का प्रथम जन्म २६ वें सविता या सोम नामक तत्त्व में होता है। इसके देव रूप को चन्द्र, सोम, सविता, विष्णु कहते हैं; इसी के प्रतिकूल स्वरूप या भयंकर रूप को वृत्र, असुर, विश्वावसु, कद्रू, दानव, अहि आदि। हमारे वैदिकों ने जिन ३३ देवों की कल्पना की है, उन सब की माता भी यही गायत्री है। ये देव ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति या वषट्कार हैं। इनकी उपासना के निमित्त इन्हीं विभिन्न संख्याओं के पादों की गायत्री मानी जाती है। प्रथम आठ अक्षरों का पाद वसुओं का है, द्वितीय ११ अक्षरों का रुद्रों का, तृतीय १२+२= १४ अक्षरों का आदित्यों का, इन्हें—

'वसूनां प्रातःसवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्।
आदित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्'॥
(छा० उप० २-२४-१)

कहते हैं। बृहदारण्यक इसे अनुष्टुप् गायत्री कहता है (२-१४-५, ६)। इन सबका स्पष्ट वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण निम्नलिखित वाक्य द्वारा देता है—

"ते वा इमे इतरे छन्दसी गायत्रीमभ्यवदेतां वित्तं नावक्षराणि अनुपर्यागुरिति······तद्गायत्र्यै मध्यन्दिने यन्मरुत्वतीयस्योत्तरे प्रतिपदो यश्चानुचरः सैका-

* कथानकों के सूचित ग्रन्थों के प्रकरणों में देख लें।

दशाक्षरा भूत्वा माध्यन्दिनं सवनमुदयच्छं; नाशक्नोज्जगत्येकाक्षरा। सा द्वादशाक्षरा भूत्वा तृतीयसवनमुदयच्छत् ....य एवं वेदैकं वै स तत्त्रेधा भवत्" (३-२८)

गायत्री के उक्त तीन सवनों में गायत्री के नाम भी बदल दिए गये हैं—प्रथमपाद गायत्री (गयांस्तत्रे इति), द्वितीय पाद में सावित्री (क्योंकि इस पाद या रुद्रों के ११ तत्त्वों में २० वें से सविता को प्रसव की तैयारी हो जाती है। तृतीय पाद या १२ आदित्यों के चरण को 'सरस्वती' कहते हैं; क्योंकि २४ वें से सरस्वती का प्रसव हो जाता है। पुराणों में इस प्रकार का तात्त्विक विभाजन केवल मार्कण्डेय पुराण के दुर्गासप्तशती में ही उपलब्ध होता है जिसमें उक्त नामों के स्थान पर महाकाली (गायत्री), महालक्ष्मी (सावित्री) और महासरस्वती (सरस्वती) दिया गया है। दुर्गा नाम वैदिक है जैसे :—

'जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः'॥
(ऋ० वे० १-९९-१)

यहाँ दुर्ग 'सप्तकों' का नाम है, उसी को पुराण 'सप्तशती' नाम से व्यापृत कर कहता है। गीता भी इन दुर्गों का नाम लेती है "मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।" (१८-५८) इस प्रकार गीता और दुर्गासप्तशती नीहारावृत ब्रह्म दर्शन हैं। गीता ने तो उक्त समस्त शैलियों तक का नाम लेते हुए 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥" (१३-४)

यहाँ पर वर्णित ऋषियों का बहुधा गान ऋग्सामयुर्जुवेद के मन्त्र हैं, छन्दोभिः=गायत्री ब्रह्मप्रभृति से पृथक्-पृथक् विवेचन है जैसे विराट् छन्द से विराट् ब्रह्म विवेचन (४० तत्त्व तक); जगती छन्द से जगती ब्रह्म का विवेचन ४८ तत्त्व तक गायत्री से २४, २४ तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-परार्द्ध का विवेचन। 'ब्रह्मसूत्र' २७+२७=५४ सूत्रों के ब्रह्म व्याख्याता मंत्र जिनमें ब्रह्म व्याख्या, गायत्री के पादों और सूत्रों में गणित करके रखी गई है, जिन्हें हेतुमान्, वैज्ञानिकों या ब्राह्मण ग्रन्थों ने छानबीन कर परख लिया था।" उनके अनुसार वैदिकों के तत्त्व—"महाभूतान्यहंकारो इत्यादि........एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् (१३-५, ६) हैं। यहां पर दिया गया 'ब्रह्मसूत्र' नाम उक्त वैदिक ब्रह्मसूत्र का संकेतक है। इसलिए स्वयं स्पष्ट है कि जिसे इसके निर्माता ऋषियों ने छन्दोबद्ध संगीतमय वेद द्वारा संगीत कहा है, वह ग्रन्थ लुप्त हो गया है।

गायत्री जप के लिए केवल चार मंत्रों को वरिष्ठता दी गई है जिनमें सर्व प्रसिद्ध 'तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियोयोनः प्रचोदयात्' है। इसमें

११—गायत्री मंत्र की प्रसिद्ध व्याख्या

शब्दब्रह्म विकास की भी जादूगरी है जिसे साधारण पाठक समझ भी न सकेंगे, न उतना विशद स्थल यहां उपलब्ध है। इस मंत्र में मुख्य शब्द तीन हैं 'वरेण्यम्' 'भर्गो' और 'धियः'। इन्हीं पर समस्त दर्शन आधारित है। 'वरेण्यम्' का अर्थ लोग श्रेष्ठ समझते हैं, यह गलत है, 'वरेण्यम्' 'वृ' धातु से 'वृणुते-वृणोति' से है जो स्वीकार करता है या जो व्याप्त है या घेर लेता है। यह वैदिकों के 'अप्' शब्द के बदले प्रयुक्त हुआ है 'वाः' (वृ.) और 'अप्' शब्द की व्याख्या में शतपथ ने लिखा है—

"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकाद् वागेवास्य सासृज्यत,
सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किं च यदाप्नोत्तस्मादापो यदवृणोत्तस्माद्वाः"
(६-१-१-९)

कि जिसने सब कुछ आप्त या व्याप्त कर लिया; वह अप् या आत्मा (वाक्) कहलाई, वही जब सबको समन्तात् घेर लेती है या व्याप्त कर लेती है तब वाः, वारि या वरेण्यम् कहा जाता है। वरेण्यम् माने व्याप्तधर्मा प्रथमपाद का वाग्ब्रह्म है। भर्गस् शब्द द्वितीय पाद के जीवात्मा की व्याख्या देता है। इसकी व्याख्या मैत्रायणी उपनिषद् सर्वोत्तम देता है—

"अथ भर्ग इति यो ह वा अस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकेऽक्षिणि (चक्षुः सत्यं) चैष भर्गाख्यो भामिर्गतिरस्य हीति भर्गो भर्जति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भर्ग इति भासयतीमाँल्लोकानिति रञ्जयतीमानि भूतानि गच्छत इति गच्छत्यस्मिन्नागच्छत्यस्मा इमाः प्रजास्तस्माद्भारकत्वाद् भर्गः ।।" (५-७)

यहां भर्ग माने रुद्र दिया है जिसके अर्थ भासमान, भर्जनशील, भास्वान्, भौतिक या भारकवान् दिये हैं। भर्ग माने रुद्र है तो रुद्र की व्याख्या यह है 'कुमारो नवमो रुद्रः'(श. प. ब्रा. ६-१-३-१८, ६-१-३-९, १०)। प्राणात्मा "प्रथमं समिद्धो यो धूप्यत इव तर्हि भवति रुद्रः" (श. प. ब्रा. २-२-४-९)। रुद्र नवम तत्त्व है, उदान या वातात्मा का प्रतिनिधि है। यह द्वितीय पाद का प्रथम तत्त्व है, द्वितीय पाद द्विसमिधों का होता है। वे ब्रह्म और जीवात्मा हैं, जिन्हें दो अरणियाँ कहते हैं, इनकी रगड़ से अग्नि के सर्वादि रूप, प्रथम समिद्ध रूप—जो धूप की तरह मन्दाग्नि रूप अग्नि भासमान होती है। उस रुद्र या भर्जनात्, संघट्टनात्, उद्दीप्त अग्नि को भर्ग कहते हैं : (श. प. ब्रा. में लिखा है कि 'अग्निर्वै भर्गो वायुर्मह आदित्यो यशो, येऽन्ये लोकास्तत्सर्वम्। येऽन्ये देवास्तत्सर्वम्। ऋग्वेदो वै भर्गो यजुर्वेदो महः सामवेदो यशः अन्ये वेदास्तत्सर्वम्" अक्षिता वै लोका अक्षिता देवा अक्षिता वेदा अक्षिताः प्राणा अक्षितं सर्वम्। ये वाक्य भी उक्त बात का समर्थन ही करते हैं। इसी भर्ग माने वाक् भी लिखा है वाग्वै भर्गः। 'धीः' शब्द भौतिकात्मा सांख्य की प्रकृति या बुद्धि का वाचक है। तृतीय सप्तक व्यान रूप प्राणाग्नियों का है। व्यान प्रणाग्नियाँ अजपा

गायत्री की तान से अविछिन्न रूप रेखा में ज्ञान से स्मृति, मेधा, धी, बोध, विवेक ज्ञान की जननी होती हैं, पर आध्यात्मिक स्वरूप में, भौतिकता में नहीं। यह पहिले बतलाया जा चुका है। अतः "जो गायत्री ब्रह्म' प्रथम सप्तक में उक्त व्याख्यान के वरेण्य रूप में, द्वितीय पाद में, गर्भ रूप प्रथमसमिद्ध धूपिताग्नि रूप में प्रज्वलित होकर तृतीय सप्तक में आध्यात्मिक अजपा गायत्री की अविछिन्न लहरी का त्राण करता हुआ, हममें हमारे दिव्य शरीर को उत्पन्न करता है या हमारे देह के तत्त्वों के आधारभूत भौतिकात्मा-को सम्पन्न करता है। उस भौतिक दिव्य शरीरी सविता का हम बराबर ध्यान करते हैं।" यह उक्त मन्त्र का वैदिक अर्थ है। अन्य मंत्रों का भी लगभग यही अर्थ है, 'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो' में 'वर्तमान' शब्द 'वरेण्यम्' का प्रतिनिधि है। स यद्वर्तमानः समभवत् तस्माद्वृत्रो नाम' (श. प. ब्रा. ५-४-६-२ से ८) वृत्र=वर्तमान, वृत्र=वृणोतेः; 'आ कृष्णेन रजसा'=भर्गः अमृतं=त्रिपाद, मृतं २५ वां तत्त्व भौतिक सूर्य का दिव्य शरीर इत्यादि। हिरण्येन रथेन भौतिकेन प्राणेन पश्यन् देवः पश्यन्ती देवता मध्यवर्ती तत्त्व उभयपक्ष द्रष्टा, § भुवनानि याति, अगले भू, भुवः, स्वः भुवन स्वरूपों को प्राप्त होते जाते हैं (गुहावाद देखें)

प्राचीन भारत में गायत्री ब्रह्म की कितनी प्रतिष्ठा थी, कितना मान रहा, इसका पता हमारे यहां के विख्यात पर्व श्रावणी उपाकर्म की अद्भुत विधि और विधान तथा ज्ञान सागरीय कर्मकाण्ड से लगाया जा सकता है। सबसे पहिले हेमाद्रि संकल्प एक अलौकिक प्रस्तावना रखता है। यह हैरण्यगर्भीय गंगास्नान की अवतारणा का एक प्रमुख ढंग है। सूर्योपस्थान में तो वैदिक दर्शन का निचोड़ एक साथ रख दिया गया है। इसमें वैदिक दर्शन के मुख्य-मुख्य तत्त्वों, मुख्य-मुख्य शाखाओं और संप्रदायों के ब्रह्मविषयक नामावलियाँ तथा विचार धाराओं को एक-एक करके चुन-चुन, बुन-बुन कर ऐसे संगठित रूप में रखा गया है कि जो इतना ही अच्छी तरह समझ-बूझ ले तो उसे वैदिक दर्शन का बहुत कुछ क्या, मुख्य विषय सब अवगत हो जायँ।

१२—गायत्री और उपाकर्म

गायत्री अक्षर ब्रह्मरूपिणी है। ऋग्यजुःसाम इसके पाद हैं। पूर्वार्द्ध के स्वरमय, स्फोटमय, योगमय, ध्वनियां इसके अमृत अक्षर हैं। उत्तरार्द्ध में शक्वरी के मर्त्याक्षरव्यञ्जन रूप हैं। पूर्वार्द्ध 'ॐकारमयी गायत्री' है। अतः यह त्रिपाद् रूप त्रिवृत् है। प्रत्येक पाद अग्नि,

१३—गायत्री के सूत्र

* चतुर्थ सप्तक 'देवरथ' कहलाता है।

§ यह मंत्र सविता तत्त्व की प्रार्थना है। यही सूर्य है सूर्य २५ वां तत्त्व है। जिसे विषुवत् कहते हैं, दोनों ओर देखा जा सकता है और पश्यन् देव कहलाता है (ऋ० वे० ५-६-२-८ देखें।

और गायत्री के पादों तथा वाक् के पदों का भेद

वायु, सूर्य के हैं। प्रत्येक वाक, प्राण, मनस् का त्रिवृत् है। अतः जनेऊ रूप गायत्री ब्रह्म में २७ सूत या सूत्र होते हैं। यह तेज, अप, और अन्न के अणिष्ठ रूपों का 'त्रिवृत्-त्रिवृत्-त्रिवृत्' (३×३×३=२७) सूत्रों की गायत्री है। वाक् के पदों और गायत्री के पादों में बड़ा भारी अन्तर है। विष्णु के तीन पद या विक्रम या क्रम या विक्रमण का नाम पद है, पाद नहीं है। पद नाम सप्तकों का है जिसके तीन पदों में केवल २३ ही अक्षर या तत्त्व होते हैं। परन्तु गायत्री के तीन पादों में २४ अक्षर या तत्त्व होते हैं। अतः यह गायत्री २४ वें तत्त्व में चतुर्थ पद का भी दर्शन अपने तीन ही पादों में करा देती है। इसीलिए गायत्री को 'दर्शत चतुर्थ पदा' कहा गया है (बृह. उप., छा. उप. पीछे देखें)। पाद तो छन्दों के होते हैं जैसे गायत्री, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती इत्यादि और पद बिना नाप या निश्चित अक्षरों के सप्तकों के नाम हैं। सप्तकों में किसी में ६, किसी में ७, किसी में ८ अक्षर होते हैं, परन्तु छन्दों के पादों में निश्चित अक्षर होते हैं। इस प्रकार पदों और पादों में महान् अन्तर है, इस बात को नहीं भूलना चाहिए। जैसे विष्णु पदों का ही विक्रमणकारी है, पादों का नहीं, यह निश्चित है।

१४—गायत्री सम्बन्धी श्रुतियां

गायत्री के सम्बन्ध में निम्नलिखित सामग्री मनन के लिए उद्धृत कर दी जाती है जिससे पाठकों को अपना निर्णय कर लेने में सुविधा होगी। 'प्राणो वै गायत्री' (श. पा. ब्रा.६-४-२-५ आदि कई स्थलों में) 'अग्निर्वै गायत्री' (श. प. ब्रा. ३-४-१-१९ इत्यादि) 'गायत्रो वा अग्निः' (श. प. ब्रा. १-८-२-१३) 'गायत्रच्छन्दा ह्यग्निः' (ताण्ड्य ७-८-४) 'गायत्रं वा अग्नेश्छन्दः' (श. प. ब्रा. १-३-५-४) गायत्रो वै ब्राह्मणः (ऐ. ब्रा. १-२८) ब्रह्म हि गायत्री (ताण्ड्य ११-११-९; ब्रह्मवर्चसं गायत्री (ऐ. ब्रा. १-५, कौ. १७-२, ९) तेजो वै गायत्री (ताण्ड्य १४-१०-६; गो. उ. ५-३; तै. ३-९-४-६) ज्योतिर्वै गायत्री छन्दसां (ता. १३-७-२, कौ. १७-६) दविद्युतवती वै गायत्री (ताण्ड्य १२-१-२) वीर्यं वै गायत्री (ताण्ड्य ७-३) शिरो गायत्री, गायत्रं हि शिरः (श. प. ब्रा. ८-६-२-३, ६) गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शिरः (श. प. ब्रा. १०-३-२-१) मुखमेव गायत्री (कौ. ११-२ ताण्ड्य ७-३-७) त्रिपदा गायत्री (ताण्ड्य १०-५-४) अष्टाक्षरा गायत्री (ऐ. ब्रा. २-१७) चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, वसवो गायत्रीं समभरन् (जै. उ. १-१८-४) गायत्री वसूनां पत्नी (गो. ३-२-९) गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः (ता. १५-१०-५) 'गायत्री वै रेवती' (ताण्ड्य १६-५-१९) गायत्रो वै मैत्रावरुणः (ताण्ड्य ५-२-१५) 'पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य गायत्री' (श. प. ब्रा. ३-५-१-१०) यज्ञो वै गायत्री (श. प. ब्रा. ४-२-४-२०) 'गायत्रं वै प्रातःसवनम्' गो. उ. ३-१६) गायत्रो वै पुरुषः (ऐ. ब्रा. ४-३) गायत्रा वै पशवः तै. ३-२-१-१) इमे

वै लोका गायत्री (ताण्ड्य १५,१०-९) सा गायत्री समिद्धान्यन्यानि छन्दांसि समिन्द्धे (श. प. ब्रा. १-३-४-६) गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांसि (ताण्ड्य ८-४-४) या द्यौः साऽनुमतिः सो एव गायत्री (ऐ. ब्रा. ३-४८) गायत्र्या वा देवाः पाप्मानं शमलमपाघ्नत' (ऐ. ब्रा. २-१७) ॥ भर्ग नाम पृथिवी, ऋग्वेद, होता, अग्नि, वसु, वाक , वसन्त, गायत्री, प्राची, आदित्य, विष्णु, चन्द्रमा, सोम, वीर्य और अन्त का है , ये त्रिवृत् हैं। ये अर्थ विभिन्न ब्राह्मणों में उल्लिखित हैं।

अध्याय २४

दाशराज्ञ-युद्ध

वेदों का दाशराज्ञ युद्ध बहुत बड़े महत्त्व का है। वेद नाम तो स्वयं 'ब्रह्म' का ही है—'वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः' (यजु. २-२१)। अतः मन्त्रात्मक वेदों में तत्त्वात्मक वेद या ब्रह्म व्याख्या प्रधान रूप से विद्यमान है। पर मन्त्रात्मक वेद कोश ब्रह्म व्याख्या का सूत्र ग्रन्थ भी नहीं है। मन्त्रात्मक वेद को रहस्यात्मक रूप दिया गया है, रहस्य रखने के लिए पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है, पृष्ठभूमि में मुख्यतत्त्व सामाजिक इतिहास होता है। इतिहास में परम्परागत कथानक पुराण का रूप ले लेते हैं। अतः वैदिकों ने अपने इतिहास और पुराण की पृष्ठभूमि को आनन्दमय, रसमय बनाने के लिए उसमें काव्य की अप्रतिम प्रतिभा, कल्पना और संगीत का रमणीय पुट चढ़ाया है। इस प्रकार हमारे तन्त्रात्मक वेद वैदिक आर्यों की पूर्ण संस्कृति—इतिहास, पुराण, गाथा, काव्य प्रतिभा, कल्पना और संस्कृत के सम्मिश्रित अलौकिक स्वर्गीय दिव्य महल हैं। जिन ऋषियों के नाम वेदों में आते हैं वे ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं, ब्रह्मविकासीय तत्त्व भी। जिन नदियों, पर्वतों, स्थानों, जातियों आदि के नाम उसमें हैं, वे ऐतिहासिक तथ्यों का भी उद्घाटन करते हैं और साथ-साथ भारतीय आर्यों के ब्रह्मदर्शन के विभिन्न तत्त्वों का क्रमिक विवेचन भी नाना प्रणाली से देते हुए उसे अद्भुत भूल-भुलैया सा बना देते हैं। इस प्रकार हमारे वैदिकों का 'दाशराज्ञ' युद्ध मुख्यतः दो प्रकार का है। (१) ऐतिहासिक (२) दार्शनिक। दो भागों में विभक्त है—(१) आर्यों और अनार्यों के सम्मिलित एक राज्य से, दूसरे दल के आर्यों का युद्ध ऐतिहासिक युद्ध है। अब दार्शनिक दाशराज्ञ-युद्ध दो प्रकार से वर्णित हैं। (१) चतुर्थ सप्तक के शूद्र तत्त्वों को वृत्रादि को दास कहकर और उनके ब्रह्मों को आर्य, इन्द्रादि नाम से पुकार कर (२) तृतीय सप्तक के असुर नामक तत्त्वों को दस्यु नाम से पुकार कर जैसे पणि, शम्बर, पिप्रु आदि और ब्राह्म तत्त्वों को इन्द्र शतक्रतु कह कर। इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार दिया गया है।

१—वेद और उनके रहस्य की पृष्ठभूमि

दाशराज्ञ-युद्ध वैदिक आर्यों का अवैदिक आर्यों और अनार्य राजाओं के साथ हुआ था। यद्यपि इनके युद्धस्थल का एक नाम हरियूपीया (ऋ. ६-२६-८) दिया गया है और उसका निर्धारण किया जा सकता है। इसीलिए दाशराज्ञ युद्ध के वर्णन के अवसर पर प्रतिद्वन्द्वी दस अवैदिक आर्य और अनार्य राजाओं को 'अयज्यवः' नाम से पुकारा गया है। जैसे "दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः" (ऋ. वे. ७-८३-

२—दार्शनिक दाशराज्ञ युद्ध किन में हुआ ?

७)। ये दस राजा कौन थे? इनका पता दूसरी ऋचा से लग जाता है। शतपथ ब्राह्मण जिस देवासुर संग्राम को केवल माया या रहस्यवाद का आधार बतलाता है, दूसरी ऋचा 'अदेवयून् का समरण (युद्ध) कहती है जैसे 'नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयन्त्समरणे जघन्वान्। यदावाख्यत्समरणमृधावदादिद्ध ये वृषभा प्र ब्रुवन्ति।' (ऋ. वे. १०-२७-३)। अतः वे दस राजा वृत्रादि अनार्य और अवैदिक आर्य दस राजा हैं। इसीलिए कहा है 'वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा। (ऋ. वे. ७-८३-९)। अब यह रहस्य खोलने का अवसर आ गया है कि इन्द्र तत्त्व यहां पर 'इन्द्रं मित्रं वरुणं'.....मातरिश्वानमाहुः' (ऋ. वे. १-१६४-४६) वाला हरिवो या हरियोजन इन्द्र ही है। उसका युद्ध शंबर, पिप्रु, नमुचि, धुनि, वल, रौहिण आदि दस मुख्य असुर तद्‌रूप राजाओं से होता है। हरियोजन इन्द्र दस तत्त्वों का प्रतिनिधि है। दूसरी बात यह है कि दिवोदास और सुदास् ये दो नाम पितापुत्र के हैं जिनमें से प्रथम तो सूर्यरूप हरिवो इन्द्र का प्रतिनिधि है, द्वितीय सोम नामक हरिवो इन्द्र का, इसकी पुष्टि में "अर्णांसि चित्प्रथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणोत्सुपारा।" और "ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीं...। सुदास इन्द्रः सुतुकाँ......" (ऋ. वे. ७-१८-५,९) ये ऋचायें यहाँ पर सुदास का तादात्म्य इन्द्र के साथ स्वयं कर रही हैं। यही विजयी होता है। अतः वृत्र हन्ता यही है, दिवोदास सुदास का पिता है। अतः सूर्य २५ वें तत्त्व रूप हरिवो इन्द्र का प्रतिनिधि स्वयं हुआ। हरियूपीया इसी परुष्णी के किनारे की युद्ध भूमि का नाम है। दाशराज्ञ युद्ध में वृत्रवध का वर्णन है, वृत्र का वध सरस्वती के किनारे हुआ है। अतः उसे वृत्रघ्नी (ऋ. वे. ६-६१-७) नाम से पुकारा गया है। सरस्वती का जन्म पूषा २४ वें तत्त्व से होता है "सरस्वत्यै पूष्णो" इसी सरस्वती के किनारे दिवोदास का स्थान है उसे 'अतन्नहेव सूर्यः' (६-६१-९) कहा भी है।

'दाशराज्ञ युद्ध' का नामतः उल्लेख केवल दो सूक्तों में आता है (ऋ. वे. ७-३३; और ७-८३), दोनों में वसिष्ठ ऋषि हैं। प्रथम का देवता भी वसिष्ठ ही है जिसमें उनका इन्द्र से संवाद है, द्वितीय का देवता इन्द्रा-वरुणौ हैं। वसिष्ठ जी तृत्सु कुल के पुरोहित थे "ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत् पुरोहितिः' (७-८३-४) इसका समर्थन "........दाशराज्ञे वृतासः। वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोदुरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम्" (७-३३-५) पूर्णतया कर देती है। इस दाशराज्ञ युद्ध में तृत्सुओं के साथ 'सुदास' की विजय हुई "यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह॥" (७-८३-६) पर भरत कुल के आर्यों को एकदम छिन्न-भिन्न कर दिया गया। "दण्डा इवेद् गो-अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः" पुरु नाम के भरत वंश के आर्य पहिले तृत्सुओं के अधीन प्रजा भी थे। उनको विश्वामित्र जी ने अन्य राजाओं का साथ मिला कर तृत्सुओं के विरुद्ध खड़ा किया जैसे (ऋ. वे. ७-३३-६) के

३—ऐतिहासिक दाशराज्ञ युद्ध किन में हुआ

उत्तराद्ध में लिखा है—अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ऐतिहासिक दश राजाओं के नाम युद्ध के संबन्ध में (ऋ. वे. ७-१८) में उल्लिखित हैं। लिखा है कि प्राचीन काल में एक बार तुर्वसु राजा ने मत्स्य, भृगु, भरत, द्रुह्यु से सन्धि कर के पथ्य, भलनस, भनन्ताविवस, विषाणी, त्रिवा पाँच अनार्य राजाओं को अपने साथ मिला लिया। सबने एक साथ 'तृत्सु' नामक आर्य राजा पर आक्रमण कर दिया।

"पुरोळा इत्तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव।
श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च सखा सखायमतरद्विषूचीः॥
आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः।
आ योऽनयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन् युधा नृन्॥"
(ऋ. वे. ७-१८-६,७)

*इस युद्ध में अनु 'द्रुह्यु' के ६६०० दल का सर्वनाश हो गया, शेषों ने हाथ जोड़ कर तृत्सुराज सुदास से मैत्री करली।

"अध श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्वनु द्रुह्युं नि वृणग्वज्रबाहुः।
वृणाना अत्र सख्याय सख्यं त्वायन्तो ये अमदन्ननु त्वा॥"
(७-१८-१२, १४)

यह युद्ध परुष्णी के किनारे हरियूपीया स्थान पर प्रारम्भ हुआ था! सरस्वती के किनारे वृत्ररूप द्रुह्यु वंश का वध हुआ और तब तृत्सु आर्य यमुना तक सीधे फैल गये "आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत्॥" (७-१८-१९) और पर्य्याप्त लूट मिली और जल की तरह आगे बढ़ते ही गये—"इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः"
(७-१८-१५)

उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना के गर्भ में एक दूसरा ऐतिहासिक तथ्य है। यद्यपि वैदिक काल में आर्यों के दस वंश प्रसिद्ध हो चुके थे पर उनके मूल वंश केवल तीन ही थे।

४—दाशराज्ञ-युद्ध का कारण

यदि दाशराज्ञ-युद्ध में प्रतिपक्षी दस आर्य-अनार्य राजाओं की विजय होती तो आज यहां एक भी मौलिक वैदिक आर्य न रह जाता, निरन्तर गृह युद्ध से वे नष्ट हो जाते। मौलिक वंशों में कुरु, तृत्सु और भरत ही थे। "त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।" (७-३३-७) वसिष्ठ जी केवल दो की रक्षा कर सके; तृत्सु और कुरु की—

वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः।
व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग्जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम्॥"
(७-१८-१३)

* वेदों में प्रायः 'अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु, पुरु, यदु' पाँच वंशों को एक साथ दिया जाता है जैसे "यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः" संभवतः ये ही 'अयज्यवः' हैं या अवैदिक हैं।

पुरुवंशी भरतों को मारा नहीं गया पर खदेड़ कर तितर-वितर करा दिया गया था। यह वसिष्ठ वंश के वीरों की रणचातुरी थी "आसन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः"। क्योंकि इसमें भरतों को 'बच्चा' या बच्ची अवस्था या बुद्धि का बतलाया गया है। वसिष्ठ जी की इस कमी की पूर्ति विश्वामित्र जी ने की। उन्होंने पुरुवंशी भरतों को पुनः आरोपित ही नहीं किया अपितु उनके राज्य का विस्तार मगध तक कर इसी बड़े काम के पुरस्कार रूप में भरतों की पुरोहिताई प्राप्त की।

यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुर्गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम्॥
अतारिषुर्भरता गव्यवः·········(३-३३-११, १२)

"य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥
विश्वामित्रा अरासत ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
करदिन्नः सुराधसः॥
किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥"
(३-५३-१२, १३, १४)

विश्वामित्र जी कुशिक या कोसक वंश के थे जिसे तृत्सु (वसिष्ठ के शिष्य) नीची दृष्टि से देखते रहे होंगे। वसिष्ठ जी के बड़प्पन का एक बहाना यह भी था कि ये विश्वामित्र जी तृत्सुओं के अधीन भरतों के गुरु थे। वेदों में उनके छोटे-बड़े की कहीं कोई चर्चा नहीं है। प्रत्युत विश्वामित्र जी की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है 'महान् ऋषि' 'देवजा' कहा है जैसे—

"महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात् सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत् सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः॥"
(३-५३-९)

यहाँ तक कहा है कि उन्होंने नदी और समुद्र का स्तम्भन कर दिया था। यह कहे बिना भी नहीं रहा जाता कि विश्वामित्र जी ने दाशराज्ञ युद्ध में दस राजाओं का साथ दिया जिसका संकेत श्लेष में इस प्रकार दिया गया है "अर्णांसि चित् प्रथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणोत् सुपारा" (७-१८-५) कि सुदास इन्द्र ने गम्भीर जलरूप गाधों या विश्वामित्र दलवालों को सुपारणीय बना लिया। क्योंकि विश्वामित्र जी इस दाशराज्ञ युद्ध में हार बैठे हैं। अतः वे इसकी चर्चा ही नहीं करते। दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन केवल वसिष्ठ जी ही देते हैं (७-३३, ७-८३)। विश्वामित्र जी उक्त युद्ध में दस राजाओं के साथ मिल जाने की अपनी बड़ी भूल समझते हैं। उसे वे बाद में सँभाल लेते हैं। पर वसिष्ठ जी के श्लेषमय 'गाधानि' शब्द के बदले विश्वामित्र जी ने कई ऐसे मन्त्र रच डाले जिनका ऊपरी धरातल का व्यर्थ का अर्थ—जिसे मीमांसक लोग उन मन्त्रों का

सच्चा या एकमात्र अर्थ—समझते हैं, ऐसे श्लेष से भरा जिनका वास्तविक अर्थ बिलकुल निर्दोष तथा सत्य की विवेचना करता है, पर श्लेष की प्रतिध्वनि को तो कोई रोक ही नहीं सकता। यह प्रतिध्वनि सुनने में ही अश्लील है। अतः वसिष्ठानुपथियों के लिये ये मन्त्र अश्रव्य कहे गये हैं। वे मन्त्र ये हैं :—(ऋ० वे० ३-५३-११, से २१, २२, २३)। सबसे अन्तिम मन्त्र की प्रतिध्वनि सबसे अधिक खटकने वाली है "नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गदर्भं पुरो अश्वान्नयन्ति।" जिन लोगों को इस मन्त्र में व्यंग अखरता है उन्हें वसिष्ठ जी के 'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि' इत्यादि *मंत्रों में (७-१०४-१५, १६) उनका पश्चाताप दीखता है। संभवतः वसिष्ठ जी पर ऐसा भी लाञ्छन लगाया गया हो वे अपने को 'मायातु' या रहस्यवादी होना स्वीकार करते हैं पर जो रहस्यवादी को यातुधान या स्वांग रचने वाला नीति कला का दास समझते हैं उन्हें वे इन्द्र द्वारा तुरंत वध कर देने की प्रार्थना करते हैं और उन्हें ऐसे राक्षस कहते हैं जो अपने को 'शुचि' कहते हैं जैसे यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह। इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन।" (७-१०४-१६)।

५—दिवोदास और सुदास कौन थे ?

अब प्रश्न यह उठता है कि दिवोदास और सुदास किस कुल के आर्य थे ? यदि ये तृत्सु होते तो विश्वामित्र जी इनके विरुद्ध रहते, यदि कुसिक होते तो वसिष्ठ जी इनको नहीं मानते। पर ये दोनों को परम मान्य हैं। यदि ये भरत वंशी होते तो ये दस राजाओं में होते और भरतों के साथ इन्हें भगा दिया जाता। अतः जैसे पहिले बताया जा चुका है कि दिवोदास और सुदास तो सोम राजा या आदर्श राजा के प्रतीक मात्र हैं। यहां पर इनके नामों के अन्त का 'दास' पद संकेतक है जिससे ये कोई इस नाम से ऐतिहासिक राजा होते हुए भी यहाँ पर सुदासवर्ग चतुर्थ सप्तक के सूर्य और सोम दोनों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इसीलिए इनके साथ हरिवो इन्द्र है। नहीं तो कहां इन्द्र, कहां आर्य ? यहाँ तो आध्यात्मिक विवेचन मात्र है। दसराजाओं के नाम तो रहस्य के ढाँचे के लिये स्वीकृत किये गये हैं। इन्द्र के सूक्तों में उन्हीं वृत्र, शंवर आदि के वध की चर्चा की गई है जिन्हें दाशराज्ञ युद्ध में सुदास, दिवोदास, त्रसदस्यु और आर्जुनिक कुत्स ने मारा है ऐसा लिखा है। इस विवेचन से वातावरण स्पष्ट हो जाता है कि वेदों का मुख्य विषय इन्द्रवृत्र युद्ध या आध्यात्मिक युद्ध है। दाशराज्ञ युद्ध—जिसका नाम सभी जगह नहीं दिया है, केवल दो स्थलों में मिलता है—केवल आपाततः समानता के आधार पर इसलिए टपका दिया गया है कि ऐसी घटना ऐतिहासिक भी घटी थी। यह घटना पर्दे का भी काम कर रही है।

---

* यातुधान माने स्वांग रचने वाला ढोंगी भौतिकता का दास होता है। यह अर्थ निम्न ऋचा से स्पष्ट हो जाता है।

"उलूकयातुं शशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥" (७-१०४-२२)

असली अर्थ पर्दे के भीतर है बाहर तो दसराजाओं के युद्धरूप पर्दा मात्र दिखाई दे रहा है। इस पद में कुछ नहीं हैं केवल थोड़ा सा इतिहास मात्र है। इस कथन के समर्थन के लिये आपको दूर जाने की आवश्यकता न पड़ेगी। आप उन्हीं सूक्तों का अच्छी तरह अध्ययन कर लें जिसमें वसिष्ठ, विश्वामित्र ने दाशराज्ञ युद्ध का नाम या संकेत दिया है, वे हैं ऋ. वे. ७-१८, ७-३३, ७-८३; इन्हीं में निम्नलिखित विवेचन मिलता है। यह दाशराज्ञ युद्ध तत्त्वों का युद्ध है। यह बात निम्न मंत्रों में सुदास और तृत्सुओं की व्याख्या तत्त्व रूप में दी गई है।

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः॥
वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा।"
(७-८३-८, ९)

इन्द्रावरुण सुदास को सिखाता है। इन्द्रावरुण २४ वां तत्त्व है। वृत्र सोम का प्रतिपक्ष है या सुदास का प्रतिपक्ष है।

दस राजाओं में 'वृत्र' का नाम नहीं दिया गया है। पर सब राजाओं को 'दासवृत्र' नाम से भी पुकारा गया है। अतः वध भी 'वृत्राणि' या 'वृत्रों' का सूचित किया गया है "दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम्' 'वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते' (७-८३-२,९)। यहाँ पर आर्यों को प्रथम २५ ब्रह्म तत्त्व का प्रतिनिधि बतलाया गया है जिनके मुख्य तीन वंश रूप त्रिपादमृत कहलाते हैं।

६—दाशराज्ञ-युद्ध और वृत्र तथा दास किस जाति के थे?

"त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।
त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वां इत् ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः॥"
(७-३३-७)

इस मन्त्र में 'भुवन' नाम सप्तक का है। उन्हीं में से प्रथम तीन को 'तिस्रः अग्र-ज्योतिः या रेतः कहा भी जाता है। ये तीनों घर्मास या अग्नियाँ हैं जिनसे उषा (तृतीय सप्तक) का सिंचन होता है। इस सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का वातावरण भी यही है। इस सूक्त की सबसे बड़ी रहस्यात्मक बात वसिष्ठ की उत्पत्ति की कथा है जो अगले परिच्छेद में दी जायगी। इस विषय के अन्त में यह भी न भुला देना चाहिए कि विजय के बाद सुदास को अश्विनी कुमार के रथ को १०० बैलों से खींचाकर जुलूस में ले जाया गया। यदि सुदास आर्य जाति का था तो यह अश्विनी कुमार का दुहरा रथ उसके लिए कहां से टपका और इन्द्र, वरुण को उसके बारे में क्या स्वारस्य था?।

"द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः।" (७-१८-२२)

सीधी सी बात है कि हमारे कवि कारु, ऋषिगण छोटी घटनाओं का आधार लेकर अपने वैदिक दर्शन के ज्ञान ज्योति से अपने जीवन को सतत

उज्ज्वल बनाने मात्र में लगे थे। इसीलिए एक ही बात को हजारों ढंग से लिखा गया है। सिद्धान्त एक है; व्याख्यायें या कथायें अनेक। उदाहरण में शम्बर और उसके साथियों का वध कहीं त्रसदस्यु करता है, कहीं आर्जुनिक कुत्स, कहीं इन्द्र, कहीं दिवोदास, कहीं सुदास इत्यादि। कहीं इन दोनों के प्रतिनिधि बिलकुल दूसरे हैं जैसे पणि, दस्यु, त्रिशिरा, त्वाष्ट्र, दनु, अहि इत्यादि और देवताओं में सोम गरुत्वान् सुपर्ण इत्यादि। इतना अवश्य है कि आर्यलोग राजा को प्रजा का 'सुदास' या 'दिवोदास' समझते रहे। उस समय के ऐसे राजा की पदवी सुदास थी जो दिवोदास का पुत्र था। ये दोनों नाम सार्थक होते हुए भी ऐतिहासिक राजाओं के नाम या पदवियाँ भी हैं।

७—वसिष्ठ और विश्वामित्र

ये दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, अपने युग के अतिविख्यात महापुरुषों में से हैं। इनकी ऋचायें अब तक इन्हें अमर बनाती हुई हमें भी अमर संदेश दे रही हैं। उनके बाहुबल, जनबल, विद्याबल और प्रतिभाबल सब एक साथ एक अद्भुत मिश्रण बनाते थे। संसार के इतिहास में ये अद्वितीय चरित्र के सिद्ध होते हैं। ये दोनों महर्षि थे। पर दार्शनिक तत्त्वों में इनका स्थान एक सा रखना ही कठिन है, वहाँ प्रत्येक का विकास है, एक को दूसरे से ऊपर या नीचे रखना ही पड़ता है। अतः इनका स्थान भी ऊपर-नीचे है जो इनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व में लेशमात्र भी अन्तर नहीं ला सकता। परिस्थिति यह है कि वेदों में कुछ तत्त्वों को 'सप्त-ऋषि' नाम से पुकारा गया है। ये सप्त-ऋषि दो प्रकार के हैं (१) महर्षि (२) सप्तर्षि। महर्षि भी सात हैं, सप्तर्षि तो सात हैं ही। वैदिक दर्शन के तत्त्वों में महर्षि नाम केवल प्रजापतियों का है, वसिष्ठ जी प्रजापति हैं। अतः वे महर्षि कहलाते हैं, विश्वामित्र जी प्रजापति नहीं हैं, अतः उनका नाम सप्तर्षियों में आता है, महर्षि में नहीं। इस कथन के समर्थन में 'सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्" (यजु. ३४-५५) "सप्तऋषीन्पर एकमाहुः" (१०-८२-२) "षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति" (१-१६४-१५) "ऋषयः सप्त दैव्याः" (१०-१३०-७) "सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि" (यजु. १७-७९) "सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त" (यजु. १४-२८) ये उद्धरण दिये जा रहे हैं जिनमें से तृतीय को छोड़ कर शेष सब सप्त महर्षियों की चर्चा करते हैं, तृतीय के ऋषि छह हैं और 'देवज' हैं 'देवजा' विशेषण विश्वामित्र के लिए आया है यद्यपि वहां उन्हें महान् ऋषि कहा है पर 'महर्षि' फिर भी नहीं (३-५३-९ पहिले उद्धृत देखें)। इस सम्बन्ध में 'अष्टौ लोका अष्टौ पुरुषा' शीर्षक देख लें। वसिष्ठ जी का स्थान २५वां तत्त्व है "अग्निर्वैप्राणानां वसिष्ठः" में वसिष्ठ शब्द रूढ़ि और यौगिक दोनों हैं। "प्राणाद्वसिष्ठः संजातः" वाक्य मिलता ही है। ये महर्षि ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते हैं। प्रत्येक महर्षि प्रत्येक सप्तक का प्रथम तत्त्व है। इसी सात को "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा" (गीता १०-७) पुष्ट करती है। अन्तिम प्रजापति

भृगु हैं। अतः वहाँ महर्षीणां भृगुरहम्' (वही) कहते हैं। सप्तर्षियों के नाम बृहदारण्यक ने स्पष्टतया बतला दिये हैं, वहां—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥"

की व्याख्या देते हुए 'गौतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि को (१-४-१-३, ४) सप्तर्षियों में गिना दिया है। ये ऋषि सृष्टिवृत्त के मूल-धरातल पर बैठे हुए बताए गए हैं। इनका क्रमशः विकास होता है। ये सप्त अङ्गिरस ऋषि हैं। श. प. ब्रा. ने इनका तादात्म्य मनस्, चक्षु, श्रोत्र आदि तत्त्वों से करके इनको प्राणरूप तत्त्व घोषित कर दिया है।

८—दाशराज्ञ युद्ध में वसिष्ठ विश्वामित्र की स्थिति

प्रस्तुत प्रकरण में वसिष्ठ और विश्वामित्र की स्थिति यह है। यहां वसिष्ठ को वसिष्ठागस्त्य नाम से पुकार कर इस वसिष्ठागस्त्य के जन्म की कथा नये ढंग से दी गई है। एक कुम्भ में सब अप्सराओं ने अपने-अपने रेतस् का सिञ्चन किया; उसी से उस वसिष्ठ जी का जन्म हुआ। यह वसिष्ठागस्त्य २५ वां तत्त्व द्रोणकलश रूप है जिससे उत्पन्न वसिष्ठागस्त्य ने सुदास् सोम की रक्षा की। क्योंकि यहां पर वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों अपने को इन्द्र के साथ सुदास् की संरक्षण में बतलाये हैं। यह हारियोजन इन्द्र है और इसलिए ये वसिष्ठ और विश्वामित्र भी अतिरिक्त ऋषि हैं। हारियोजन अतिरिक्त ग्रह कहलाता है। यहाँ पर 'विश्वामित्र' शब्द चतुर्थ सप्तक के लिए ठीक भी बैठ जाता है। वेदों में जहां-जहां विश्व, विश्वा शब्द का प्रयोग है वह चतुर्थ सप्तक के भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की सूचना देता है। जैसे विश्वबन्धुः, विश्वानि देव सवितर्दुरितानि, 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' (ऋ. वे. १०-१३०) इत्यादि। दोनों सुदास् इन्द्र के साथी बने हैं। अतः ये दोनों यहां २५, २६ वें तत्त्वों के ब्रह्मों को प्रतिनिधि ही ठहराते हैं। यह बात वसिष्ठ जी की जन्मकथा के मन्त्रों से पुष्ट होती है जैसे—

"विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठाऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥
उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥
स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः॥
सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥
उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत्प्र वदात्यग्रे।
उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो वसिष्ठः॥"
(७-३३-१० से १४ तक)

यहां पर वसिष्ठ जी के दो प्रकार के जन्म स्पष्टतया* उल्लिखित हैं। (१) वसिष्ठागस्त्य.......कुम्भ से उर्वशी को देखकर मित्रावरुण के वीर्यस्खलित होने से सूर्यरूप मन से उत्पन्न हुआ। (२) उर्वशी जो तृतीय सप्तक है, नग्न उर्वशी की सुन्दरता देखकर मित्रावरुण का रेतस् स्खलित हुआ उसीसे २४ वें तत्त्व रूप मित्रावरुण का पुत्र मैत्रावरुण नामक वसिष्ठ या वसिष्ठागस्त्य कहा गया है। अतः इस वसिष्ठ का स्थान स्वयं २५ वां द्रोणकलश का स्थान सिद्ध हो जाता है। उर्वशीपुत्र भी यहीं चतुर्थ सप्तकीय महर्षि वसिष्ठ हैं। उक्त कथा का समर्थन (ऋ. वे. ७-८८-३) से भी पूर्णतया हो जाता है। उक्त नाम तृतीय सप्तक का है। उसके 'वंशगा' उर्वशी चतुर्थ सप्तक की शक्ति है जैसे शची, उषा, अहिल्या जो इन्द्र के साथ शची है, वही गोतम के साथ अहिल्या, वही वसिष्ठ की उर्वशी और सूर्य की उषा है। 'वसिष्ठागस्त्य' के कुम्भ से जन्म होने के समय यम ने अप्सराओं द्वारा जीवन की परिधि बना ली थी, उनके बल से यम भी डर गया था। ऐसे बली अमर के सामने कौन ठहर सकता था? यही बात वसिष्ठ कुल के वीरों की प्रशंसा में पहिले कही गई है (७-८३-८ और ९ देखें) जिसमें "यमेन ततं परिधि वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठा" वाक्य ही कहा गया है। यही वाक्य जन्म कथा में भी दिया गया है। अप्सरसः शब्द श्लेषात्मक है, हारियोजन इन्द्र की परियाँ और चतुर्थ सप्तक के 'अप् रूप तत्त्वों के सरोवर हैं "अपां सरांसीति अप्सरसः" है। जैसे वेदों में स्वयं लिखा है "समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन्।" (९-७८-३) इस जलरूप अप्सराओं से भौतिक तल रूप दिव्यात्मा का भौतिक वस्त्र बीना जाता है, अप्सरायें ही भौतिक तत्त्व रूप वरुण हैं। अतः उनको वस्त्र बुनती हुई कहा गया है। सोम रूप भौतिक दिव्य शरीरी वस्त्र, त्रिपादमृत या ब्रह्म, जीव, तेजस तीन आत्माओं को पहिनाया जाता है। भौतिक दिव्य शरीरी वस्त्र से ही हमारा पार्थिव शरीर बनता है, दिव्य शरीर जल (विद्युत्) रूपी है उसीसे पार्थिव शरीर बनता है। इसीलिये गीता 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।" (२-२२) श्लोक में इसी दिव्य शरीरी वस्त्ररूप को त्याग कर प्रलयान्तर में पुनः नवीन भौतिक दिव्य शरीरी वस्त्र पहिनने की ही वैदिक उपमा देता है। यह उपमा वैदिकों को बहुत प्यारी है क्योंकि वैज्ञानिक है। अतः अप् को मातृ कहकर दिव्य शरीर को पुत्र मान कर मातायें पुत्रों के लिए वस्त्र बुनती हैं। यज्ञ को भी बुनना ही बताया है ऋ. वे. १०-१३।

आधुनिक आलोचकों ने दाशराज्ञ युद्ध को सूर्यचन्द्र वंशी राजाओं के युद्ध होने की भी अनर्गल कल्पना करली है। वैदिक साहित्य में ऐसे वंशों की कोई चर्चा नहीं आती। यहां चन्द्र तो स्वयं सूर्य से जल पाता है; उसका और सूर्य का पृथक् कुल हो ही नहीं सकता। इस कुल की भावनायें पौराणिक हैं, विशेष विक्रय के पश्चात् के

९ दाशराज्ञ युद्ध में आधुनिकों का मत

* 'पुरूरवा-उर्वशी' देखें।

पुराणों के वंश हैं। वैदिक काल में मुख्य वंश तीन ही थे जो बाद में दस हो गये थे। उन तीन वंशों का नाम पुरु, तृत्सु और भरत ही है (ऋ. वे. ७-३३-७ पूर्वोद्धृत)। इतिहास में हारे हुए अवैदिक ५ आर्य वंशों को अपने से पृथक् और नीच ठहराने की दृष्टि से चन्द्रवंशी कहने लगे होंगे। इसमें सन्देह नहीं क्योंकि वे अयज्यव या यज्ञहीन आर्य थे, अयज्यव, जैसा बताया जा चुका है।

"यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रपवयाः वयेत्यासते तते।।"

यह बुनना सूर्य तत्त्व से पहले असम्भव है। अतः इसका आरम्भ ही सूर्य से होता है। इसलिए इन्द्र की प्रार्थना में कहा गया है कि उसने तो स्वयं बिना ताने-बाने वाले तत्त्वों को भी बुना और सूर्य के आगे के तत्त्वों को ताने-बाने वाला बना दिया।

"स इत् तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार।
कदा ते मर्ता अमृतस्य धामेयक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः।।"
(ऋ. वे. ६-२१-३)

इस उपमा की अद्भुत झांकी प्रस्तुत की गई है, वही यज्ञ भी है। यज्ञ इन्हीं ताने-बानों से आगे बढ़ने वाली सृष्टि का नाम है, उन तत्त्वों का पितर भी है जो अपना कार्य पूरा कर आगे वाले को बुनने की आज्ञा देते हुए सृष्टि क्रम को अखण्ड रखा करते हैं। यह इसके पहिली ऋचा का सीधा अर्थ है। वेदों में जहां-जहां भी 'वास' वासांसि आदि वस्त्रों की चर्चा आई है, वहां-वहां निश्चय पूर्वक उक्त तत्त्व का ही संकेत समझा जाना चाहिए।

———

अध्याय २५

ऋषयः

ऋषि शब्द और संज्ञा वैदिक साहित्य और दर्शन दोनों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वेद स्वयम्। समस्त वैदिक वाङ्मय (ब्राह्मण, उपनिषद् सहित) हमारे पूर्वज ऋषियों की अपूर्व प्रतिभा और ज्ञान की खान हैं इसमें दो मत नहीं हैं। इसी वाङ्मय में उन्हीं ऋषियों को, जो इनके रचयिता थे, वैदिक दर्शन के तत्त्वों के रूप में भी साथ-साथ वर्णित करके उसे ऐसा गूथ डाला है कि अभी तक अधिकांश लोग इस पहेली को सुलझाने में असमर्थ होने के कारण वेदों (ब्राह्मणोपनिषद् सहित) के अर्थों को उचित और वास्तविक रूप में लगाने में प्रायः असमर्थ होते चले आ रहे हैं।

१—ऋषि तत्त्व का महत्त्व

अस्तु, ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति सर्वविदित तो यही है 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। यह मत 'ऋषिर्दर्शनात्' स्तोमान्ददर्श' औपमन्यव सम्प्रदाय का है; ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है "तद्यदेनाँस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत् ते ऋषयो अभवन् तदृषीणामृषित्वम्" परन्तु श. प. ब्रा. ने इससे अधिक अच्छी और दार्शनिक तत्त्वरूप ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए लिखा है। ""तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुराऽस्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः। (६-१-१-१) सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने ऋषि शब्द का अर्थ यही 'प्राणाः' मौलिक तत्त्व ही लिखा है। सृष्टि इश्वरेच्छा है, यही भाव 'ऋषिः' शब्द का है। तत्त्वों में तपते हुए विकास को जो वृत्ति प्रवृत्त हुई वही प्राणरूप ऋषि है, ज्ञान के लिए जिनकी वृत्ति विकास को प्रवृत्त हुई वे ज्ञानी भी ऋषि या मन्त्रद्रष्टा कहलाये। एक ने आध्यात्मिक और भौतिक दो सृष्टिरूप फल सामने रखे, दूसरे ने वैदिक और लौकिक ज्ञानरूप दो पात्र प्रस्तुत किए। एक में दूसरे का वर्णन है। दूसरे में प्रथम का द्विरूपीय वर्णन है, तो प्रथम में दूसरे का द्विरूपीय मौलिक आधार।

२—ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति

मन्त्र रचयिता ऋषियों में मुख्य-मुख्य ये हैं—गोतम, अङ्गिरस्, दीर्घतमा,: गर्ग, अगस्त्य, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, आत्रेय, भरद्वाज, बार्हस्पत्य, वसिष्ठ, काण्व, वागम्भृणी, उशनाः, भार्गव, असितकश्यप-देवल, मेध्यातिथि, इन्द्र, कृष्ण, घोषा, कवष, एलूष, वृषाकपि, विश्वकर्मा, बृहस्पति, प्रजापति, प्रियमेधस्, सुदास, सुपर्ण, श्रद्धा, कामायिनी, विभ्राट्, सूर्य, इत्यादि। रेखाङ्कितों के आश्रय और गोत्र हैं। यजुर्वेद के मंत्रोक्त या वेदोक्त ऋषियों की नामावली और

३—वेदों में मुख्य ऋषियों के नाम

वंशावली श. प. ब्रा. इत्यादि ग्रन्थों में दी हुई मिलती ही है। प्रायः प्रत्येक ब्राह्मण ने अपनी-अपनी शाखा के ऋषियों की नामावली और वंशावली दी है, सबका संकलन बृहद्देवता में मिल सकता है।

तत्त्वरूप ऋषियों के दो भेद हैं, सामान्य ऋषि तथा महर्षि। महर्षि उन ऋषियों को कहा गया है जो सप्तकों के प्रथम या मुख्य तत्त्व हैं जिन्हें गीता भी महर्षि नाम ही से पुकारती है "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता एषां लोक इमाः प्रजाः॥" (गीता १०-६)। ये महर्षि सात सप्तकों के सात हैं। इनका विवेचन 'महर्षयः अष्टौ लोकाः' 'अष्टौ पुरुषाः' शीर्षक में विस्तार पूर्वक दे दिया गया है; वहीं पढ़ लें। अत्रि को ऋषि, महर्षि और प्रजापति नाम से पुकारा गया है। प्रायः सात प्रजापति ही महर्षि हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक सप्तकों के तत्त्वों को भी ऋषि नाम से पुकारा गया है, अष्ट वसु (प्रथम सप्तक) ऋषि हैं। द्वितीय सप्तक का महर्षि होता कहलाता है तथा अन्य ऋषि 'सप्तविप्राः' इसी प्रकार चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों को अङ्गिरस सप्त ऋषि कहते हैं (अङ्गिरस देखें)। पञ्चम-सप्तक तीन तत्त्व रूप ऋषियों को ऋभु (तीन तत्त्व) कहते हैं। गीता ने पुनः इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा है :— "अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः" (१०-२) यहां पर अवधान पूर्वक (सर्वशः) कहा गया है। इस तथ्य के समर्थन में ऋग्वेदादि के अन्य प्रामाणिक उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—"ऋषयः सप्त दैव्याः" (ऋ. वे. १०-१३०-७) 'ऋषयः सप्त विप्राः' (ऋ. वे. १०-९२-२) 'वाणीऋषीणां सप्त' (ऋ. वे. १०-१०३-३) 'ऋषीणां सप्त धीतिभिः' (ऋ. वे. ९-६२-१७) सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त" (ऋ. वे. ९-११४-३; १०-६१-७, १०-३५-१०, ८-६०-१६) 'अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि' (४-२-१५) 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' (ऋ. वे. १०-५-६) "सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे।" (ऋ. वे. ८-२८-५) 'सप्त मे सप्त शाकिनः' (ऋ. वे. ५-५२-१७; ८-२८-५३) "सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्तधाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा" (यजु. १७-७९)

४—ऋषि और महर्षि में अन्तर

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥"
(यजु. ३४-५५)

"तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्वबध्नोस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥"
(अथर्व १०-२६-९, बृह. उप.)

अन्तिम मन्त्र के अन्तिम पाठ का पाठान्तर "ये अस्य गोपा महतो बभूवुः" (अथर्वेद में हैं)।

"साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ।।"
(ऋ. वे. १-१६४-१५)

उक्त उद्धरणों में 'दैव्या ऋषयः' महर्षि हैं। 'सप्त विप्राः' द्वितीय सप्तक के तत्त्व हैं; 'वाणी ऋषीणां सप्त' ऋषियों की सप्तवाणी वही महर्षि रूप ब्राह्मणियां हैं' यही भाव 'ऋषीणां सप्त धीतिभिः' का है; 'सप्त होतारो ऋत्विजो देवा' भी द्वितीय सप्तक के तत्त्व हैं। 'होता' तत्त्व द्वितीय सप्तक का मुख्य ब्रह्म है। सप्तमर्य्यादा कवयः' तो महर्षि हैं जो मन्त्र रचयिता कवि भी हैं; यह 'सप्तपरिधियों (सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिसप्तसमिधः) का प्रतिनिधित्व करता है। 'सप्तानां सप्त ऋषयः' वाक्य सबसे अधिक स्पष्ट और प्राञ्जल है। यह सात सप्तकों के सात महर्षियों तथा प्रत्येक के भी सात ऋषियों का संकेत करता है जिसकी पुष्टि में 'सप्तद्युम्नान्येषां' वाक्य उनके सात सदों का उल्लेख भी पृथक् कर देता है। 'सप्त ते सप्त शाकिनः' वचन उक्त कथन को दूसरे ढंग से कहता है। सप्त 'होता' द्वितीय सप्तक है। 'सप्त ऋषयः सप्तधामप्रियाणि' पुनः सात सप्तकों का उल्लेख करता है। इसी में 'सप्त होत्राः' द्वितीय सप्तक है जिसमें सात विप्र (सप्तधा) यज्ञ करते हैं। ये ऋषि तत्त्व हैं, तत्त्वरूप ऋषियों का यज्ञ, सृष्टि का क्रमिक विकास से संबन्ध रखता है। अतः यज्ञ एक तत्त्व नहीं, सभी क्रमिक तत्त्वों का नाम है। यज्ञ पुरुष या पुरुष भी एक नहीं हैं। प्रत्येक तत्त्व यज्ञ भी है, पुरुष भी है। यह पुरुष की व्याख्या में लिखा जा चुका है। यज्ञ माने विकास होने का वैदिक स्पष्ट प्रमाण 'विश्वकर्मन हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्" और "स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः" (ऋ. वे. १०-८१-६, १०-८१-५) हैं, इसलिए वैदिकों ने 'यज्ञ' विकास शैली से सृष्टि विकास क्रम का विवेचन दिया है। यह एक अद्भुत रहस्य है। इसी रहस्य का कुछ-कुछ प्रतिबिम्ब अगले मन्त्र में संकेतित मिलता है। जैसे 'सप्त ते अग्ने समिधः' इत्यादि में, वैदिक दर्शन के सात सप्तकों को सप्तसमिध, सप्त जिह्वा, सप्त ऋषयः, सप्त धाम, सप्त होत्राः, सप्त योनी, सप्त यज्ञ नाम से पुकारा है। पुनः प्रत्येक सप्तक में सात समिध, जिह्वा, ऋषि, धाम, होत्र, योनी और यज्ञ हैं। इसीलिए इस मन्त्र को सृष्टि विकासरूप यज्ञ की विवेचना के लिए अग्नि रूप ब्रह्म और यज्ञ, यज्ञकर्ता ऋषियों, उनके द्वारा किये जाने वाले हवन तथा पात्र प्रयोग का रहस्यमय रूपक रखा गया है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' इत्यादि में शरीर शब्द अखिल ब्रह्माण्डरूप पुरुष के शरीर और पारिवारिक वैयक्तिक ब्रह्माण्डों का संकेतक है। केवल हमारे या प्राणियों के शरीर का ही नहीं। यह बात अथर्ववेद ११-३-२-१८ और ३२ तथा श. प. ब्रा. (६-१-१-४ और गर्भ उपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में लिख रखी है "यत्सर्वमस्मिन्नात्मन्नश्रयन्त तस्माद् शरीरम्" यह वैदिक ऋषियों का मत है जिसे गीता भी "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" वाक्य से दुहराती है जिसका 'शरीर' शब्द भी उक्त व्युत्पत्ति ही की अपेक्षा रखता है। फलतः इस पुरुष के ब्रह्माण्डरूप शरीर में

सप्त ऋषि प्रतिहित हैं, जिसके प्रत्येक भाग या सप्तक का फिर सात-सात ऋषि गण प्रमादहीन होकर सुरक्षित बनाये रखते हैं। इनको भौतिक स्वरूप आपोमय चतुर्थ सप्तक के सोम, वृत्त आदि से मिलता है, यह भौतिक शरीर सुषुप्त सा रहता है, उतना जाग्रत नहीं हो सकता, जितना इसके पूर्व के तीन त्रिपादमृतीय तीन सप्तकों के तत्त्वरूप ब्रह्म, जीव, तैजस आत्मायें; तैजसात्मा भौतिकात्मा में मिली रहती हैं। अतः शेष दो ब्रह्म और जीवात्मा जाग्रत् रूप में अस्वप्नरूप में, पर पूर्व सत्र या सप्तक के सदों में प्रतिष्ठित रूप में उसी भौतिकात्मा तैजसात्मीय स्वरूप या आदित्यरूप में व्याप्त रहते हैं। गीता का—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥'

श्लोक उक्त स्वप्न और जागरण का ही संकेत करता है। सर्व भूतों की निशा या भौतिक सृष्टि काल में भी महर्षियों या त्रिपादमृतों की जागृति ही है, जिसे लौकिक जागृति कहते हैं। वह आध्यत्मिक ऋषियों की निशा या भौतिक सृष्टि या स्वप्नमय दृष्टि है। जिसका विकास उन्हीं आध्यात्मिक ऋषिरूप तत्त्वों से ही होता है। अन्तिम अथर्व के उद्धरण में सृष्टि वृत्त का वर्णन है जिसे ऊर्ध्व मूल (ऊपर की जड़ों वाला) और अधः शाख (नीचे को सिर और शाखा वाला-मनुष्यादि शरीर) की तरह वर्णित किया गया है। इसमें अखिल ब्रह्माण्ड के नाना रूपों का यश या मूल बीज निहित है, जिसके किनारे सात ऋषिरूप सप्त विकास परम्परा के महर्षि बैठे हैं वहीं उस सृष्टिवृक्ष बीज के सबसे बड़े रक्षक हैं (अथर्व); उन वाग् रूप शब्द ब्रह्म (मूलतत्त्व) को अष्टम कहा जाता है (बृह. उप. का पाठान्तर)। इन सब बातों का निचोड़ अन्तिम उद्धरण (१-१६४-१५) में दिया है जिसमें सातों ऋषियों को आदि में एक साथ उत्पन्न बतलाते हुए, उनका विकास धामशः या सप्तक क्रम से अभीष्ट रूपों में बतलाया गया है, ये महर्षि हैं।

५—सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रि से

उक्त उद्धरणों के अतिरिक्त वेदों और पुराणों में प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा नामक सोमतत्त्व, अत्रि ऋषि या महर्षि के सूर्य नामक चक्षु से उत्पन्न हुआ जिसका प्रमाण ऋ. वे. ५-४०-८ में इस प्रकार दिया है—"ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्। अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अधुक्षत्॥" इस मन्त्र का ऋषि भी अत्रि है, देवता भी अत्रि ही है, इससे बात स्वयं स्पष्ट है। इसी प्रकार ऋ. वे. १०-३१-११ में कण्व ऋषि को नृषद् या चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का पुत्र या विकास बतलाया गया है जैसे—"उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुरुत श्यावो धनमादत्त वाजी।" *इन्द्र को भी 'ऋषि' कहा है जैसे—

* श. प. ब्रा. ६-१-१-१ में जहां पर ऋषि माने प्राणाः लिखा है वहां ऋषियों को असद् नामक ऋषि कहा है और ये ऋषि प्राण रूप हैं पर त्रिवृत् हैं। इन त्रिवृत्

"ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा।
इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥" (ऋ. वे. ८-६-४१)

सोम को ऋषि कहा है--'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्॥ (ऋ. वे. ९-९६-६) अन्यत्र सोम को ऋषिमना, ऋषिकृत् और स्वयं ऋषि भी कहा है और इसी को तृतीय सप्तक में महिष कहा है, जैसे--

"ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्॥"
(ऋ. वे. ९-९६-१८)

चतुर्थ सप्तक का नाम 'समुद्रः' 'अपामूर्मिं सचमानः' तुरीयं धाम या सद और चमूसदः कहा है जैसे "चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥" (ऋ. वे. ९-९६-१९)। प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इन ऋषियों या सप्त ऋषियों की व्याख्या प्राणरूप या मौलिक तत्त्व रूप में देकर उक्त वक्तव्य पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है। 'प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः' (ऐ. ब्रा. २-४-२७); प्राणा वा ऋषयः बृह. उप. २-२-३ और श. प. ब्रा. ने "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु (यजु. १५-१० की व्याख्या में लिखा है "प्राणा वा ऋषयः प्रथमजास्तद्धि ब्रह्म प्रथमजं" (८-६-१-५) यहां पर तो इस ग्रन्थ ने सब वक्तव्यों की पूरी स्पष्टता कर दी है कि सप्त-ऋषयः या महर्षयः सब आदि ब्रह्म के बीजभूत अंग हैं, प्राण स्वरूप हैं, ब्रह्म रूप हैं जिनका विकास क्रमशः होता है। यह यजु. १५-१० के शेष मन्त्र में स्पष्ट दे भी दिया गया है। जैसे—

"दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च
ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥"

श. प. ब्रा. (८-१-१-५ से १-२-९ तक) में इन ऋषियों को ऋतुओं के साथ-साथ ब्रह्म के अध्यात्म रूप में इस प्रकार वर्णित किया है। वसिष्ठ तो प्राण है और गायत्री रूप शिर का प्राण है, यह वसन्त है; विश्वकर्मा वायु है। ग्रीष्म मानस है, भरद्वाज मन है। वर्षा चाक्षुष्य है, जमदग्नि चक्षु है, शरद् श्रौत्री है, विश्वामित्र श्रोत्र है। चन्द्रमा इसके ऊपर हैं। पंक्ति या वाक् हैमन्ती हैं, विश्वकर्मा वाक् है, यही अन्न है। यहां तक कि वेदों में आये प्रत्येक नाम को ऋषि रूप में ही देखना उचित है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी ऋषि ही हैं।

उक्त दोनों प्रकार के ऋषियों की महिमा और प्रशंसा में वेदों ने स्वयं लिखा है :—

"सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः॥
(ऋ. ७-३३-८)

प्राणों में मध्यम प्राण का नाम इध्म, इद्ध या इन्द्र है। अतः यह इद्ध या इध्म नामक मध्यम प्राण रूप इन्द्र भी प्रथम ऋषि हैं।

६—तत्त्वरूप ऋषियों की प्रशंसा

"इन ऋषियों की ज्योति सूर्य के समान चकाचौंध करने वाली है। इनकी गम्भीरता समुद्र के समान (अज्ञेय) है। इनकी बुद्धि या प्रतिभा का तेज वायु के वेग से भी बढ़कर है। वसिष्ठ के आश्रम के ऋषि कहते हैं कि इससे अधिक सत्य वर्णन अन्य सूक्तों से हम इन ऋषियों का ढूढ कर नहीं पा सकते।" तत्त्व रूप ऋषियों की ज्योति, ज्ञान रूप, प्राण रूप ज्योति है, उनकी बुद्धि सांख्य की प्रकृति या बुद्धि रूप है, उनका स्वरूप समुद्र सम गम्भीर है; जैसा कि नासदीय सूक्त में 'तब जल ही जल था' इत्यादि लिखा है।

७—पुराणों के ऋषि

पुराणों में जिन-जिन ऋषियों की तपस्याओं की कथायें मिलती हैं, वे सबके सब ये ही प्राणरूप, तत्त्वरूप ऋषि हैं, हम आप जैसे शरीरधारी नहीं। प्रजापति के बारे में जब यह लिखा है 'सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत श्रान्तस्तेपानो ज्योतिर्निरवर्ततताग्निः' इत्यादि तब प्रजापति भी ऋषि रूप प्राण है। तपस्या या श्रम या तप करने वाले केवल प्राण ही हो सकते हैं। अन्य तत्त्व इन प्राणों के शरीर, अंग आदि सहायक तत्त्व मात्र हैं। सप्तर्षि रूप महर्षियों का तात्त्विक शेष विवेचन "अष्टौ पुरुषाः, अष्टौ लोकाः" और पुरुष सूक्त ऋचा १५ तथा सप्तवादी सप्तचक्र देखें। विश्वकर्मा सूक्त १०-८२-२ में 'सप्तऋषीन्पर एकमाहुः' वाक्य उक्त सप्तर्षियों का सूचक न होकर सात अङ्गिरस ऋषियों का संकेतक है। इन्हीं से यह विश्वकर्मा परे और एक ऋषि हैं।

८—मरुत् भी ऋषि हैं

वामन पुराण (३८-५) ने लिखा है कि कलश के अन्दर सात विभाग किये गये। उनसे सात ऋषियों की उत्पत्ति हुई। उन्हीं सात ऋषियों को सप्तर्षयः या मरुतों के गण या मरुतः या मरुद्गण कहते हैं। जैसे—"सप्तधा प्रविभागं तु कलशस्थं जगाम ह। तत्रर्षयः सप्त जाता विदुर्यान् मरुतो गणान् ॥" यह उद्धरण श. प. ब्रा. ६-१-१-१) के ऋषियों के वर्णन से तो मेल खाता है। पर उन सप्त ऋषियों को श. प. ब्रा. ने वहां पर 'सप्तपुरुषाः' कहा मरुद्गण नहीं। श. प. ब्रा. (८-६-३-३) ने मरुतों और अङ्गिरस ऋषियों को ध्रुवा दिशा का स्थान दिया है (आसन्दी देखें)। इसमें जमदग्नि, भरद्वाज आदि सप्त ऋषियों का भी संकेत नहीं है। इनका वर्णन पृथक् दिया है। 'अत्रासते ऋषयः सप्त तीरे' (अथर्व, बृह. उप.)। इतना अवश्य है कि 'मरुत् भी प्राण शरीर वायव्य देवता है। ऋषिरूप प्राण स्वयं ही देवता है, जैसे मध्यम प्राण इन्द्र।



अध्याय २६

अदिति और दिति

१—अदिति के बारे में आधुनिकों के मत—

अदिति शब्द का प्रयोग ऋ. वे. में लगभग ८० बार आया है, पर दिति शब्द केवल तीन बार प्रयुक्त हुआ है। पाश्चात्यों तथा उनके अनुयायी भारतीयों ने 'अदिति के बारे में निम्न लिखित कल्पनायें की हैं :—

Maxmuller—Aditi an ancient god or goddess is in reality the earliest name invented to express the infinite–the visible infinite-visible as it were to the naked eye, an endless expanse beyond the earth, beyond the clouds, beyond the sky, i.e. *Hollow Space* (U. H, pp 241)

Roth—The eternal and invisible principle Aditi in which the. Ādityas live and which constitutes their essence is the *Celestial light*, i.e.—*a Hollow Space.*

Muir— A personification of universal all embracing Nature or Being (Original Skt Texts, vol. V, p. 37 Ed. 1884) Griffith–the same.

अन्यत्र—Maxmuller ने अदिति माने Liberty or goddess of liberty और Muir ने Goddess of freedom लिखा है—

दिति के बारे में—Maxmuller ने लिखा है "Diti is a being without any conception a mere reflex of Aditi (ibid 256)

अस्तु, अदिति के बारे में सर्व प्रसिद्ध ऋचा ऋ. वे. १-८९-१० में मिलती है। जिससे यह पता चलता है कि 'अदिति' वैदिक दर्शन के सम्पूर्ण तत्त्वों का एक नाम है। वैदिक दर्शन में सात सप्तक हैं। अष्टम आदि

२—'अदिति सर्वा देवता'

का ब्रह्म है, ये सब और प्रत्येक सप्तक केवल एक नाम 'अदिति' से पुकारे जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अदिति वैदिक दर्शन तथा वैदिक दर्शन के प्रत्येक सप्तक का नाम है। जो देवता प्रत्येक सप्तक में विकसित होते हैं उन्हें अदिति भवा अदित्या या देवता या तत्त्व भी कहते हैं। अदिति माने अखण्डनीया (व्यापक) और अदीना (सर्वशक्तिमती) होता है। वह मन्त्र है

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥"

'द्यौ' नाम आदि ब्रह्म का है जैसे 'वसुरन्तरिक्षसद्' (ऋ. वे. ४।४०।५)।

अतः प्रथम सप्तक अन्तरिक्ष अदिति है; माता नाम द्वितीय सप्तक की 'वेदि' का है। अतः द्वितीय सप्तक वेदि भी अदिति है, पिता का नाम तृतीय सप्तक का है। जैसे (श. प. ब्रा. ६-१-२-१३) 'पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रम्'। यहां पर पिता शब्द पुत्र का प्रतिनिधि है। जो चतुर्थ सप्तक के पौत्र का पिता है। अतः तृतीय और चतुर्थ दोनों सप्तक क्रम से अदिति नाम से ही प्रसिद्ध हैं। पञ्चजनाः पञ्चम सप्तक है जिसमें विकास पञ्चधा हो जाता है। अतः पञ्चम सप्तक भी अदिति ही है, इस पञ्चम सप्तक से जात या उत्पन्न षष्ठ सप्तक भी अदिति ही है और उस षष्ठ से जनिष्यमाण सप्तम सप्तक (जनित्व) भी आदित्य ही है। अतः अखिल वैदिक दर्शन तथा उनके सब सप्तक अदिति के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। दर्शन का प्रत्येक तत्त्व विभिन्न सप्तकों में विकास पाता है, उनमें से प्रत्येक देवता नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अतः अदिति को देवमाता और देवताओं को अदितिभवा आदित्या भी कहते हैं। सभी तत्त्व आदित्य हैं। पर १२ तत्त्व द्वादशादित्य नाम से पुकारे जाते हैं। इन दो प्रकार के आदित्यों के कारण कभी-कभी द्वादशादित्यों को अदिति के भाई या अदिति को आदित्यों की बहन कहा गया है। परन्तु इस नाते को बनाने के लिए वैदिकों ने पुनः सप्तकों के तत्त्वों के क्रम को ही महत्त्व दिया है। सप्तकीय क्रम में प्रथम सप्तक वसुओं का है, द्वितीय रुद्रों का, तृतीय रुद्रादियों का (१९ तक रुद्र, २० से २२ तक आदित्य), चतुर्थ आदित्यों का सम्बन्ध हमारी अदिति से इस प्रकार दिया गया है :—

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥"

(ऋ. वे. ८-१०१-१५)

पर अदिति के सब आदित्यों या देवताओं की माता होने से यहां पर गौः (पृश्निः) को भी उसी अदिति नाम से पुकार कर माता, दुहिता, स्वसा, नाभि आदि सम्बन्ध उसी गौ रूप (पृश्नि रूप) अदिति के कहे गये हैं। पृश्निरूप गौ वसुओं की (प्रथम सप्तक) दुहिता या पुत्री है तथा रुद्र रूप द्वितीय सप्तक की माता है और आदित्यों का नाम ही अगोह्य तथा 'गावः' है (ऐ. ब्रा. 'गावो वा आदित्या' ४-१७) अतः गौ को इन आदित्यों की स्वसा या बहन कहा है। यही अमृत की नाभि है, यह अदिति या अखण्ड या एक है, व्यापक है। अतः अनागाः या अनिष्टताहीन या कल्याणकारिणी है। इसलिए इसका बन्धन, वध, संयमन, दमन न किया जावे। यह वैदिकों की अभिलाषा है। अथर्ववेद ने कुछ इसी प्रकार के सम्बन्ध मधुकशा के बारे में इस प्रकार दिये हैं :—

"मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥"

(९-१-४)

कि यह मधुकशा वसुओं की पुत्री, आदित्यों की माता, प्रजाओं के प्राण (रुद्रों की सास), अमृत की नाभि, हिरण्यवर्णा मधुमती, घृताक्त या प्राणाक्त महान् तेज

रूप में भौतिक तत्त्वों (मर्त्येषु) में बिखरी रहती है। इसके आगे यह भी लिखा है कि इस मधुकशा से सब देवता उत्पन्न हुए और उसमें विश्वरूप गर्भ था। वह विश्वरूप उत्पन्न हुआ तो उसे इस माता ने पाल कर तरुण किया। तब उसने अखिल ब्रह्माण्ड की रचना की।

आगे चलकर अथर्व (८-९-२१) ने पुनः अदिति से अष्टभूत, (ऋत द्वारा) इन के आठ दैव्य ऋत्विज हुए। वे अष्टयोनि रहित हैं, अष्टपुत्रा अदिति हैं जिन आठ पुत्रों में आठवीं रात्रि है।

"अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥"

अदिति की वेदों में कई विशिष्ट व्याख्यायें हैं। ऋ. वे. ५-४-६ में इसे 'उरुव्यचाः' या अतिविस्तीर्णा (असीम) कहा है; ऋ. वे. १-१३६-३ में 'ज्योतिष्मती' या प्रकाशमय या ज्योतिर्मय; यही ऋ. वे. ७-८२-१० में दुहराते लिखा है। "अवध्रं ज्योतिरदितेर्मनामहे"; ऋ. वे. १-११३-१९ में उषा को अदिति का मुख कहते हुए लिखा है "माता देवानामदितेरनीकं"; ऋ. वे. २-२७-७ में अदिति को 'राजपुत्रा' या वह माता जिसके पुत्र राजा ही राजा हैं जैसे इन्द्र, वरुण, सोम आदि जैसे 'पितुर्नो अदितिर्राजपुत्रा'। ऋ. वे. १०-७२-८, ९ में अदिति के आठ पुत्रों की चर्चा है, अष्टम का नाम मार्तण्ड बतलाया है 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः··· मार्तण्डमाभरत्'। ऋ. वे. ८-२५-३ में लिखा है कि अदिति माता सृष्टि रचना की सर्वशक्तिमत्ता और महिमा से भौतिकी रचना करने के लिए (असुर्याय-तेनेमा सर्वाप्रजा आसुर्या-श. प. ब्रा. १-५-१-५) ऋतृतत्त्व वाला ब्रह्म ने भौतिकता के सर्व प्रथम रूप (आपोमय विद्युत्) मही को विकसित किया जैसे "ता माता विश्ववेदसा सुर्याय प्रमहसा। मही जजानादितिर्ऋतावरी ॥" ऋ. वे. १-२४-१ में अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप ऋषि कहता है कि कौन मुझे अदिति को सौंप दे जिससे मैं पिता (द्यौः) और माता (अदिति) दोनों को देख सकता जैसे—

३—अदिति की अनेक व्याख्यायें

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥"

ऋ. वे. ६-५१-५ में लिखा है कि सब देवता अदिति में मग्न रहते हुए हमारे लिए निरन्तर कल्याण को बुनते (बनाते) रहते हैं जैसे—

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त ॥"
(ऋ. वे. ५-४६-३)

में अदिति का अन्य देवताओं के साथ आह्वान करते हुए लिखा है—

"इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिं स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताः
अपः। हुवे········· ॥"
(ऋ. वे. ५-४६-३)

में लिखा है कि जितने भी देवता यज्ञभागभुक्, अदिति से उत्पन्न होकर देवता यज्ञभुक् बने हैं, चाहे वे अपस् देवता (चतुर्थ सप्तक से) या पृथिवी भौतिक वृत्र से उत्पन्न हुए हों उन सब का हम आह्वान करते हैं। वे सब वन्दनीय और नमस्करणीय हैं जैसे—

"विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञयानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥"

ऋ. वे. १०-६३-२

उसी सूक्त में लिखा है कि अदिति माता मधुमत् पयः रूप पीयूष द्यौ रूप में दुहती रहती है। जहां-जहां उसे अद्रि, चूडा (बर्हा) या कूटस्थ का कारण कहते हैं। वहां इन सब देवताओं के उक्थबीज, स्वप्रभव सम रहते हैं। वे सब कल्याण-कारी बनें, जैसे—

"येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥"

ऋ. वे. १०-६३-५

सूक्त में लिखा है कि वह तत्त्व केवल अदिति ही है जिससे व्यापक सम्राज् तत्त्व (वरुण) और यज्ञ सत्ता में आये जिन्होंने दिव या त्रिपादमृत का क्षय या विकास किया, जिनमें आदित्य (१२) निवास करने लगे, वह अदिति स्ववलि करे। जैसे—

"सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥"

अन्त में उसी सूक्त के १० वें मन्त्र में अदिति को सुकल्याणकारिणी, सुप्रणीतिनी, और दुःखों से बचाने वाली दैवी नौका जिसकी पतवारें स्वयं नौका में ही ऊगी हैं या नौका में ही हैं, जो अनिष्ट हीन हैं, और कभी भी छिद्रित होकर पानी से भरने वाली नहीं हैं, हम अपने कल्याण के लिए अदिति की उसकी नौका में आरूढ होवें। जैसे—

"सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसोअस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥"

इसी प्रकार विश्वेदेवताओं के अन्य बड़े-बड़े सूक्तों में अदिति की कुछ न कुछ चर्चा अवश्य मिलेगी। जैसे अथर्व वेद ने दो उत्तम मन्त्र दिये हैं जिनमें अदिति को ऋत् की पत्नी और सुव्रतों की माता और उसके उपस्थ में सोम की उत्पत्ति बतलाई है जैसे—

"महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥"
"वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्वन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्॥"

(७-२-६४)

यहां अदिति को यही माता भी कहा है, त्रिवरूथ भी कहा है। सब कुछ अदिति है।

४—अदिति विश्वेदेवता

अदिति तो सर्वादेवता और विश्वेदेवता हैं। अतः इसकी प्रार्थना सर्वत्र विश्वेदेवता सूक्तों में ही मिलती है। अदिति का मध्यवर्ती तत्त्व 'दक्ष' है जिसे अदिति का पुत्र भी कहा जाता है। दक्ष के पुत्र होने से दक्ष की माता अदिति को भी दाक्षायणी (दक्षजननो) भी कहते हैं। इसका प्रमाण ऋ. वे. १०-७२ सूक्त है जिसका ऋषि, बृहस्पति, लौक्य या अदिति-दाक्षायणी बतलाया गया है। दक्ष, द्वादशादित्यों में पञ्चम आदित्य हैं। दक्ष के जन्म के बारे में ऋ. वे. में कई मन्त्र मिलते हैं। १०-७२-४ में लिखा है कि "अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।" इसके अर्थ देने में यास्क ने कहा है। यह कैसे हो सकता है कि दक्ष से अदिति का जन्म हो, अदिति से दक्ष का; समाधान में वे कहते हैं कि देवधर्म से इतरेतरजन्मानः हैं। यह गलत व्याख्या है। वास्तविक बात यह है जैसा पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण वैदिक दर्शन के तत्त्व अदिति कहलाते हैं। पर मध्यस्थान २४ वें तत्त्व में दक्ष का जन्म होता है। अतः वैदिक ऋचा कहती है कि अदिति से (२४ वें तत्त्व में) दक्ष उत्पन्न होता है, पर दक्ष (२४ वें तत्त्व) से परि या आगे के तत्त्व भी अदिति ही कहलाते हैं। दक्षाद् उ अदिति में जन्यजनक अर्थ अभिष्ट न होकर स्थानावधारण के लिए अपादान है। इस स्थान से आगे के तत्त्व भी अदिति ही हैं। दक्ष का जन्म दर्शन के मध्यवर्ती तत्त्व में होना निम्न ऋचा प्रमाणित करती है "असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे ॥" (ऋ. वे. १०-५-७) कि दक्ष का जन्म अदिति के उपस्थ या मध्यस्थान या योनि या गर्त या विषुवत् रेखा में होता है। इसका अप्रत्यक्ष समर्थन निम्न ऋचा करती है जिसमें लिखा है कि 'हे अदिते! दक्ष के जन्म-कर्म में सप्त होता, अङ्गिरस, विरूप सप्त ऋषियों से सम्पन्न होने के लिए पुरुरथ, धैर्यमार्गी अर्थ या मित्रावरुणों दो राजाओं की परिचर्या करने लग जाता है।" मित्रावरुण तो दक्षक्रतू का प्रतिबिम्ब है, जिसे दक्षक्रतू कहते हैं। वही मित्रावरुणौ भी है। जैसे—

"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥"
(ऋ. वे. १०-६४-५)

एक स्थान पर (ऋ. वे. १-९४-१५) अग्नि से कहा गया है कि जब तुम किसी को भौतिकात्मा सोमात्मा प्रदान करते हो (द्रविण) तब तुम अदिति की कर्मभूमि को निरपराध या अनिष्टहीन बनाने में समर्थ होते हो, तब तुम किसी को कल्याणकारी शक्ति देते हो। तब वह अदिति की प्रजा वाला बन जाता है। अतः हम सेवा में तुम्हारे बने रहें, जैसे—

"यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशो ऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम ॥"

यहां अदिति माने अग्नि या सर्वादेवता अग्नियाँ अदिति ही हैं। ऋ. वे. १०-७२-८, ९ में अदिति के जिन सात या आठ पुत्रों की चर्चा की गई है, वे २० वें तत्त्व से २७ वें तत्त्व के प्रथम आठ आदित्य हैं। ये द्वादशादित्यों में से आठ हैं। अष्टम का नाम मार्तण्ड है। इसी को पुरुषसूक्त 'पुरुष पशु' कहता है। देवकी के आठ पुत्र येही हैं, कृष्ण अष्टम है। गीता ने लिखा है 'आदित्यानामहं विष्णुः, (१०) ये आदित्य विष्णुवादी तत्त्व हैं। 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' का जो अर्थ यहां पर दिया गया है उसका स्पष्ट समर्थन और विवेचन ऋ. वे. ८-१८-६ मन्त्र यह कह कर करता है कि अदिति दो प्रकार की है। एक दिन (पूर्वार्द्ध) की, दूसरी रात्रि (उत्तरार्द्ध) की, उत्तरार्द्ध वाली को पशुमती (भौतिकी) अदिति कहते हैं; जैसे—

"अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः।
अदितिः पात्वंहसः सदावृधा॥"

अदिति पूर्ण वैदिक दर्शन है, पर वैदिक दर्शन के दो मुख्य भाग हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन; या पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध जिसके कई अन्य नाम भी हैं। 'अश्विनी' देवता शीर्षक में अङ्कित किया जा चुका है।

५—दितिः यद्यपि पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों ही अदिति या अदीना, अखण्डा (व्यापिका) हैं तथापि उत्तरार्द्ध का विशिष्ट नाम असुर शत्रु, भ्रातृव्य, दैत्य आदि भी हैं क्योंकि यह भौतिक है, सीमित है, आसुरी सम्पदा विभिन्नता, स्वार्थता, अहंकार आदि से भरी है। अतः इसे दिति या खण्डित (सीमित) आदि नामों से भी पुकारा जाता है, असुर और दैत्य भी भौतिक भावना भरे तत्त्व कहलाते हैं, ये ही प्रत्येक ब्रह्माण्ड के ब्रह्म प्राप्ति में बाधक होते हैं और येही देह बन्धन करने वाले तत्त्व हैं। अतः इन्हें शत्रु या भ्रातृव्य भी कहा जाता है। कहा जा चुका है कि दिति का नाम ऋ. वे. में केवल तीन बार आता है। उन्हीं उद्धरणों से दिति के स्थान का निर्धारण बड़ी सुगमता और संशयहीनता के साथ किया भी जा सकता है। वे उद्धरण निम्न प्रकार से उल्लिखित मिलते हैं :—

(१) हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"
(ऋ. वे. ५-६२-८)

(२) चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान्पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य॥
(ऋ. वे. ४-२-११)

(३) त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भगः।
दितिश्च दाति वार्यम् ॥ (ऋ. वे. ७-१५-१२)

सबसे प्रथम ऋचा का तृतीय पाद यास्क ने उद्धृत किया है (३-१-५)। यास्क को गर्त शब्द का उचित अर्थ विदित नहीं है। अतः वे इसके माने रथ, सभास्थाणु लिख गये हैं। परन्तु वेदों में गर्त माने विषुवत् रेखा, मध्यवर्ती रेखा, उपस्थ, योनि इत्यादि होता है। इसका वर्णन संवत्सरब्रह्म के ऋतुमासीय विभागीय तत्त्वों के व्याख्यानावसर पर किया जा चुका है। और यहां पर 'मित्रावरुण' (२४ वें तत्त्व) से प्रार्थना की जा रही है कि तुम गर्त नामक २५ वें तत्त्व पर आरूढ हो जावो या सूर्य तत्त्व रूप में परिणत हो जावो, मित्र का परिणाम सूर्य में होकर २५ वां तत्त्व गर्तीय तत्त्व बनता है। उस २५ वें तत्त्व से तुम दोनों ओर की अदिति को और उत्तरार्द्ध की दिति को एक साथ देख सकोगे। गर्त खण्ड नहीं, सबसे ऊँची स्थली है, जहां से पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध दोनों के तत्त्व स्पष्ट दीखेंगे। गर्त आध्यात्मिकता का उच्चतम विकास, (Climax) है, वहीं से भौतिकता का उदय होने से पतन का प्रारम्भ हो जाता है, अन्तिम पतन परमाणु है। ऋचा का जो भाव यहां दिया गया है वह तो इसी ऋचा के पूर्वार्द्ध में ही सन्निहित है। उसमें लिखा है कि वह गर्त उषा के उद्भव काल में, अयःस्थूण (लोहे के स्तम्भ-यूप) (भौतिक) होने पर भी हिरण्यरूप प्रतीत होता है, वह सूर्य का उदय कारक होता है। सूर्य इसी गर्त रूप तत्त्व या रेखा में उषा के बाद उदित या विकसित होता है। उसी गर्त में वरुण और मित्र से आरूढ़ होने की प्रार्थना की गई है।

६—अदिति, दिति और गर्त

द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्द्ध में प्रार्थना की गई है कि स्व सन्तानों की समृद्धि और ब्रह्म प्राप्ति के लिए (राये) हे देव! दिति को भगादो (रास्व) और अदिति को स्वीकार करो। तृतीय मन्त्र दिति के दान कर्म की महिमा गाता है, कहता है कि हे अग्ने! तुम, सविता देवता और भगः सवशक्तिमान् यशारूप बीज का देते हो, पर दिति उस बीज को पनपाने के लिए जल सिञ्चन (वार्यम्) का कार्य कर देती है जिससे वह अखिल ब्रह्माण्ड को आवृत्त या व्याप्त कर लेती है।

पुराणकारों ने अदिति और दिति दोनों को कश्यप प्रजापति की पुत्रियाँ माना है और अदिति से आदित्यों, दिति से दैत्यों की रचना बतलाई है। कश्यप तो अदिति के 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः' में से एक पुत्र, द्वादशादित्यों में एक आदित्य हैं। अतः अदिति कश्यप की पुत्री नहीं है, माता है, पर पौराणिकों का समर्थन केवल इतने ही तथ्य से किया जा सकता है कि कश्यप के आगे के तत्त्व भी अदिति ही कहलाते हैं, क्योंकि सब तत्त्व अदिति ही हैं। कुछ परिवर्तन करने का उन्हें थोड़ा अधिकार भी होना चाहिए। नहीं तो वे मौलिकता से हाथ धो बैठते।

७—पुराणों में अदिति और दिति

वेदों के अन्तिम वेद अथर्व ने तो स्पष्ट लिखा है कि दिति के पुत्रों की रचना तो अदिति ही से हुई है, ये देवताओं से उद्धृत हैं, इनका जन्म स्थान गभि-

षक्-आसुरी-समुद्र या भौतिकी समुद्र—चतुर्थ सप्तक है। अतः इनसे झुके बिना कोई नहीं रहता। जैसे "दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्। तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन॥"

८—अदिति और उसके पुत्र

(अथर्ववेद ७-७-१) अदिति के आठ पुत्रों का विवेचन 'अष्टचक्र', 'पशुवाद' 'पुरुष पशु' तथा पुरुष सूक्त की १५ वीं ऋचा की व्याख्या में विस्तारपूर्वक दे दिया गया है, वहीं देखें। आठवाँ पुत्र मार्तण्ड है जो पुरुष पशु है, उसका सिर और धड़ बराबर था, विरूप था। देवताओं ने उनके विरूपाङ्गों को कुतरा तो कुतरे भागों से हाथी बना। जो शेष रह गया, वह मार्तण्ड विवस्वान् आदित्य हुआ (श. प. ब्रा. ३-१-३-१ से ५ तक पूरा)। अदिति का वास्तविक स्वरूप वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म का है, यह बृहदारण्यक के निम्न उद्धरण से स्वयं स्पष्ट हो जायगा—"स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति। स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च ऋचो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्त्स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत। सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वं वेद।" (१-२-५) कि वाग्रूपिणी अदिति वाग् से ही सब सृष्टि शब्दमय सृष्टि—ऋग्यजुःसाम छन्द—स्वर, दीर्घ, ऊष्माण, पञ्चवर्गीय प्रतीकी तत्त्व—उत्पन्न हुई। सत्ता रूपिणी वाग् में जो कुछ सृष्टि हुई वह सब अत्ता या अन्नाद ही बने। वाग् स्वयं अत्ता अत्रि हैं (आगे अत्रि शीर्षक देखें)। यह वाग्रूपिणी अदिति आत्मा या ब्रह्मरूपिणी ही है—'वाचा तेनात्मना सर्वमसृजत' वाक्य पर ध्यान दें। यही सर्व सृष्टि का मूल कारण भी है, अन्य देवता इसी के प्रतिरूप हैं।

———

अध्याय २७

अत्रि—अत्रि नाम तो एक प्रसिद्ध ऋषि का है। पर वैदिकों ने इनके नाम को वैदिक दर्शन के एक प्रमुख तत्त्व के लिए प्रयुक्त किया है। क्योंकि वैदिकों को प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या को गाथा रूप में कहने का आदी इसलिए बनना पड़ा था कि उन्हें कर्मकाण्डीय रंग-मंच में प्रत्येक तत्त्व के अभिनय की अनिवार्य आवश्यकता थी।

१—अत्रि जन्म कथा

सृष्टिविकास वृत्त की व्याख्या करते हुए तथा सप्तर्षियों का तादात्म्य प्राणाग्नियों से दर्शाते हुए अत्रि नामक तत्त्व की प्रस्फुट व्याख्या देते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् लिखता है कि "वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति। सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद॥" (२-२-४) अत्रि नाम वाणी का है, वाणी के द्वार से अन्न अपनाया जाता है, जो अदन (भक्षण) करने वाला है, वही अत्रि है, (मुखादग्निरजायत' का स्मरण करें) सब कुछ अदन कर्त्ता को सर्वान्न या सर्व पाञ्चभौतिक तत्त्वों का विकास मिलता है। आगे बतलाया जायगा। 'अन्न' भी स्वयं अत्ता है, अन्न हमारा भौतिक तत्त्व है जिसकी वृद्धि दूसरे भौतिक तत्त्वों के भक्षण से होती है। इस अन्न की जन्मदात्री वाणी या वाग्ब्रह्म है, अत्रि नामक वाग्बल २४ वां तत्त्व है, क्योंकि जिस सन्दर्भ में बृहदारण्यक ने 'अत्रि' का स्थान (वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानाः) अष्टम स्थान रखा है, वह गौतमरूप अग्नि से (सत्रहवें तत्त्व से) आठवीं है। अतः पूरे क्षेत्र में इसका स्थान २४ वां पड़ता है। यह २४ वां अत्रि नामक वाग्ब्रह्म ॐ कारब्रह्म है। इसके पूर्व स्वरों का भी उदय (ऋग्, यजु, साम) होता है। साम में केवल अनुनासिक नामक ऊष्माण का यहां तक उदय होता है। शेष का चतुर्थ सप्तक में २५ वें से लेकर आगे शतपथ ब्राह्मण (१-४-१-८,९,१०,११,१२,१३) ने अत्रि और वाग् के बारे में एक दूसरे ढंग की कथा कही है। "अथातो मनश्चैव वाचश्च। "अहं भद्रऽउदितं मनश्च ह वै वाक्चाहं भद्रऽऊदाते। तद्ध मन उवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किं चनानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥ अथ ह वागुवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयामि "अहं संज्ञपयामीति ॥ ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः स प्रजापतिर्मनसऽएवानूवाच "मन एव त्वच्छ्रेयो मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि श्रेयसो वै पापीयान्कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ॥११॥ सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये, तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक्प्रजापतिमुवाचाहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं यां मा परावोच इति तस्माद्यत्किं च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियतऽउपांश्वेव तत्क्रियते, अहव्यवाड् हि वाक् प्रजापतयऽआसीत् ॥ तद्धैतद्देवाः रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्तिऽअत्रेव त्या ३ दिति' ततोऽत्रिः सम्बभूव तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्व्येतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः॥" यहां पर जो कथा गाई गई

है उसका मुख्य लक्ष्य यह है कि प्रथम तीन सप्तकों का वाग्ब्रह्म 'उपांशु' है, प्राणीय या मानसिक या ब्राह्मी वाग् है, घोषीय, नादीय, आसुरी नहीं, और 'अत्रि' नाम की उत्पत्ति की एक वैज्ञानिक कथा है। कहा है मन और वाणी में वाद-विवाद हो पड़ा, दोनों अपने-अपने को आपस में बड़ा बतलाने लगे। मन ने कहा—देखो वाणी तुम तो मेरे अनुसार चलती हो। अतः मैं तुमसे बड़ा हूँ। वाणी ने कहा- मैं ही तो तुझे बतलाती और चेतना में लाती हूँ। तब दोनों झगड़ते हुए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उनसे मन ही मन बात की और कहा मन ही वाणी से श्रेष्ठ है (अग्रिम विकास है) जो अनुकरण करता है, वह पापी कहलाता है। 'परा' वाणी बेचारी आश्चर्य में पड़ गई, उसका गर्भपात हो गया। और उसने प्रजापति से कहा मैं तुम्हारे लिए, तुम्हारे यज्ञकर्मों के लिए अनुपयुक्त (अहव्यवाड्) हूं। अतः प्रजापति यज्ञ 'उपांशु' में मन ही मन किया जाता है। जब देवता लोग वाणी के गर्भपात के रेत को ढूंढने लगे तो "अत्रैव त्या३द्" कहने को इसी शब्द के बोलने से उस वाणी का नाम 'अत्रि' पड़ गया। उसी से आत्रेयी उसकी स्त्री रूप वाणी स्त्रियों के लिए या देवताओं के लिए हुई। यहां गर्भपात कहने का केवल यह तात्पर्य है कि वाणी के उपांशु स्वरूप का 'अंशु' रूप में विकास हुआ। 'उपांशु' का गर्भ 'अंशु' है, उपांशु का विकास अंशु रूप ॐकारीय वाणी में हुआ, वही 'अत्रि' कहलाया। पशुओं का प्रजनयिता यहां अत्रि है। अतः पशुओं (पुरुष, पशु, गोरश्व, रासभ, अवि, अजा) को "आत्रो सा संपद्, यदाहु:"[1] (श० प० ब्रा० १-२-१-७) वाक्य में आत्र संपद् या अत्रि सन्तान कहा है, इसको 'अंशुः प्रजापतिः' और 'चतुर्विंशं महाव्रतं' भी कहा है। (अत्रि, सूर्य और चन्द्र के नायक होने का वर्णन सूर्यशीर्षक में देखें)

———

[1] स्वस्त्यात्रेयं मनसा च तार्क्ष्यम् (स्वस्तिवाचनम्)

अध्याय २८

अन्न ब्रह्म—वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में 'अन्न' नामक ब्रह्म की बड़ी चर्चा है। इसका सम्बन्ध भी अत्रि नामक वाग्ब्रह्म से है (अत्तीति अत्रिः अन्नं च)। पर यह अन्न तत्त्व अत्रि नामक वाग्ब्रह्म (२४ वें तत्त्व) से तीसरी सीढ़ी २६ वां तत्त्व या सत् तत्त्व है जिसे चन्द्र या सोम कहते हैं। "सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स एतां रात्रिं क्षीयते तस्मिन् क्षीणे ददाति॥" (श० प० ब्रा० २-४-२-७)। सोम नामक राजा ही देवताओं या तत्त्वों का अन्न पोषक या विकास का मुख्य मूल है, यही चन्द्रमा सत्तत्व है या भौतिक तत्त्व का प्रथम अणु है, जो रसमय और निरन्तर निखरता (क्षीयते) रहता है, उसी निखरने वाले रस को वह अग्रिम तत्त्वों को पिलाता क्या है, उनका विकास करता है। यह अन्न या सोम या चन्द्रमा या सत् रसमय है, इसका प्रमाण है "अत्र वा अन्नं प्रतिष्ठति अन्नं वै सोमस्तस्मान्नाभिदघ्नो भवति।" (श० ब्रा० ३-३-१-२७) "रेतो वै सोमः" (३-८-५-२) और "सोमो वै देवानां हविः"(४-३-४-१)। यह 'अन्न' नामक तत्त्व चतुर्थ सप्तक का ही है। यह बात "पशवो वा पूषा, अन्नं वै पशवो ? अन्नं एष उज्जयति' उल्लेख से स्पष्ट हो जाती है कि अन्न नामक तत्त्व 'पशु' या चतुष्पाद् है, चतुर्थ सप्तक का है। क्योंकि लिखा है 'तद्ये चतुष्पादाः पशवस्तैरेवैनमेतत्सम्भरत्यथो अन्नं वै पशवः" (६-५-६-७)। सोम की गाथा गायत्री के विवरण में दे दी गई है, गायत्री वाग्ब्रह्म है। अतः 'अन्न' सम्प्रदाय भी सोम सम्प्रदाय की तरह वाग्ब्रह्मवादी है। आपको आश्चर्य होगा कि इसी सोम या अन्न या सत् या चन्द्र या प्रथमोत्पन्न भौतिक अणु का ही नाम वृत्र है; जिसका व्याख्यान आगे दिया जायगा। अन्न २६ वां भौतिक तत्त्वाणु है। अतः सभी उपनिषद्कार इसे ब्रह्म कहते आये हैं। इस बात की पक्की पुष्टि में शतपथ ब्राह्मण एक प्रामाणिक कथा देता है कि प्रजापति की दो आंखें सूर्य (२५ वां), चन्द्र (२६ वां) हैं, उनमें से चन्द्रमा निमीलित नेत्र था, उसी बन्द आँख से 'अन्न' नामक तत्त्व का रस आँसू रूप में निखर कर निकला "य एवायमात्मन्प्राणः सोऽस्य स द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्चक्षुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादस्रवत्" (श० ब्रा० ७-१-२-७)। अन्न असद् नहीं सद है, यह (७-१-२-४) में कहा है।

१—अन्न ब्रह्म किसे कहते हैं

अन्नवाद की चर्चा उपनिषद् सार गीता में भी आई है "अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः। कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥ इसके भौंड़े भाष्यों और थोथी टीकाओं को देख कर मन कुढ़ने लगता है। लोग इसका अर्थ दानेदार अन्न, बरसने वाले मेघ, हवन का यज्ञ (उससे धुवाँ), कर्मकाण्ड लगाकर न जाने कैसे, किस

२—गीता में अन्न ब्रह्म और पर्जन्य

प्रकार इनका नाता ब्रह्म और अक्षरब्रह्म से लगाते हैं, वेही जानें। यहां तो गीता पूरे चतुष्पाद् ब्रह्मदर्शन का विविक्त विवेचन दे रही है। यह वैदिक दर्शन के २६ तत्त्वों में से उनके प्रधान ब्रह्मों की क्रमिक व्याख्या दे रही है। बृहदारण्यक उपनिषद् अन्न और सोम का सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखता है "अथेत्यभ्यमन्थत्। स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत (अतिथिब्रह्म)·········यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव··· तद्रेतसोऽसृजत। तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च···।।" (१-४-६) अग्नि की उपाधि के बाद एक-एक देव (सप्तर्षियों-सप्तप्राणाग्नियों) का यज्ञ करके रेतस् (२५ वां) तत्त्व बनाया, तब सोम या अन्न। जिसे यहां अन्नाद सोम कहा है उसका जन्मदाता रेतस् या रजस् या मन रूप या कामरूप या चक्षुरूप सूर्य बतलाया गया है। इसी मनः या चक्षुरूप २५ वें तत्त्व को छान्दोग्य उपनिषद् 'पर्जन्य' नाम से पुकारता है "सा वाग् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत। ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद। अथ योऽस्योदङ सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यः। तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत" (३-१-३-३४) यहां पर 'मनस्' नामक २५ वें तत्त्व से उत्पन्न समान नामक प्राण को ही पर्जन्य नाम से पुकारा है। और इसकी उपासना वाले को अन्नाद भी कहा है। अतः यह स्पष्ट है कि यह 'पर्जन्य' अन्नगर्भा है अर्थात् 'अन्न' नामक २७ वें तत्त्व की उत्पत्ति इसी मनस् 'पर्जन्य' नाम के तत्त्व से होती है।* यह है अर्थ 'पर्जन्यादन्नसम्भवः' का—

पर्जन्य की उत्पत्ति यज्ञ से मानी गई है। यज्ञ, पुरुष का नाम है, उसे यज्ञपुरुष भी कहते हैं 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः' पर यज्ञ या यज्ञ पुरुष या पुरुष और पुरुषपशु में महान् अन्तर है। 'पुरुषपशु' तो मार्तण्ड नामक अष्टम आदित्य है, यज्ञपुरुष २४ वां तत्त्व, मन (चक्षु, सूर्य) का जनक अब्ज नृषद् ब्रह्म है। उसके लिए कहा है।

३—पर्जन्य की उत्पत्ति

"पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै तायमानो
यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः।।"

(शतपथ ब्रा. १-३-५-१)

पर 'पुरुषपशु' के लिए तो 'अबध्नन्' लिखा है (पु. सू.) और ऐतरेय ब्राह्मण कहता है।

"पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त।"

(ऐ. ब्रा. २-१-८)

इस यज्ञपुरुष का उदय कर्म से बतलाया है। कर्मभूमि 'वेदि' होता नामक ब्रह्म का द्वितीय सप्तक है; जिसके लिए कहा है—

---

* मुण्डक उपनिषद् ने सोम से पर्जन्य और ओषधि की उत्पत्ति बतलाई है, इससे उक्त वाक्य की पुष्टि होती है "सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः"। यह पाठ उचित ही है। गीता भी अन्यत्र यही क्रम देती है।

"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥" य. वे. ३४-४

यह वेदि प्रथम मुख्य कर्मभूमि है । जहां से प्राणवायु और प्राणाग्नियों की उत्पत्ति का क्रमिक कर्म होता है । उसीसे यज्ञपुरुष का विकास होता है । कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से या खंब्रह्म से या अन्तरिच्च नामक द्वितीय सप्तक से होती है । और इस अष्टधा खंब्रह्म की उत्पत्ति अक्षरब्रह्म या द्यौ से होती है जिसे सुकृत भी कहते हैं 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' (कठ ३-१) । यह है कर्मवाद या कर्मयोग या गीता के उक्त दो श्लोकों का वास्तविक अर्थ । पुरुष सूक्त का 'पृषदाज्यं' शब्द इसी अन्न का नाम है "प्राणो हि पृषद् आज्यं, अन्नं हि पृषद् आज्यं, अन्नं हि प्राणः" और पयः पृषदाज्यं, पशुषु पयो हितं प्राणः" (श. ब्रा. ३-८-४-८)

अन्नवाद वैदिकों का बहुत प्रिय विषय है और यह बड़े महत्त्व का वाणि-वाद है । यह अन्नवाद सीधे सोमवाद से भी सम्बद्ध है । चन्द्रवाद और सोम-वाद में, अथवा अन्नवाद और सद्वाद (विष्णुवाद) में आकाश-पाताल का अन्तर है । सोमवाद या अन्नवाद पौराणिकों का रुद्रवाद है । यह स्त्रीपुमान्स-म्परिष्वक्तवाद या अर्द्धनारीश्वरवाद है और शुद्धरूप से ओषधिवाद है जिसमें स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त रहते हैं । पेड़-पौधे, वृक्षादि सब ओषधियाँ अर्द्धनारीश्वर रुद्ररूप हैं, इनमें पुँस्त्व और स्त्रीत्व दोनों एक साथ नित्यरूपेण रहते हैं । बीजों में भी यही बात रहती है । अतः विष्णुवाद और चन्द्र या सद्वाद तो जङ्गमप्राणि-वाद है तथा सोम और अन्नवाद स्थावर प्राणिवाद है । ये दोनों गर्भवाद के भेद हैं । इन दोनों की सृष्टि नित्यरूप से बीज रूप गर्भ ही से होती है । परन्तु गर्भे-तर, गर्दभ, गर्दभी रूप पशुओं या जड़ कहलाने वाले तत्त्वों को पुरोविणः कहते हैं । "पशवो वै पुरीषं" (श. ब्रा. १-२-३-१७) । ये पुरीष इसीलिए कहलाते हैं कि इनकी गर्भाशय से उत्पत्ति न होकर पुर या शरीर रूप में सृष्टि होती है । जब-जब ये उत्पन्न होते हैं, ये उत्पन्न होते ही 'अहमन्नादः-अहमन्नादः' कहकर चिल्लाते पैदा होते हैं । दूसरे शब्दों में प्रत्येक-प्रत्येक का अन्न या भोज्य या पोषक या विकासक या विस्रंसक है । प्रत्येक सजीव और सचेतन हैं । अतः 'जीवो जीवस्य भक्षणं' की वार्ता अक्षरशः सत्य करते रहते हैं । जीव धारियों के स्थावर-जङ्गम भेद को मूलि और अमूलि दो नाम भी दिये गये हैं ।

"द्वयं वाऽइदं जीवनं मूलि चैवामूलं च तदुभयं देवानां,
सन्मनुष्या उपजीवन्ति पशवो मूला ओषधयो मूलिन्यः"
(शत. प. ब्रा. २-३-१-१०)

यहां जिस अन्न की चर्चा हो रही है, वह सद् है, रूपवान है, पर वैद्युतीय प्रवाही अणु रूप है । अतः इसे पावक नाम से पुकारा है "अन्नं वै पावकः" (श. प. ब्रा. २-१-७-५) । इस अन्न को चन्द्र, अप् , श्री, रेतस, प्राण, आत्मन्, अर्क, वाज, शान्ति आदि विद्युत् नामों से श्रुतियों ने पुकारा है, शप. ७-५-२-७; ८-६-२-१, ऐ. ५-२७) यह इस तत्त्व की महिमा का द्योतक है ।

प्राचीन उपनिषदों ने इस अन्नवाद की व्याख्या नानारूपों में कर रखी है, सबका आशय इसे अन्न ब्रह्म २७ वां तत्त्व मानने की दिशा में पूर्णतः पक्का है।

४—उपनिषदों में अन्नब्रह्म

वास्तव में अत्तीति अन्नं नाम चिन्मय चैतन्यरूप वाणी का है। यह शब्द ब्रह्म है जो चैतन्य ब्रह्म है, जो वाग्ब्रह्म है। वही अन्न है, वही अन्नाद भी है (तै. उप. भृगुवल्ली ६)। इसी अन्न तत्त्व की शरण में प्राण या सोम रूपी आत्मा रहती है (श. प. ब्रा. ७-२-२-४५) 'प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्।' अन्न न हो तो प्राण नहीं, प्राण नहीं तो अन्न नहीं। ये एक दूसरे के जन्यजनक, पोष्य-पोषक और आधाराधेय भी हैं। इसी बात को बृहदारण्यक दुहराता है और अधिक सफाई से कहता है कि 'सर्व-मन्नं' जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की व्याख्या सबसे अच्छी देता है। इसकी उत्पत्ति 'आर्द्र' तत्त्व सोम रूप रेतस् से बतलाई है, दूसरा शुष्क तत्त्व आग्नेय या सौर है।

"अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत। तदु
सोमः। एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च" (१-४-६)

यह अन्नवाद बहुत लम्बा और विस्तृत विषय तथा स्वतः पूर्ण दर्शन है जिस पर थोड़ी सी प्रकाश किरणें सप्तान्नवाद द्वारा बृहदारण्यक (१-४-१७, ५-१) छोड़ता है। अन्न प्राण है। इसका प्रमाण माता का दूध है जो प्राणी (पुत्र) को प्राणों के लिए प्राण (दूध) पिलाती है। या अन्न (प्राणी) को अन्न (शरीर) के लिए अन्न (दूध) पिलाती है। एक अन्न आत्मा है, ये जीवात्मा रूपात्मा हैं, एक देहात्मा है, तीन मन, वाक्, प्राण हैं इत्यादि (वहीं)। 'अन्नं बहु कुर्वीत' के माने इन्हीं अन्नों की वृद्धि होती है, 'अन्नं न निन्द्यात्, माने 'इनकी अवहेलना न करना' है। प्रत्यक्ष अर्थ तो अजागलस्तनवत् या व्यर्थ के लटके हैं। यह अन्न शुक्र भी कहलाता है। शुक्रामन्थी ग्रह भी चन्द्र या अन्न ही है; 'सोम' देखें। सूर्य से अ- स्थापित होता है "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रँ पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानः शुक्रमन्धस इन्द्रस्य इन्द्रियमिदम्पयोऽमृतं मधुः॥" यह वैदिक ऋचा 'अन्न' नामक तत्त्व की इतनी बड़ी भारी महिमा गाती है। यह ऋत से उद्भूत सन् तत्त्व है। इन्द्ररूप तैजसात्मा का इन्द्रियरूप या रसरूप शरीर है, यह प्रत्येक इन्द्रियरूप या रसरूप का विपान या विशिष्ट पेय है। तेजस्वी अन्न या पौष्टिक है। यह प्रजापति ३३ वें ब्रह्म का सोम है। क्षत्र तत्त्वों का पयस् नामक पेय है, ब्राह्मण नामक तत्त्वों का रस नाम पेय है, यही पयस् है, यही मधु है, यही अमृत है, सब कुछ यही रस है जो अन्न से निरन्तर टपकता है"। ब्राह्मण, क्षत्रिय, विश्, शूद्र, तथा पय, अमृत (घृत) मधु (और मेद) ये चारों क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सप्तकों के तत्त्वों के समाहारीय नाम हैं। इस अन्न में तीन रूप हैं। इसका शुक्लरूप जल का है, लोहित अग्नि का और कृष्ण इसी अन्न का। येही प्रकृति के सत्त्व, रज, तम गुण हैं (छा. ६-४)।

———

अध्याय २९

निर्ऋतिः

'निर्ऋति' नाम किस तत्त्व का है। इस पर अभी निर्णयात्मक व्यवस्था नहीं की जा सकी है। अभी मत भिन्न हैं, भाव भिन्न हैं। निर्ऋति की व्युत्पत्ति "निर्गता ऋतान् इति निर्ऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति···असौ आमुष्यायणः' (श. प. ब्रा. ७-१-३-११) सर्व श्रेष्ठ है। जिन लोगों ने इसकी व्युत्पत्ति 'निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा सा पृथिव्या संदिह्यते' दी है (यास्क निरुक्त २-७), उन्होंने इस विषय को अन्धकार के गर्त में ढकेल दिया है। वास्तव में 'निर्ऋति' शब्द या नाम निघण्टु में पृथिवी के २१ नामों में से एक है। यह पृथिवी वैदिक पृथिवी है। यास्क इस विषय में स्वयं डवाँडोल हैं, उन्होंने देवताओं को तीन स्थान—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु में विभक्त किया है, पर वे भूल गये हैं और लिख गए हैं कि पृथिवी का स्थान द्यू या दिव में भी है (निरुक्त ६-३०) और ऊपर उन्होंने निर्ऋति की व्याख्या में लिखा है कि "यह पृथिवी का नाम है, ऐसा संदेह होता है पर इसका अर्थ दुःख या आपत्ति है।" वैदिक पृथिवी क्या है ? इस पर "अष्टौ लोकाः, अष्टौ पुरुषाः" नामक शीर्षक में विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है। यहां पर 'निर्ऋति' के स्थान और तात्त्विक विषय पर निर्णय देने से पहिले निर्ऋति का जो कुछ वर्णन वेदों और ब्राह्मणों में दिया मिलता है, उसे दे दिया जाता है जिससे निर्णय देने और समझने में लेखक और पाठक दोनों को सुविधा होगी।

१—निर्ऋति के बारे में भ्रम

अथर्ववेद में निर्ऋति के दो सूक्त निम्न प्रकार से दिये मिलते हैं। इनके कई मन्त्रों के भाष्य (श. प. ब्रा. ७-१-३) पूरे प्रपाठक में जिस प्रकार दिये गये हैं, वे भी यहां दिये जायेंगे। श. प. ब्रा. ने जिन मन्त्रों को उद्धृत किया है, वे यजुर्वेद से लिये गये हैं। अतः उनमें शाखान्तर भेद से पाठान्तर तो है पर भावान्तर बिलकुल नहीं है। दोनों के मन्त्र पाठ अलग दिये जायेंगे। ऋग्वेद ने इस विषय में जो मौलिक भाव प्रस्तुत किये हैं, उन्हें निर्णय के लिये अन्त में प्रस्तुत किया जायगा।

२—निर्ऋति के सूक्त और भाष्य

(१) अथर्ववेद—६-६३—

"यत्ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत्।
तत्ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१॥
नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥२॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥३॥
संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥४॥"

(२) अथर्ववेद ६-८४—

"यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥१॥
भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु ।
मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥२॥
एवो ष्वस्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३॥
अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥"

(३) अथर्ववेद २-१०—

"क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥
शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः—एवाहं त्वां० ॥२॥
शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
एवाहं त्वाम् ॥३॥
इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे ।
एवाहं त्वां ॥४॥
तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः ।
एवाहं त्वाम् ॥५॥
अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।
एवाहं त्वां···॥६॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवाहं त्वां···॥७॥
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां···अनागसं ब्रह्मणा······उभे स्ताम् ॥८॥"

(४) यजुर्वेद (मा० शा०) (१२-६२, ६३, ६४, ६५, ६६)

"असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य ।
अन्यमस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥६२॥
नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽअधिरोहयैनम् ॥६३॥

यस्यास्ते घोरऽआसञ्जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय यां त्वा जनो भूमिरिति ।
प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वतः ॥६४॥
यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम् ।
तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं
पितुमद्धि प्रसूतः । नमो भूत्यै येदं चकार ॥६५॥
निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः ।
देवऽइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥६६॥

निर्ऋति के सम्बन्ध में उपरिष्टात् चारों भागों में जो-जो मुख्य मन्त्र हैं, उनमें से यजुर्वेद ने चतुर्थ भाग में सबको दे दिया है, शेष मन्त्रों में उन्हीं की भावनाओं का विस्तार है। यजुर्वेद और अथर्ववेद के सूक्तों के मन्त्रों में कहीं-कहीं पाठान्तर हैं, पर इन पाठान्तरों में अर्थान्तर और भावान्तर का समावेश नहीं हुआ है। भावों में सर्वत्रैकमत्य है।

३—निर्ऋति के बारे में सर्वैकमत्य

यहाँ पर यजुर्वेद ने जिन मन्त्रों को दिया है, उनका भाष्य श० प० ब्रा० ने ७-१-३ के पूरे प्रपाठक में विस्तार पूर्वक देकर लेखक को इनके अर्थ विषयक भार से मुक्त कर दिया है। श० प० ब्रा० के भाष्य के अनुसार निर्ऋति नाम 'तमस्' का है जिसे वह 'अनतिदृश्यं तमः' या असीम तम' (अन्धकार) कहता है 'तम एवानतिदृश्यमपश्यन्' (२) 'तत्तमः पाप्मानमपाघ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिः' (३) यहां पर द्वितीय उद्धरण निर्ऋति को पाप्मा (भौतिक या आसुरी) तत्त्व भी बतला रहा है। निश्चयरूप से यह अन्धकारमय पाप्मा वही तत्त्व है जिसने सूर्य (२५ वें तत्त्व) को प्रथम भौतिक आभास रूप में चारों ओर से घेर लिया था, जिसका विवेचन 'सूर्य नामक' शीर्षक में किया जा चुका है। अथर्ववेद के उक्त उद्धृत २-२-५ (१०) का आठवां मन्त्र इस निर्णय पर पक्की मुहर लगाते हुए कहता है कि ऋत नामक आध्यात्मिक तत्त्व सूर्य को जिस तमोरूप निर्ऋति ने ग्राह्य या ग्रहण कर लिया था। उसे देवताओं ने पाप्माहीन (निरेणसः= निः+एनसः) बना लिया या अन्धकारहीन कर लिया था। इस तमोरूप भौतिक तत्त्व ने निर्ऋति दिशा या दक्षिण-पश्चिम दिशा से सर्व प्रथम घेरना प्रारम्भ किया था। अतः इससे उत्पन्न तत्त्वों को 'नैर्ऋत्य' कहते हैं 'तस्मादेता नैर्ऋत्याः।' वर्तमान वैज्ञानिक आकाश गंगा का मुख इसी नैर्ऋत्य दिशा में कुम्भ राशि के सामने मानते हैं, यही उद्भव बिन्दु है।

४—श० प० ब्रा० का दिया भाष्य

निर्ऋति के जन्म की कथा देते हुए श० प० ब्रा० (७-१-३-५) लिखता है कि उखा या योनि में जो रेतस् (वीर्य) सींचा गया, वह गार्हपत्य नामक लोक या उत्तरार्द्ध में प्रतिष्ठित किया गया। यह रेतस् प्रजापति विसृष्ट हुआ था (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्याय दिवमित्यन्य-तस्य रेतो व्यस्रंसत्—; ततो अत्रिः अत्रत्याद् इति

५—निर्ऋति के जन्म आहुः की कथा

ऐ० ब्रा० ३-३-३३; श० प० ब्रा० १-४-१-११,१२-१३) और वाणी का गर्भपात। योनि नाम उत्तरावेदि का है (श० प० ब्रा० ७-२-३-२८—'योनिर्वाऽउत्तरवेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति')। इस रेतस् को पाप्मा नाम से भी पुकारा गया है (श० प० ब्रा० ७-२-३-४६ 'सं रेतांसि पाप्मऽसह')। अतः इस पाप्मा रेतस् की वृत्तियां दैवी तथ्यों से चार प्रकार से भिन्न हैं (१)। यह पाप्मा या असुर है (२) निस्तेजाः या श्लेष्मामय है, (३) अजन या जन्मधारी गर्भमय उल्व है, और (४) जरायु या जीर्ण होने वाला और सीमित आयु का है, देवता तत्त्व इसके विपरीत दैवी-गुण सम्पन्न, तेजोरूप, अजरूप और निर्जर तथा अमर हैं (श० प० ब्रा० ७-१-३-५ 'तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्वं यज्जरायु तदस्यैताभिरपाघ्नन्')। निर्ऋति का स्थान पराचैः या अधस्पद या उत्तरार्द्ध या पृष्ठपद है। निर्ऋति का नाम अलक्षणा और तमोरूप होने से 'कृष्णा' भी है। जब इसे 'कृष्णा' नाम से पुकारते हैं तब दूसरे इसे 'द्रुपदा' नाम से भी सम्बोधित करते हैं (अथर्व ६-९-२-४)। क्या महाभारत ने इसी को द्रौपदी कृष्णा नाम तो नहीं दिया है? अधिक संभव है।

निऋ्ऋति तत्त्व आसुरी या भौतिक है, अदेवयु है। अतः कहा गया है कि हे निर्ऋते! तुम उसकी इच्छा करो जो न तो सोममय ब्रह्म रस का सवन या सेवन करता है और न जो उसका अभिनय यज्ञप्रणाली में ही देख सकता है। जैसे चोर मुँह दुबका कर भाग जाता है, ऐसे ही तुम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण से मुँह छिपा कर अन्य किसी भौतिकता में सने व्यक्ति की इच्छा करो, (ऐसा करने की तुझसे प्रार्थना है या तुझे नमस्कार करते हैं या ऐसा करने के लिए) तुझे हाथ जोड़ते हैं ॥१॥ हे निर्ऋते (तुम भूली हो) तुम तो बड़ी तेजस्विनी हो (सोम रूप में), तुम तो जिसको पकड़ या जकड़ लेती हो, उसे लौह शृङ्खलाओं से जैसे निबद्ध कर लेती हो, इस विषय में तुम यम के समान बलवती हो, तुम अपने यम-नियमों में यमी या दृढ़ संकल्पवती हो। अतः तुमसे प्रार्थना है कि तुम अपने यजमान को स्वर्ग या तृपादमृत में आरूढ़ कर दो, उसे अपनी शृङ्खलाओं से मुक्त कर दो ॥२॥ हे निर्ऋते! तुम तो घोर भयंकर शक्तिशालिनी हो। अतः यजमान को तेरे बन्धनों से मुक्त करने के लिए यह हवनादि यज्ञ कर रहा हूं। तुम तो भूमि या पृथिवी हो। तुम्हीं में तो तुम से सब शरीरी उत्पन्न होते हैं, तुम सबको शरीर अर्पण करती हो। अतः मैं तो तुम्हें सर्वतः अर्पण करने वाली निर्ऋति ही कहता और मानता हूं। अतः तुम्हारा यहां आमन्त्रण कर रहा हूं। आमन्त्रित व्यक्ति किसी की हिंसा नहीं करता ॥३॥ यजमान को निऋति देवी ने जिस पाश से गले में बाँधा है (बन्धन रूप शरीर की आसुरी प्रवृत्ति दी है), उसे मैं कहता हूं। (दैवी ज्ञान ब्राह्मण ब्रह्म कहता है) और उसे अग्नि रूप आयु के मध्य स्थान में आहूत गार्हपत्याग्नि, अनाहूत आहवनीय युवा और स्थविर रूपों के मध्य में कहता हूँ। अब पिता (जगत्पिता) के अन्न

६—यजुर्वेद में दिये मन्त्रों का श० प० ब्रा० में प्राप्त अर्थ

या सोमरूप ब्रह्मरस की प्रसूति या उत्पत्ति हो गई है, उसे पीवो। इस रस का निर्माण जिन लोगों ने कल्याणकारी जीवन के लिए किया था, उन्हें (बार-बार) नमस्कार ॥४॥ यह दैवी वृत्ति का, लोक अखिल वसुओं या नाना शक्तिरूप धनों का मूल संगम है, जिन शक्तियों से ब्रह्मरस नाना रूपाकारों की सृष्टियों में परिणत होता है, जिन शक्तियों की सत्यधर्मता द्वारा इन्द्र भी सविता देवता (सोम, विष्णु, गायत्रीब्रह्म) की तरह आगे के विकासीय युद्धों या संघर्षों के मार्ग में कहीं रुक नहीं सका, (वह 'पथ्या स्वस्तिः' का सुरक्षित यात्री बन गया) ॥५॥ येही सब भाव अथर्वोक्त सूक्तों के मन्त्रों के भी हैं।

७—निर्ऋति निर्णय का विचार

अब उक्त समस्त सन्दर्भ को दृष्टिपथ में रखते हुए ऋग्वेद की ऋचाओं के द्वारा निर्ऋति का यथार्थ निर्णय करना आवश्यक है। ऋग्वेद १-१६४-३२ में इसका वर्णन इस प्रकार दिया है "य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥" इस ऋचा के अर्थ के बारे में यास्क के निरुक्त कालीन अर्थ का समूल खण्डन किये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसका सीधा अर्थ तो यह है "वह, जिसने उसे बनाया, उसके बारे में कुछ नहीं जानता, जिसने उसे देखा, वह उसकी दृष्टि से बाहर है। कहने का सीधा आशय यह है कि निर्माता तो ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय, दृश्य आदि हो सकता है, पर जो (सृष्टि) निर्मित होती है; वह इतनी अनन्त, अपार, नाना रूपाकार की है कि उसका सर्वतः ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय दृश्य होना नितान्त असम्भव है। अनिर्वचनीय, अपूर्णज्ञेय, अपूर्णध्येय, अपूर्णप्रमेय, अपूर्णदृश्य है, इतना ही कहा जा सकता है कि वह माता के गर्भ में आकर बहुत सन्तति के रूप में निर्ऋति में प्रवेश कर गया।" इस ऋचा के अर्थ में यास्क ने 'बहुप्रजा' शब्द के दो अर्थ जबरदस्ती लाद दिये हैं। एक तो है 'परिव्राजक' भ्रामक संन्यासी। जो कहते हैं कि बहुप्रजा माने दुःख और आपत्ति है, उससे निरुक्तकार कहते हैं कि इसका अर्थ ऋतु से संबन्ध रखता है—विशेष कर वर्षा ऋतु से, वृष्टि ही बहुप्रजा है। दोनों में एक ने तो केवल लौकिक दृष्टिकोण या प्राकृतिक दृष्टिकोण अपनाया है। दूसरे इन्होंने इस ऋचा के आगे-पीछे के मन्त्रों के सन्दर्भ को तनिक भी ध्यान में नहीं रखा है। तीसरे इस ऋचा में स्वयं प्रतिध्वनित दार्शनिक दृष्टिकोण की ओर इनकी दृष्टि जा ही नहीं सकी है। चौथे निर्ऋति के बारे में जो मन्त्र पिछले परिच्छेदों में दिये गये हैं उन्हें इन लोगों ने समझने, देखने और जानने का प्रयास भी नहीं किया है। हां, इनका सम्बन्ध ऋतु विद्या या वर्षा ऋतु से मानने वाले ठीक कहते हैं। वर्षा चतुर्थ सप्तक है। वही निर्ऋति का स्थान है। यह आगे स्पष्ट हो जायगा। यास्क, जैसे निरुक्तकारों ने उक्त ऋचा में आये 'मातुर्योना परिवीतो' का अर्थ ऋतुरूप में घटित करने के लिए 'माता' और योनि माने अन्तरिक्ष लिखते हुए और इस अन्तरिक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है 'जिसमें सब भूत निर्मित्त होते हैं वह योनि अन्तरिक्ष और वायु है। वह वायुरूप महानवयवः स्वयं वायु से ही परिवृत (घिरा या युक्त) रहता है—

स मातुर्योनौ मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानि योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुनायमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति ।

(निरु० २-८)

इस सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान आकर्षित किया जाता है । श० प० ब्रा० ने अन्तरिक्ष शब्द की व्युत्पत्ति वैसी नहीं दी है, जैसी यास्क देते हैं, श० प० ब्रा० में लिखा है—

"यो ऽन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षमभवद् ईक्षं हैतन्नाम ।
ततः पुरान्तरा वा इदमीक्षमभूत् तस्मादन्तरिक्षं तद् गार्हपत्यम् ।।"

(७-१-२-२३)

दो सप्तकों में जो मध्यवर्ती आकाश है वह अन्तरिक्ष है । इस आकाश का नाम 'ईक्षम्' है, उसके पहिले से या मध्य स्थान से जो कुछ दिखाई पड़ता रहा वह अन्तरिक्ष कहलाया, यह तो गार्हपत्य अग्नि का नाम है । यास्क की अन्तरिक्ष शब्द सम्बन्धी व्युत्पत्ति स्वयं गलत सिद्ध हो जाती है । प्रस्तुत या जहां कहीं भी वेदों में माता या योनि शब्द का प्रयोग आया है, वहां सर्वत्र ही इन शब्दों से पृथिवी, भूमि या रात्रि, दक्षिणायन, गौ तथा संवत्सर ब्रह्मपक्ष में चतुर्थ ऋतु, कृष्णपक्ष आदि दार्शनिक तत्त्वों का संकेत किया मिलता है । ये शब्द लौकिक पदार्थों का संकेत नहीं करते ।

वह पृथिवी तो अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिक आत्मा है । पृथिवी तत्त्व केवल इस स्थूल पृथिवी में ही नहीं वरन् सभी ग्रहों, उपग्रहों, नाना सौर मण्डलों, सूर्यों, अतिसूर्यों आदि में भी है । अतः उक्त शब्दों का लौकिक या स्थूल पृथिवी विषयक संकेत केवल कर्मकाण्ड में पात्ररूप या अभिनय रूप में लाचारी से या समझाने की दृष्टि से अवश्य किया जाता है । जिस रूपक से समझाया जाय वही रूपक यथार्थ को हड़प कर स्वयं यथार्थ की गद्दी पर नहीं बैठ सकता । लौकिक पृथिवी और अन्तरिक्ष नाटकीय पात्र हैं, इनसे दार्शनिक रहस्य का अभिनय कराने की अलौकिक अद्भुत कल्पना, साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की सर्वोच्च कोटि की दार्शनिकता की अभिव्यञ्जकता पूर्ण प्रतिभा की उड़ान भरी अनुपम कविता है । अस्तु, वेदों ने माता और योनि शब्दों के पर्याय स्वयं दे रखे हैं, खण्डन-मण्डन का काम ही नहीं है । ऋ० वे० १-१६४-३३ ठीक उक्त निर्ऋति विषयक ऋचा के तुरन्त पश्चात् और साथ में लिखता है कि माता नाम पृथिवी का है । जैसे—

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ।।"

कि द्यौ मेरा जनक पिता है, नाभि (त्रिपादमृत यज्ञ) मेरा बन्धु है, इस शरीर रूप अखिल सृष्टि की भौतिक ब्रह्माण्डात्मा जिसे पृथिवी या मही कहते हैं, मेरी माता है, इन दोनों द्यावा और पृथिवी के दो मिले उत्तान या एक दूसरे के अभिमुख चमू या पटलों के मध्यवर्ती तत्त्व (२५ वें) का नाम योनि है जिसमें पिता द्यावा

ने पृथिवी को दुहिता रूप गर्भ वाग् तत्त्व के रूप में धारण कराया।' इसका समर्थन निम्न कई अन्य ऋचायें भी स्पष्ट रीति से करती हैं। जैसे—

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥"
(ऋ० वे० १-१९१-६) और

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"
(ऋ० वे० ६-५१-५) और लीजिए

"द्यौश्च नः पृथिवी च प्रचेतस ऋतावरी रक्षतामंहसो रिषः।
मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥"
(ऋ० वे० १०-३६-२)

यहां पर पृथिवी से साथ निर्ऋति का विभेद बतलाया है, अथर्व और यजु के उद्धत मन्त्रों में निर्ऋति को भूमि नाम से इसीलिये पुकारा है। पृथिवी दो प्रकार की है। दैवी और आसुरी, दैवी पृथिवी का नाम सोम; चन्द्र, अश्विन, सूर्य, सविता, विष्णु, इन्द्र आदि है तो आसुरी पृथिवी का नाम निर्ऋति, वृत्र, अहि, शंवर, रक्षांसि, दानव आदि है। इसीलिए इस अन्तिम मन्त्र में इस निर्ऋति को दुर्वि-दत्रा भयंकर दाढ़ वाली, भयंकर दान करने वाली कहा है। निर्ऋति के सम्बन्ध में जिस भौतिक पाप्मा रेतस् की चर्चा आई है, वह भी आसुरी रेतस् है और इस आसुरी रेतस् का प्रतिपक्षी सोम होता है। इसका समर्थन निम्न ऋचा (निर्ऋति वर्णन के साथ-साथ) दे रही है—

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥"
(ऋ० वे० १-१६४-३५)

वेदों में गौ, गौरी और धेनु का जो वर्णन आता है; वह भी इसी दैवी आत्मपृथिवी का प्रतिनिधित्व करता है। उनका वर्णन धेनु रूप में अन्यत्र किया जा चुका है। गौ नाम पृथिवी का भी है। यह वैदिक निघण्टु में

८—सन्दर्भीय पृथिवी और गौ

है। वेदों में गौ, गौरी और धेनु का जो वर्णन आता है; वह भी इसी दैवी आत्म पृथिवी का प्रतिनिधित्व करता है। इनका वर्णन धेनुरूप में अन्यत्र किया जा चुका है। गौ नाम पृथिवी का भी है। यह वैदिक निघण्टु से पुष्ट है, यह पृथिवी तत्त्व का सर्व प्रथम नाम है। अतः वेदों में इस गौ विषय की अनन्त चर्चा है। (श० प० ब्रा० ६-१-२ ३४) गौ शब्द की व्याख्या में लिखता है कि यह अखिल ब्रह्माण्ड (की भौतिकता) गौ है, जो इन नाना लोकों के रूप में परिणत होती है, और ये नाना लोक जिसकी शरण में जाते या रहते हैं वह गौ है। जैसे—

"अथो गौरिति ब्रूयात्। इमे वै लोका गौर्यद्धि किं च।
गच्छतीमाँस्तल्लोकान्, गच्छतीमउ लोका, एषो
ऽग्निश्चितस्तस्माद् गौरिति ब्रूयात्॥"

यहां पर गौ को अग्नि या आत्मा (भौतिकात्मा) नाम से स्पष्टतया पुकारा गया है। इसी गौ से मत्सर नाम वाले सोम की उत्पत्ति बतलाती हुई ऋचा कहती है :'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० वे० ९-४६-४)। आदित्यों का नाम भी गौ है 'उतादः परुषे गवि' (ऋ० वे० ६-५६-३)। इन्हीं आदित्यरूप तत्त्वों को विष्णु का परं पद या अन्तिम पद (चतुर्थपाद) या चतुर्थ सप्तक कहते हैं जिसे 'भूरिश्रृङ्गा गावः' कहते हैं—

"तावां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥"
(ऋ० वे० १-१५४-६)

इन गौत्रों को ऋ० वे० ९-१०८-८ में 'सहस्रधारं वृषभं' और ऋ० वे० ७-५५-७ तथा अथर्व ४-५-१ में 'सहस्रश्रृङ्गो वृषभो यः' कहा गया है। इसी को 'सहस्राक्षो विचर्षणिः' (ऋ० वे० १-७९-१२ और १०-१६१-३ अथर्व ३-११-३ तथा २०-९६-८) तथा पुरुष सूक्त में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' कहा है (ऋ० वे० १०-९०-१)। ऐसे गौ तत्त्व (पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिंग) की व्युत्पत्ति यास्क ने 'दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः ॥' दी है, वे कहते हैं कि यह पशु नाम भी है। उसी के अनुरूप या मन्त्ररूप मन्त्रार्थ हैं। वे यहां पर वैदिकों के रूपकों को भी नहीं मानते हैं, इस विषय में शेष मंत्रों का अर्थ सरस्वान् सरस्वती वाग्धेनु' शीर्षक में विस्तार पूर्वक दे दिया गया है, वही देखें।

अतः उक्त विश्लेषण के अनुसार निर्ऋति नामक तत्त्व भौतिकात्मा का शुद्ध आसुरी या भयंकर स्वरूप है। यह दैवी सम्पदा की हिंसिका या आच्छादन कारिणी है, पर आज का समस्त दृश्य ब्रह्माण्ड इसी निर्ऋति के खोल या शरीर रूप में विद्यमान है। यह दैवी वृत्ति की वैरिणी है पर है उसकी सहोदरिणी साक्षात् औरस बहन ही। पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके निज अनुयायियों ने या यास्क ने जब इस निर्ऋति शब्द का अर्थ प्रलय, दुःख या यह दृश्यमान पृथिवी लिखा या समझा है तो यह वैदिक वाङ्मय को न समझ सकने की और अपनी-अपनी हठधर्मितामय भावना को निःसंकोच उगलने की प्रवृत्ति की सूचना डंके के चोट से दे देती है। इसके समर्थन के लिए ऋ० वे० १०-१६४-१ और १०-१६५-१ में आये निर्ऋति शब्द का प्रयोग देखें। मंत्र इस प्रकार है—

९—निर्ऋति का निर्णय

"अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥"
"देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ॥"

इनमें यास्क ने (निरुक्त १-२-१७) प्रथम को निर्ऋत्या शब्द को चतुर्थ्यन्तप्रेक्षैकारान्त और द्वितीय को 'पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा आः कारान्तम्' कहते हुए, इनमें पद विभाग का अभाव बतलाया है। यहाँ सन्धि अवश्य है, पर सन्धि के माने पद विभाग का न होना कहना बड़े आश्चर्य की बात है। यह समस्तपद

होता तब पदविच्छेद से भी पद विभाग मानना ही पड़ता है। अस्तु, यहां पर प्रथम निर्ऋत्याः शब्द पञ्चम्यर्थ हीं है। निर्ऋति से पर होकर, पृथक् होकर कहो, अर्थात् जो कुछ कहो, वह दैवी-देवरूपिणी वृत्ति के अनुकूल कहो, निर्ऋति रूप आसुरी वृत्ति से परे होकर कहो, यह स्पष्ट है। दूसरे उल्लेख में निर्ऋति शब्द चतुर्थ्यन्त है। यहां कपोत, सुपर्ण रूप इन्द्र है, वह भौतिक सृष्टि या निर्ऋति है। यह सूचना देने के लिए आया हुआ दूत सा है। अर्थात् सुपर्णरूप कपोत नामक इन्द्र के प्रस्तुत हो जाने पर निर्ऋति या भौतिक सृष्टि का प्रथमोदय हो जाता है। अतः वह कपोत निर्ऋति के लिए आया हुआ दूत सा कहा गया है।

१०—निर्ऋति के सम्बन्ध में कई अन्य बिखरे मन्त्र

निर्ऋति के बारे में निम्न मन्त्र भी ऋग्वेद १०-५९-सूक्त में मिलते हैं। "प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः स्थातारेव क्रतुमता रथस्य। अध च्यवान उत्तावीत्यर्थं परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥१॥ सामन्नु राये निधिमन्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि। ता नो विश्वानि जरिता म मत्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥२॥ अभी ष्वर्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान्। ता नो विश्वानि ००० ॥३॥ मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥४॥" इन सब में निर्ऋति को परा या उत्तरार्द्ध का ही तत्त्व माना है।

निर्ऋति के उक्त स्थान के निर्णय की पुष्टि निम्न ऋचा भी स्पष्टतया कर देती है। "तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतिरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः। तासां नि चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥" (ऋ. वे. १०-११४-२) यहां पर निर्ऋति को तिस्रो देष्ट्राय या त्रिपादमृत प्राप्ति के लिए दीर्घ काल तक उपासना करने वाली बतलाया है। इस बात को अग्निरूप आत्मायें जानती हैं। कवियों या दार्शनिक ऋषियों ने दर्शन के तत्त्वों को दो मुख्य भागों में विभक्त किया है। गुह्य या गुहास्थ और पर या उत्तरार्द्ध। निर्ऋति को परा या उत्तरार्द्ध का ही तत्त्व माना है। श. प. ब्रा. (५-३-१-१३) ने लिखा है कि जो अपुत्रा पत्नी हो वही वन्ध्यास्त्री निर्ऋति है जैसे "या वाऽअपुत्रा पत्नी सा निर्ऋतिगृहीता"। इस निर्ऋति के पाश बतलाये गये हैं "नैर्ऋतो वै पाशः" (श. प. ७-२-१-१५)

———

अध्याय ३१

वृषभः

वृष, वृषा, वृषन्, वृषणः और वृष्णः वृष्णिः, वर्षा, वृष्णो अश्वस्य धाराः (५-८३)

वृषभ नामक तत्त्व वैदिक दर्शन में बहुत अधिक मात्रा में कई ढंग से वर्णित किया गया है। इसका संबन्ध वृष, वृषा, वृषण इत्यादि से है। अतः पहिले इन शब्दों या तत्त्वों के बारे में दी गई वैदिकों की व्याख्याओं को दिया जाता है। वेदों में वैसे इन्द्र के सैकड़ों उपयुक्त विशेषण हैं। जैसे मनस्वान्, धीः, श्रद्, इध्म, इदिन्द्र, अग्नि आदि पर उक्त वृष, वृषा, वृषन् आदि तो आर्यों को इतने मधुर लगे हैं कि कई सूक्तों में इनकी बौछार सी लगा डाली है। जैसे

"पिबेन्द्र सोमं वृषभेण भानुना।
वृष्णः कोशः पवते मध्व ऊर्मिर्वृषभान्नाय वृषभाय पातवे।
वृषणाध्वर्यू वृषभासो अद्रयो वृषणं सोमं वृषभाय सुष्वति।
वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिष इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि ॥"

(ऋ० वे० २-१६-४ से ६ तक)।

यहां पहिले वृषभ माने किरण है, वृष्ण माने कोष, पुनः वृषभ माने अन्न (भौतिक तत्त्व); वृषभ=इन्द्र, वृषणाध्वर्यू=पर्वत (तैजस), वृषण=सोम; वृषभ=इन्द्र; वृषा=वज्र, वृषा=रथ; वृषणौ=हरी, वृषभाणि=आयुधानि, वृष्ण=मद, वृषभ (सम्बोधन इन्द्र का), वृषभ=सोम। ऋ० वे० ३-२९ वृषण को इलापुत्र और जातवेदाग्नि नाम से पुकारा गया है। ऋ० वे० ३-५५ में कहा गया है कि वृषभ को नित्य नई-नई युवतियाँ उत्पन्न होती हैं, और वह दूसरों युवतियों में रव करता है और दूसरी युवतियों में रेतस् का सिञ्चन करता है।

नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्।
यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः ॥"

ऋ० वे० ५-३० में भी

"अमन्दन्नरोरवीद्वृषभः सादनेषु"

इस वाक्य में वृषभ इन्द्र के लिए आया है। ऋ.वे. ५-३६ में पुनः कहा है कि वृषा इन्द्र है, वृषण की वृद्धि करे, और द्यौ भी वृषा है। वृषा नामक दो अश्वों (प्राणों) से उसे ले जाते हो। इसलिए हमारा वृषा इन्द्र वृषारथ वाला है, जिसे वृषा ने ही बनाया है। वही वृषा वज्री है जिसको वृषा कहा है। उसी को वाजी, वाजिनीवान् भी कहा है।

"वृषा त्वा वृषणं वर्धतु द्यौर्वृषा वृषभ्यां वहसे हरिभ्याम्।

स नो वृषा वृषरथः सुशिप्र वृषक्रतो वृषा वज्रिन्भरे धाः ।
यो रोहितौ वाजिनौ वाजिनीवान्त्रिभिः शतैः सचमानावदिष्ट ॥'

यहां पर इन्द्र को आर्तों से बढ़ने वाला बतलाया है ।

"स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम्"

ऋ. वे. १-८२-४ में तथा

उक्त मंत्र में और अन्यत्र भी 'वृषण' नाम रथ या भौतिक तत्त्व का है जैसा कि ऋ. वे. १-१७७-२ से स्वयं स्पष्ट है । जैसे—

"ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः ।
ताँ आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे ॥"
आ तिष्ठ रथं वृषणं वृषा ते सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि ।
युक्त्वा वृषभ्यां वृषभ क्षितीनां हरिभ्यां याहि प्रवतोप मद्रिक् ॥"

नपुंसक लिङ्ग का 'वृषण' शब्द रथ का वाची है, द्विचन का पुलिङ्ग शब्द वृषणौ या वृषण हरी या अश्व का संकेतक है, वृषन् शब्द इन्द्र वाची है, वृषा नाम सोम या अन्न का है, इसीलिए सोम तत्त्व ग्रावा संकेतक होने से ५-४०-२-५ में पुनः वृषा को ग्रावा (पत्थर या अश्म) मद, सोम कहा है और इन्द्र को वृषिन्, तथा वृषों से वृत्र का हनन करने वाला बतलाया है ।

"वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः ।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम ॥" इसी को तुराषाड् वृषभ कहा है ।
"ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् ।"

ऋ. वे. ६-२६ में वृषभ को 'दशयुम्' दस दिन वाला या दस तत्त्व वाला कहा है । ऋ. वे. १-१५४-३ और ६ में वृषण माने विष्णु कहा गया है । विष्णु २६ वां तत्त्व सोम है । इसीलिए ऋ. वे. १-१००-१ में वृषा को दिव तृतीय सप्तक का महः तथा पृथिवी द्वितीय सप्तक का सम्राट् बतलाया है, वह वृष सखियों का सखा है, अपने पुत्र रुद्रों (तृतीय सप्तक के ४ रुद्रों) के साथ रहता है । इसी सूक्त के १७ वें मन्त्र में कहा है कि हे इन्द्र, वृष्ण तो उक्थ या उद्गम है और 'वार्षा' गिरा या शब्द ब्रह्म का नाम है जिसकी हम आराधना कर रहे हैं । इन्द्र को पुनः १६ वें मन्त्र में इसीलिए वृषण्वन्त और रथ की धुरी धारण करने वाला कहा है । यह वृषा वृष्णियों का देव है ।

"स यो वृषा वृष्ण्येभिः समोका महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट् ॥'



अध्याय ३२

वृषभः

वृषभ नामक तत्त्व देवता नहीं, वरन् विश्वेदेवता है। विश्वेदेवता रूपों में प्रायः सभी बड़े देवता-तत्त्वों का विकास होता है। अतः प्रत्येक महान् देवता का वर्णन जब चतुर्थ सप्तकीय भौतिकात्मा धारण करने पर किया जाता है तब उसे वृषभ नाम से पुकारा जाता है। यह वृषभ—चाहे किसी भी देवता के विश्वेदेवता स्वरूप में वर्णित होता या किया जाता रहे, पर यह नित्य रूप से भौतिक शब्दब्रह्म का प्रतिनिधि ही रहता है। इसीलिए 'इस वृषभ के लिए सर्वत्र 'वृषभो रोरवीति' का वर्णन दिया हुआ मिलता है। देवता तत्त्व तो तूष्णीम्, उपांशु और अंशु रूप ध्वनि के बतलाये गये हैं। जो क्रम से प्रथम, द्वितीय और तृतीय सप्तकीय देवताओं की वाग्ब्रह्मता का विवेचन देते हैं। इनमें मानसिक वाणी है, पूर्वा या पूर्वार्द्धीय वाणी है। वृषभ की वाणी परा वाणी है, भौतिकी, दिव्य शरीरिणी, सोमीय वाणी है जिसका उल्लेख श.प.ब्रा. (१-४-१-११, १२, १३) ने "अथातो मनसश्चैव वाचश्च" की कथा से वाणी के गर्भपात की कथा का वर्णन किया है। यह परा या उत्तरार्द्धीय वाणी है। इसी उत्तरार्द्ध की परा वाणी से आगे के पञ्चम, षष्ठ, सप्तम सप्तकों की वाणियों के नाम क्रम से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी होते हैं और 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' में ये पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी किसी भी दशा में नहीं आ सकती। ये 'चत्वारि पदानि' के तीन तो तूष्णीं उपांशु, अंशु और परा ही होती हैं। इनकी गिनती में ३३ देवता आते हैं। प्रथम चार सप्तक आते हैं, इसमें भी चतुर्थ सप्तक उत्तरार्द्ध में आता है। ये पाद या सप्तक गायत्री के पाद हैं। २४ तक गायत्री (तीन पाद) है और २५ से ३२ तक चतुर्थ पाद पर वाणी है। इस सरणि के वाग्वृषभ के वर्णन की प्रसिद्ध ऋचा यह है जिसका अर्थ या भाष्य—यास्क, सायण और पतञ्जलि ने एक दम गलत समझा और लिखा भी है :—

१—'वृषभ' विश्वेदेवता का स्थान

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥"
(ऋ. वे. ४-५८-३)।

यह वृषभ तो महोदेव या महादेव रुद्र नामक विश्वेदेवता है। जिसका वर्णन अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड के द्वितीय सूक्त में बतलाया गया है और जिसकी सर्वोत्तम व्याख्या श. प. ब्रा. (६-१-३-१० से १८ तक) ने विस्तार पूर्वक देते हुए लिखा है कि जब रुद्र विश्वेदेवता के रूप में चन्द्र या सोम का आवरण धारण करता है तब उसे महादेव नाम से पुकारा जाता है। इसीलिए रुद्र के शिर में चन्द्र (द्वितीया

का चन्द्र) रखा या माना है और इसको वृषभ कहते हैं। अतः नान्दी को या नदिया को रुद्र का वाहन माना जाता है। नान्दी या वृषभ जब वाहन समझा जाता है, तब वह सोम या चन्द्र या भौतिकात्मा रथ या शरीर का प्रतीक माना जाता है। पूर्वार्द्ध का नाम 'त्रिर्नान्द्यं' या तीन नान्दी है "त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना" (ऋ. वे. १-३४-४)। नान्दी भौतिक सृष्टि रूप चतुर्थ सप्तक होने से रुद्र मन्दिर के बाहर रखा जाता है। उक्त ऋचा का अब स्पष्ट अर्थ यह होता है। प्रथम चार सप्तकों के मुख्य ब्रह्म चार शृङ्ग हैं, उनमें से प्रथम तीन सप्तकों के २४ तत्त्व उसके तीन बाहु हैं; ब्रह्म और सोम दो उसके सिर हैं, त्रिधाबद्धता मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्ता और देवासुरमानुषी प्रवृत्ति त्रिवृत्ता है। ऐसे महादेव ने मर्त्य रूप या भौतिकात्मा के स्वरूप को धारण कर लिया।'

वृषभ नाम से केवल रुद्र का ही वर्णन नहीं मिलता वरन् निम्नलिखित सभी देवताओं के विश्वदेवता स्वरूप को भी वृषभ नाम से वर्णित किया गया है। वे हैं (१) ब्रह्मणस्पति, (२) बृहस्पति (३) इन्द्र (४) अग्नि (५) वैश्वानर (६) मरुत् (७) पर्जन्यः (८) मित्रावरुणौ (९) विश्वेदेवता जैसे—ब्रह्मणस्पति को लीजिए—यह 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इत्यादि ऋ० वे० २-२३ सूक्त है

२—किसको वृषभ रूप में वर्णित किया गया है ?

"अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः॥"

(२-२३-११) यहां पर भी इस वृषभ को नदनशील (अनानुदः) कहा है।

२—बृहस्पति (१) अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः (१-१९०-१)

(२) "वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम्॥" (३-६२-६)

(३) "यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राधर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति॥" (६-७३-१)

इन मन्त्रों में, प्रथम में बृहस्पति रूप वृषभ को मन्द्रजिह्व कहा है, द्वितीय में उसे चर्षणीनां (आदित्यानां गवां) वृषभ और विश्वरूप या भौतिकात्मा की अनन्तता धारण करने वाला बताया है, तृतीय में इसे 'वृषभो रोरवीति' अद्रिभेत्ता (अश्म सोम का आविर्भूत कर्त्ता) तथा आङ्गिरस या प्रथम चार सप्तकों की चार आत्मा रूप अंगों को रस रूप (सोम) वृषभ कहा है।

ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति में अन्तर—

ब्रह्मणस्पति नाम गणपति का है, वह आदि तत्त्व है जिसका विकास ५० ब्रह्मों में सात सप्तकों के सप्त पुरुषों या महर्षियों या मुख्य ब्रह्मों के गणों में क्रमशः होता है। यह अखिल ब्रह्माण्ड का आदि भूत तत्त्व है। इस प्रकार ब्रह्मणस्पति उन देवताओं का भी सामूहिक एक नाम है जिन्हें गणेशः वर्णित किया जाता है जैसे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् सप्तक-अष्टक षटक्, जागृती छान्दस् विभेदादि ये सब ब्रह्मों के जनक हैं 'विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि' बृहस्पति ब्रह्म वाग्

का ब्रह्म है। प्रथम से चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का प्रतीक है। ब्रह्मणस्पति भी विश्वेदेवता बनता है, जब यह विश्वेदेवता बनता है, तब इसे बृहस्पति भी कहते हैं। इसके विकास के यज्ञ को बार्हस्पत्य या वाजपेय यज्ञ कहते हैं। आङ्गिरस ऋषि केवल चतुर्थ सप्तक के हैं।

(३) **इन्द्रः**—इन्द्र के हजारों सूक्त हैं, उनकी वर्णना हजारों ढंग से की गई है। वृषभ रूप वर्णन के कुछ मंत्र यहाँ दे दिये जाते हैं:—

(१) यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्। यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः।। ऋ० वे० २-१२-१२,

(२) "वृष्णः कोशः" आदि २-१६-५, ६, को पहिले उद्धृत किया जा चुका है, वहीं पढ़ लें।

(३) **मरुत्वन्तं वृषभं** वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम।। (ऋ० वे० ३-४७-५) **"वृषभं दशद्युम्"** (६-२६-४)

(४) अयं विदच्चित्रदृशीकमर्णः शुक्रसद्मनामुषसामनीके। अयं महान्महता स्कम्भनेनोद् द्यामस्तभ्नाद् **"वृषभो मरुत्वान्"** (ऋ० वे० ६-४७-५)

(५) सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुमावदन्धसः सुतस्य।।" (३-४८-१) वृषभ पातवा उ" (३-४६-५) "अयं कनीनः" (१०-९९-१०)

(४) **अग्निः**—(१) व्रता ते अग्ने महतो महानि तव क्रत्वा रोदसी आ ततन्थ। त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता **"वृषभ चर्षणीनाम्"**।। (ऋ० वे० ३-६-५)

(२) त्वं नृचक्षा **वृषभानु पूर्वीः**···(ऋ० वे० ३-१५-३)

(३) अषाह्ळो अग्ने **वृषभो दिदीहि** पुरो विश्वाः सौभगाः····(ऋ० वे० ३-१५-४

(४) प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति। दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे महिषो ववर्ध।। मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मानस्रेमा वत्सः शिमीवाँ अरावीत्।। १०-८-१,२

(५) **वैश्वानर देवताः**—साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता **वृषभस्तुविष्मान्**। पदं न गोरपगूह्ळं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम्।। (ऋ० वे० ४-५-३)

(६) **विश्वे देवाः**—**भगः**—(१) यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः। स हि क्षपावन्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम्।। (ऋ० वे० ३-५५-१७)

(२) त्रिपाजस्यो **वृषभो विश्वरूप** उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्। त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा **वृषभः शश्वतीनाम्**।।

(३) बृहस्पति–आ धर्णसिबृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः। ग्ना वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृङ्गो वृषभो वयोधाः।। (ऋ० वे० ५-४३-१३)

(७) मरुतः—"यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः ।
क्षोदन्त आपो रिणते वनान्यवोस्रियो वृषभःक्रन्दतु द्यौः ॥
(ऋ० वे० ५-५८-६)

(८) पर्जन्य—"अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास ।
कनिक्रदद्वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्"" ॥
(ऋ० वे० ५-८३-१)

(९) नदी सिन्धु—अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ।
(ऋ० वे० १०-७५-३)

(१०) मित्रावरुणौ—"इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे ।
त्रयस्तस्थुर्वृषभासस्तिसृणां धिषणानां रेतोधा वि द्युमन्तः ॥"
(ऋ वे० ५-६९-२)

(११) वास्तोष्पति—"सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि" ॥ (ऋ० वे० ७-५५-७)

(१२) मुद्गल इन्द्रः—"न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजेः ।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥ (१०-१०२-५)
इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् ।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥
(ऋ० वे० १०-१०२-९) ॥"

मुद्गल नाम के ऋषि भृम्यश्व के पुत्र थे। उन्होंने युद्ध में वृषभ और द्रुघण का प्रयोग करके विजय पाई। विपक्षी राजा का नाम सूर्भव था। इन सब

२—मुद्गल इन्द्र का इतिहास

नामों में अप्रस्तुत रहस्योद्घाटन के योग्य प्रत्येक में व्युत्पत्यन्तर हैं। मुद्गल माने 'मदनं कामं गिलतीति', 'मुदं गिलतीति वा' है जो काम रूप सूर्य के भौतिकांश को निगीर्ण कर चुका है। भृम्यश्व का पुत्र भार्म्यश्व, 'भृमयोऽस्याश्वाः' भौतिकाणु के भ्रममय गति ही जिसके अश्व हैं। द्रुघण माने 'द्रुममय घण है' जो सृष्टि वृत्त का घना रूप है, भौतिक स्वरूप है। सूर्भव माने सूर्यभव है। सूर्यभव भौतिक तत्त्व ही है जिस पर विजय पाई गई। द्रुघण रूप भौतिक तत्त्वावरण को वृत्र की तरह 'काष्ठायां मध्ये शयानम्' इसीलिए लिखा है, तुलना कीजिए 'अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। वृत्रस्य निण्यं......(ऋ.वे. १-३२-१०)

(१२) सोम को 'वृषा' नाम से कहने वाली ऋचाओं को प्रथम 'वृषवृषा' आदि के परिच्छेद में उद्धृत कर दिया गया है, वहीं देख लें।

संख्या ३ के इन्द्र को कनीन वृषभ या कन्या राशि का वृषभ कहा है, जिस का समर्थन १०-९९-१० करता है।

उक्त सब उद्धरणों से यह तो निश्चित हो जाता है कि वृषभ तत्त्व कोई

स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। यह 'वृषभ' रूप वर्णन वैदिक दर्शन के तत्त्वों के विकास की एक विशेष स्थिति, परिस्थिति और निश्चित स्थान के रूप में है जिसमें होकर प्रायः सभी तत्त्वों को गुजरना पड़ता है। अतः इन सभी का वर्णन 'वृषभ' नाम या रूप में किया गया है। 'वृषभ' शब्द का नामकरण अवश्यमेव 'गौर्विद्या' से सम्बन्ध रखता है। समस्त सृष्टि 'गौ' है। यहां पर असद् को (पूर्वार्द्ध को) माता और पिता दोनों नाम से पुकारा है। पिता वृषभ है अर्थात् इस गौ रूप सृष्टि के खेत या क्षेत्र या पृथिवी में बीज धारण कराने वाले तत्त्व को 'वृषभ' नाम से पुकारा गया है। वाग्ब्रह्माणी का नाम गौ है तो वाग्ब्रह्म का नाम वृषभ है। यह वृषभ या यह गौ दो पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं वरन् स्त्रीपुमानपरिष्वक्त सोमात्मा एकात्मा है। पुरुष रूप वृषभ है, स्त्री रूप गौ। यह अर्द्धनारीश्वर रूप ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, रुद्र (महादेव), इन्द्र (हारियोजन), अग्नि (वैश्वानर या जातवेदस्), पर्जन्य, मरुत्, मित्रावरुण या सबके विश्वेदेवता रूप हैं। त्रिपादमृत पुरुष रूप है, भौतिकात्मा स्त्री रूप। यह वृषभ चतुष्पाद् ब्रह्म है।

४—नामकरण कारण, वृषभ, और गौ पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं

वृषभ नाम पड़ने का दूसरा कारण भी है। सृष्टि का आरम्भ वृष राशि या कृत्तिका नक्षत्र से होता है। अतः सृष्टि का नाम ही वृष या वृषा या वृषभ है। जब यह २५ वें तत्त्व में सिंह राशि में या भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत होता है तब यह सिंह की तरह गरजने लगता है। अतः 'वृषभो रोरवीति' लिखा गया है। अन्य लोग इस सिंह राशि में उत्पन्न भौतिक तत्त्व को सिंह वाहन (जैसे वाग्ब्रह्माणी रूप दुर्गा का वाहन) कहते हैं तो कई इसे प्राण रूप में अश्व कहते हैं। अन्य सोम, चन्द्र इत्यादि। अश्व का वर्णन भी वाहन रूप में आता है। 'वृषण' या वृषा को भी रथ नाम से ही पुकारा गया है (पहिले परिच्छेद को देखें)।

५—दूसरा कारण

एक और कारण है। संवत्सर ब्रह्मवाद की ऋतुविद्या में इस वृषभ का स्थान वर्षा ऋतु में पड़ता है। सारी सृष्टि आदि से अन्त तक वर्षण रूप में या विकास रूप में चलती है। ऋतुशः वर्णन में भौतिक सृष्टि की प्रथम वर्षा, वर्षा ऋतु या चतुर्थ सप्तक में ही प्रारंभ होती है। अतः इस वृष या वृषभ को वर्षण रूप में पर्जन्य नाम से पुकारा गया है। यह वर्षण भौतिक तत्त्व है, भौतिक तत्त्व का पूर्ण विकास या वर्षण ही वृषभ है। यह वर्षण जल का नहीं वरन् अग्निरूप, वैश्वानर रूप, जातवेदसरूप, विद्युत्रूप, भौतिकात्मा सोम रूप, भौतिक पर्वत अश्मरूप, भौतिक दिव्य शरीर रथरूप (वृषणरूप या वृषा रूप) या प्राण रूप मरुतों या तैजसात्मा शक्ति, बुद्धि रूप इन्द्र का है। ऋतु रूप के कारण इसका नाम ऋषभ भी है क्योंकि यह ऋषि रूप प्राणों से उत्पन्न होता है।

६—अन्य कारण